जैन विश्वभारती संस्थान

¼eku; fo'ofo|ky;½

ykMu¡ & 341 306 ¼jkt LFkku½

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातकोत्तर (एम.ए.) उत्तरार्द्ध

विषय–अहिंसा एवं शांति

अष्टम पत्र

सापेक्ष अर्थशास्त्र

Relative Economics

विशेषज्ञ समिति

1. प्रो. राधाकृष्णन
चेन्नई

2. प्रो. जयप्रकाशम
मदुरई

3. प्रो. जे.एन. शर्मा
चण्डीगढ़

4. प्रो. बच्छराज दूगड़
विभागाध्यक्ष, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज)

5. डॉ. वी. अरुण कुमार
कोटा

6. डॉ. अनिलधर
सह–आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज)

7. डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सह–आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

7. डॉ. अनिलदत्त मिश्रा
सहायक निदेशक, गांधी संग्रहालय
दिल्ली

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

लेखक :
डॉ. वन्दना कुण्डलिया

संस्करण : 2015

मुद्रित प्रतियाँ : 100

अनुक्रमणिका

सापेक्ष अर्थशास्त्र

इकाई – 1 : अहिंसा का अर्थशास्त्र : एक परिचय **01–61**

1. अहिंसा का अर्थशास्त्र
2. अहिंसक अर्थव्यवस्था में उपयोग (उपभोग)
3. अहिंसक अर्थव्यवस्था में उत्पादन
4. अहिंसक अर्थव्यवस्था में वितरण

इकाई–2 : अपरिग्रह **62–84**

1. अपरिग्रह की अवधारणा
2. अपरिग्रह के आयाम
3. बौद्ध दर्शन में अपरिग्रह
4. वैदिक दर्शन में अपरिग्रह
5. जैन परम्परा में अपरिग्रह
6. वर्तमान में अपरिग्रह सिद्धान्त की उपादेयता
7. अपरिग्रह का अर्थशास्त्र
8. अपरिग्रह और विकास

इकाई–3 : इच्छा परिणाम और इच्छाविहीनता **85–106**

1. इच्छा परिणाम
2. इच्छा के दृष्टिकोण
3. इच्छा परिमाण की सीमा–रेखा
4. आवश्यकता–वृद्धि
5. इच्छा–परिमाण तथा उपभोग
6. इच्छा परिमाण के निष्कर्ष
7. इच्छाओं का सिद्धान्त
8. इच्छाविहीनता का सिद्धान्त

इकाई–4 : सापेक्ष अर्थशास्त्र **107–120**

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा
2. आधुनिक अर्थव्यवस्था की समस्याएं
3. सापेक्ष अर्थशास्त्र– एक सषक्त विकल्प
4. सुखवाद की अवधारणा
5. श्रम, अर्थ और संयम
6. उपभोग का सीमाकरण
7. स्वामित्व का सीमाकरण
8. साधन–शुद्धि के सूत्र
9. सापेक्ष अर्थशास्त्र की आवश्यकता

इकाई–5 : गांधीवादी अर्थशास्त्र **121–177**

1. गांधी के आर्थिक चिंतन की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि
2. इच्छाविहीनता का सिद्धान्त
3. साधन साध्य का सिद्धान्त
4. ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त
5. श्रम मीमांसा
6. ग्रामोद्योग एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था
7. ई.एफ. शुमाकर (1911 से 1977) का आर्थिक चिन्तन
8. जे.सी कुमारप्पा (1892–1960) का आर्थिक चिन्तन
9. भूदान
10. ग्रामदान

bdkbZ&1

vfgalk dk vFkZ'kkL= % ,d ifjp;

mís';

1. अहिंसा के अर्थशास्त्र का परिचायक अध्ययन करना।
2. उपयोग, उत्पत्ति व वितरण के सम्बन्ध में अहिंसक अर्थव्यवस्था को जानना।

lajpuk

1. अहिंसा का अर्थशास्त्र
    - 1.1 अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का समन्वय
    - 1.2 केन्द्र में मनुष्य, अर्थ नहीं
    - 1.3 उपभोग का सीमाकरण
    - 1.4 उत्पादन में हिंसा की न्यूनता
    - 1.5 साधनों की शुद्धता
    - 1.6 अपरिग्रही दृष्टिकोण
    - 1.7 समवितरण
    - 1.8 ग्रामीण अर्थव्यवस्था को संपोषण
    - 1.9 पर्यावरण सापेक्ष विकास
2. अहिंसक अर्थव्यवस्था में उपयोग (उपभोग)
    - 2.1 उपयोग का महत्त्व
    - 2.2 उपयोग का लक्ष्य, सुख की प्राप्ति
        - 2.2.1 हितकारी और स्थायी सुख
        - 2.2.2 सुख का क्षेत्र
    - 2.3 उपयोग और आवश्यकताएं
        - 2.3.1 आवश्यकताओं का नियंत्रण
        - 2.3.2 मनोनिग्रह या इन्द्रिय–दमन
        - 2.3.3 आवश्यकताएँ मनुष्य के की प्रतिष्ठा मापक नहीं
    - 2.4 उपयोग सदुपयोग और दुरुपयोग

2.5 उपभोक्ताओं का कर्त्तव्य

2.6 सादा जीवन उच्च विचार

2.7 रहन–सहन का स्तर और जीवन–स्तर

2.7.1 रहन सहन का दर्जा ऊँचा करने की अनिष्टकारी सनक

2.7.2 रहन सहन का दर्जा 'ऊँचा' होने के कारण

2.7.3 जीवन–स्तर पर प्रभाव डालने वाली बातें

2.7.3.1 स्वास्थ्य

2.7.3.2 इंद्रिय–निग्रह और संयम

2.7.3.3 शिक्षा

2.7.3.4 लोकसेवा की भावना

2.7.4 जीने की कला सीखने की जरूरत

3. अहिंसक अर्थव्यवस्था में उत्पादन

3.1 उत्पत्ति में प्रधानता

3.2 उत्पत्ति के उद्देश्य के अनुसार उत्पादन–विधि

3.3 उत्पादन–विधि का मनुष्य पर प्रभाव

3.4 उत्पत्ति के साधन

3.4.1 पूँजी

3.4.1.1.पूंजी का उपयोग लोकहित की दृष्टि से

3.4.1.2 राष्ट्रीय पूँजी

3.4.1.3 शोषणहीन समाज का निर्माण

3.4.1.4 पूँजी बनाम श्रम

3.4.2 प्रबन्ध और साहस

3.4.3 भूमि

3.4.3.1 भूमि का अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

3.4.3.2 भूमि–वितरण के तरीके

3.4.4 श्रम और बौद्धिक कार्य

3.4.4.1 श्रम

3.4.4.2 शरीर–श्रम और श्रमियों की प्रतिष्ठा

3.4.4.3 कार्य–विभागः वर्ण व्यवस्था

3.4.4.4 श्रम–विभाग

4. अहिंसक अर्थव्यवस्था में वितरण

4.1 लगान

4.1.1 भूमि सामाजिक सम्पत्ति

4.1.2 निज मालकियत और लगान

4.1.3. जमीन की खरीद

4.2 मजदूरी

4.2.1 नकद और असली मजदूरी

4.2.2 मजदूरी की विषमता

4.2.3 न्यूनतम वेतन या निर्वाह–वेतन

4.2.4 समान मजदूरी के प्रयत्न

4.2.5 दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता

4.2.6 बुद्धिजीवी क्रांति

4.3 ब्याज

4.3.1 ब्याज का विश्लेषण

4.3.2 ब्याज का विरोध

4.3.3 बैंकों से ब्याज

4.4 लाभ

4.4.1 लाभ की सीमा

4.4.2 लाभ का अधिकार व्यक्तियों को होने से हानि

4.4.3 लाभ का अधिकार समाज को

4.5 आर्थिक समानता

4.5.1 आर्थिक असमानता के कारण

4.5.2 आर्थिक समानता के सुत्रः अपरिग्रह और विसर्जन

4.5.3 ट्रस्टीशिप

4.5.4 आर्थिक समानता की स्थापना

5. अभ्यास प्रश्न

अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ ने प्राणी जगत में मनुष्य को 'आर्थिक–प्राणी' की संज्ञा दी जो येन–केन–प्रकारेण अर्थ प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। आज का अर्थशास्त्र इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहता है– इच्छा को बढ़ाओं। भौतिकवादियों का कहना है–Do not curtail your wants, but try to attain them. अर्थात् आवश्यकताओं को घटाओ मत, उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न करो। इच्छा, आवश्यकता बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा जिससे उद्योगवाद को बढ़ावा मिलेगा। मनुष्य ने विज्ञान का विस्तार किया, कल–कारखाने बढ़े किन्तु उनका उपयोग समग्र के लिए नहीं हुआ। मनुष्य ने विज्ञान को स्वार्थ पूर्ति का साधन बनाकर बड़े–बड़े उद्योग धंधे विकसित किए। उद्योग धंधों में वे उद्योग अधिक फल–फूल रहे है जो विदेशी हैं, उपभोग को बढ़ावा दे रहे हैं, शस्त्रास्त्रों का उत्पादन आदि कर रहे हैं। परिणामस्वरूप धन कुछ व्यक्तियों और देशों के हाथों में केन्द्रित होता जा रहा हैं। विकसित और विकासशील देशों में अन्तर बढ़ता जा रहा है तथा अमीर–गरीब की खाई भी दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है जिससे हिंसा, शोषण, अपराध आदि को पनपने का अवसर मिल रहा है। एक ऐसा अर्थशास्त्र पैदा हो गया है जो पूंजी के केन्द्रीकरण की दलाली करने लगा है। यह 'स्वार्थवाद' का चर्मोत्कर्ष है। यदि 'परस्परार्थ' इसके केन्द्र में होता तो कुछ जगह अर्थ के अंबार नहीं लगते और कुछ जगह लोगों को खाने के लिए या प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तरसना नहीं पड़ता। अर्थशास्त्र के फलितार्थ में यदि प्रति व्यक्ति आय समान होती तो समस्या का समाधान होता। साम्यवाद ने ऐसा ही प्रयोग किया, किंतु वैसा नहीं हो सका। जो लोग शीर्षस्थ धनी है, वेशांतिपूर्ण जीवन जी रहे हों। ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके कारण बहुत से लोग गरीब है, यह तो स्पष्ट ही है।ऐसी विषम परिस्थिति में अर्थशास्त्र को एक नीति और अर्थ नीति की आवश्यकता है। अब तक की अर्थनीतियों में मानव के भौतिक कल्याण को ही प्रमुखता दी गयी। उनमें नैतिकता का अभाव रहा है। अतः विकास की वर्तमान आत्मघाती अवधारणा पर आधारित अर्थतंत्र से जनित समस्याओं का समाधान मानवीय मूल्यों पर आधारित अर्थशास्त्र से ही हो सकता है। अहिंसा का अर्थशास्त्र, नैतिकता, मानवीय मूल्यों, संयम पर आधारित एक ऐसा ही विकल्प है जिसे वैकल्पिक अर्थशास्त्र, शांति का अर्थशास्त्र, मूल्यपरक अर्थशास्त्र आदि नामों से पुकारा जा सकता है।

1- vfgalk dk vFk'kkL=

अर्थव्यवस्था मानव जीवन का आधार है। ऐसा कोई भी समाज नहीं है जिसमें अर्थव्यवस्था के महत्व को स्वीकार न किया गया हो। किसी भी राष्ट्र अथवा समाज की अर्थव्यवस्था वहाँ के निवासियों के जीविकोपार्जन के साधनों की ओर इंगित करती है। इसी के द्वारा राष्ट्र के उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण की क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थव्यवस्था का उद्देश्य लोगों की भौतिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करना, उत्पादन को संगठित करना, वितरण को नियंत्रित करना तथा समुदायों के स्वामित्व अधिकार और मांगों को निर्धारित करना है। विभिन्न राष्ट्रों की परिस्थितियों एवम् आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं यथा पूंजीवादी, सामन्तवादी, समाजवादी, साम्यवादी आदि का उद्भव हुआ। विभिन्न अर्थव्यवस्थाएं अपने सिद्धान्तों एवम् मान्यताओं के आधार पर अनेक राष्ट्रों के विकास का आधार बनी। किन्तु कालान्तर में शनैः शनैः वैश्विक स्तर पर उत्पन्न हुयी विभिन्न समस्याओं से विकास के इन प्रतिमानों को नकारा जाने लगा। पूंजीवादी, समाजवादी आदि अर्थव्यवस्थाओं ने भौतिक विकास को तो चरम सीमा तक पहुँचा दिया किन्तु इसके समानान्तर

उत्पन्न हुई विभीशिकाओं ने विकास पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। वैश्विक गरीबी, भूखमरी, असमानता, पर्यावरण प्रदूषण आदि की समस्याओं ने विकास के नए प्रतिमान की आवश्यकता महसूस की। विकास की ऐसी पद्धति की कामना की गई जोविकास के साथ सुख, समृद्धि और शांति भी प्रदान करे। इस संदर्भ में अहिंसा के अर्थशास्त्र का चिन्तन उभर कर आया। प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक विकास की पद्धति एवम् इसके दुष्परिणामों की व्याख्या करते हुए अहिंसा के अर्थशास्त्र केप्रारूप को स्पष्ट किया गया है। साथ ही अहिंसात्मक अर्थशास्त्र का चिन्तन रखने वाले कुछ अर्थशास्त्रियों का चिन्तन भी प्रस्तुत किया गया।

सामान्यतः अहिंसा का अर्थ भौतिक हिंसा से रहित होना है। किन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अहिंसा का अर्थ केवल भौतिक हिंसा के संदर्भ से वृहद् होकर मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक होना है। अर्थशास्त्र के संदर्भ में अहिंसा का अर्थ और अधिक विस्तृत हो जाता है जिसमें संयम, नैतिकता, सहिष्णुता, शुचिता आदि मूल्य भी सम्मिलित हो जाते है। संयम में आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को सीमित करना; सहिष्णुता में समाज के प्रत्येक सदस्य, प्रत्येक वर्ग के प्रति सौहार्द एवं उत्तरदायित्व का बोध होना; शुचिता में स्वीकार्य नैतिक आचरण का पालन करना तथा नैतिकता में अपरिग्रह के साथ–साथ, अर्थोपार्जन में नैतिक मूल्यों एवं अवधारणाओं से प्रभावित होकर अनुसरण करना; सम्मिलित हैं। मनुष्य जीवन की समस्त आर्थिक क्रियाओं में इन्हें स्वीकार कर उनका अनुसरण करना अहिंसा के अर्थशास्त्र के प्रमुख घटक है। अहिंसा के अर्थशास्त्र की अवधारणा को समझने के लिए इन तत्वों का संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा।

1-1 vFk'kkL= vkj uhfr'kkL= dk leUo;

भारतीय परंपरा के चिंतन में चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन संचालित करने के साधनों के रूप में स्वीकारा जाता है। इसके अनुसार अर्थ और काम (उपभोग) की समस्त क्रियाएं धर्म के आधार पर चलनी चाहिए ताकि मोक्ष के पथ पर अग्रसर हो सके। अर्थात् समस्त आर्थिक क्रियाएं धर्मशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के अनुसार संचालित होनी चाहिए। अहिंसा का अर्थशास्त्र मूलतः संयमित जीवन एवं नैतिकता प्रधान अर्थतंत्र को व्याख्यायित करता है। आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख विचारक कीन्स ने कहा था– ''हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। अभी यह समय नहीं है कि हम मूल्यों पर विचार करें। नैतिकता पर विचार करें।'' इसके विपरीत अहिंसा के अर्थशास्त्र के समर्थकगांधी का मानना था – सच्चा अर्थशास्त्र वही है जो नैतिक नियमों के अनुसार संचालित हो। आचार्य महाप्रज्ञ का भी मानना था– अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र और नीतिशास्त की छत्रछाया में संचालित होना चाहिए तभी वह सभी के लिए कल्याणकारी हो सकता है। क्योंकि नीति आदर्श उपस्थित करती है एवं उचित–अनुचित, अच्छा–बुरा एवं वांछित–अवांछित का भेद स्पष्ट कर करणीय का बोध करवाती है और अर्थशास्त्र आर्थिक प्रयत्नों के द्वारा होने वाले समाज और विश्व के कल्याण का आदर्श प्रस्तुत करता हैं। अतएव अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का समन्वय ही वास्तविक कल्याण की प्राप्ति करवा सकता है। गुन्नार मिर्डल ने भी कहा था– "Economics is a moral science" आर्थिक परिस्थितियों और आर्थिक परिदृश्य का मनुष्य के नैतिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है, खाने–पहनने की आवश्यक चीजों के अभाव में मनुष्य जीवनयापन करता है तो उस अभाव की पूर्ति के लिए वह चोरी, लूटपाट, डकैती आदि अनैतिक कार्यों की ओर प्रवृत्त हो सकता है। इसी प्रकार मंदी के आर्थिक परिदृश्य में जब छंटनी की प्रक्रिया होती है तब लाखों लोग बेरोजगार हो जाते हैं और अपने जीवनयापन के लिए वे अनैतिक कार्यों की ओर अग्रसर हो सकते हैं। कहा भी गया है

'भूखा आदमी कौनस पाप नहीं करता' और 'भूखे भजन न होय गोपाला' अर्थात् भूखे आदमी से नैतिकता की आशा करना व्यर्थ एवं अनुचित है। विवेकानंद ने कहा था– 'भूख के आगे व्यक्ति धर्म और भगवान को भी भूल जाता है। भूखी जनता के लिए करूणा को नहीं रोटी का उपदेश नहीं चाहिए। अतः स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का घनिष्ठ संबंध है। अहिंसा के अर्थशास्त्र के सिद्धांत इसी संबंध के आधार पर प्रत्येक आर्थिक क्रिया में नैतिकता को अनिवार्य रूप से समाविष्ट कर प्रगति की रूपरेखा प्रस्तुत करते है। प्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक एवं अर्थशास्त्रीय श्रीमन्नारायण की पुस्तक Socialism in India की प्रस्तुति में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है– In India it is important for us to profit by modern technical processes and increase our production both in agriculture and industry. But in doing so, we must not forget that the essential objective to be aimed at, is the quality of the individual and the concept of Dharma underlying it"

1-2 dUnz e eu";] vFk ugh

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अर्थ को सर्वोपरि मानती है। उसका उद्देश्य अधिकाधिक भौतिक विकास है, इसलिए अर्थ और भौतिकता उसके केन्द्र में है और मनुष्य परिधि में चला गया है। जबकि अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करना है किन्तु आज मनुष्य भी अर्थ का दास हो गया है। वर्तमान अर्थशास्त्र भौतिक उन्नति केसाधन पाने लगा है, जिसमें यह भुला दिया गया है कि वे साधन अन्ततः मुनष्य के लिए है, मनुष्य उसके लिए नहीं है। इस प्रवृत्ति ने मनुष्य को एक 'आर्थिक मानव' की संज्ञा दी जिसकालक्ष्य केवल धनोपार्जन करना है। अहिंसा का अर्थशास्त्र वर्तमान अर्थशास्त्र के विपरीत मनुष्यको केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण आर्थिक संरचना की संकल्पना प्रस्तुत करता है। पूंजीवाद और समाजवाद की भांति मनुष्य को केवल 'आर्थिक मानव' न मानकर अहिंसा का अर्थशास्त्र मनुष्य को समग्र रूप से व्याख्यायित करता है। अरस्तु ने नीतिशास्त्र के प्रारंभ में लिखा था–'धन वह वस्तु नहीं है जिसकी हमें खोज है, यह तो मात्र कुछ अन्य विषयों में सहायक ही हो सकता है'। अहिंसा का अर्थशास्त्र धन अथवा अर्थ की इस उपादेयता को स्वीकारते हुए इसे मानव कल्याण के एक साधन के रूप में प्रयुक्त करता है। इस विचारधारा के अनुसार विकास की वही प्रक्रिया स्वीकार्य है जिनसे मनुष्य की आर्थिक उन्नति के साथ–साथ नैतिक समाजिक और सांस्कृतिक उन्नति भी हो। अहिंसा के अर्थशास्त्र के अनुसार समस्त आर्थिक, अध्ययनों, योजनाओं और निर्णयों का संबंध मानव कल्याण से है और जो निर्णय मानव के वास्तविक कल्याण से मेल नहीं खाते उन्हें संशोधित किया जाये अथवा छोड़ दिया जाये। कोई भी सिद्धांत या धारणा, कोई भी साधन और सम्पत्ति मनुष्य से अधिक महत्वपूर्ण और मूल्यवान नहीं मानी जा सकती क्योंकि अन्ततः वही उसका वास्तविक मापदण्ड है। यहां यह भी स्पष्ट करना उचित होगा कि अहिंसा का अर्थशास्त्र भौतिक साधनों का प्रयोग वर्तमान मनुष्य के कल्याण के साथ–साथ आने वाली पीढ़ियों को ध्यान में रखकर, करने पर बल देता है। अहिंसात्मक अर्थशास्त्र की विचारधारा इमर्सन ने के इस कथन को केन्द्र में रखकर चलती है कि सभ्यता की वास्तविक परीक्षा राष्ट्र की जनगणना अथवा नगरों की रूपरेखा अथवा फसलों नहीं होती अपितु किस तरह के मनुष्य राष्ट्र उत्पन्न करते हैं, इससे होती है।

आर्थिक सिद्धांतों में मनुष्य को साधन बनाने की अपेक्षा मनुष्य को सर्वोपरि माननाआर्थिक क्षेत्र में अहिंसा का प्रवेश है। अर्थशास्त्री यदि मनुष्य को धन संचय का साधन मानने लगे तो उसका एकमात्र उद्देश्य धन संचय के साधन खोजना रह जाता है। इसी आधार पर मांग एवं पूर्ति का नियम बना तथा सस्ते के बाजार से खरीदना और महंगे बाजार में बेचना, व्यवहार बन गया है। रस्किन ने इस विचार की आलोचना करते हुए

लिखा– जहां तक मुझे ज्ञात है इतिहास में मानव बुद्धि के लिए इतना लज्जाजनक और कोई अभिलेख नहीं रहा है, जितना यह आधुनिक विचार। उन्होंने कहा– सबसे ''सस्ते बाजार में खरीदो? पर ठीक है, तुम्हारा बाजार सस्ता कैसे हुआ? अग्निकांड के बाद तुम्हारी छत की लकड़ियों का कोयला सस्ता हो सकता है एवं भूंकप के बाद तुम्हारी सड़क की ईंटें सस्ती हो सकती है किन्तु इसी से अग्निकांड और भूंकप राष्ट्रीय लाभ तो नहीं बन जाते। सबसे महंगे में बेचो? हां सच है, पर तुम्हारा बाजार महंगा कैसे हुआ? तुमने अपनी रोटी आज अच्छे दामों में बेची। क्या ऐसे मरणासन्न व्यक्ति को जिसने इसे लेने के लिए अपना आखरी सिक्का भी दे दिया और जिसे फिर कभी रोटी की जरूरत ही नहीं पड़ेगी?''इससे यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक अर्थशास्त्र का सबसे अमानवीय सिद्धांत मांग और पूर्ति का है और दुर्भाग्य से आजइसी सिद्धांत के आधार पर सारी अर्थव्यवस्था संचालित हो रही है। रस्किन ने यह भी लिखा था ''मांग एवं पूर्ति के नियमों के अनुसार रहना मछलियों का या चूहों एवं भेड़ियों का विशेषाधिकार हो सकता है किन्तु मानवता की विशिष्टता तो औचित्य के नियमों के अनुसार रहना है।''अतएव अहिंसा का अर्थशास्त्र ऐसे किसी भी सिद्धांत की उपेक्षा करता है जो न्यायोचित एवं नैतिक न हो। उपभोग, उत्पादन एवं वितरण आदि सभी आर्थिक क्रियाएं अहिंसक अर्थव्यवस्था में मनुष्य एवं मनुष्य के वास्तविक कल्याण को केन्द्र में रखकर की जाती है ताकि राष्ट्र का सर्वांगीण विकास हो सके।

1-3 miHkksx dk lhekdj.k

वर्तमान अर्थशास्त्र की भोगवादी संस्कृति का मूल आधार असंयम है। उपभोक्ता संस्कृति का वर्तमान अर्थतंत्र राष्ट्रीय आय में वृद्धि को विकास का मापदंड मानता है जिसके लिए उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है। अतः आधुनिक विचारधारा मानव कल्याण एवं आवश्यकताओं की संपूर्ति के लिए आधिक उत्पादन पर जोर देता है। अत्यधिक उत्पादन की खपत के लिए बाजार में मांग की वृद्धि आवश्यक है और यह तब संभव है जब उपभोग में भी अत्यधिक वृद्धि हो। अर्थात् उपभोग की मात्रा, उपभोग की प्रवृत्ति और उपभोग वस्तुओं की मांग ही बाजार में मांग की मात्रा, प्रवृत्ति और प्रकार को निर्धारित करता है। अतएव वर्तमान आर्थिक नीति आर्थिक विकास की दर को तेज करने के लिए अधिकतम उपभोग पर जोर देती है। उपभोग की इस बढ़ती प्रवृत्ति के कारण अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि मनुष्य की अनंत इच्छाओं को कहीं तो विराम देना होगा, नहीं तो यह विश्व एक दिन अपने ही विकास के नीचे दबकर खत्म हो जायेगा। इसलिए संयम व आत्मानुशासन के द्वारा व्यक्ति की विवेक चेतना को जागृत करना आवश्यक है। अहिंसा का अर्थशास्त्र संयम और सीमाकरण की इस प्रवृत्ति को स्वीकारता है।

अहिंसक अर्थव्यवस्था सीमित ईच्छा, सीमित आवश्यकता और सीमित उपभोग के सिद्धांत पर आधारित है। इसमें संतुष्टि का आधार वास्तविक सुख अथवा आंनद की अनुभूति है। यह इस विचारधारा पर आधारित है कि संतुष्टि एक आंतरिक अनुभूति है जो सामाजिक ही नहीं अपितु व्यक्तिगत भी होती है। जहां संतुष्टि का संबंध व्यक्तिगत संतोष से होता है। वहां सभी मनुष्यों के लिए इसका स्तर अलग–अलग होता है। एक ही वस्तु के उपभोग से किसी एक व्यक्ति तो बहुत अधिक संतुष्टि मिल सकती है और उसी वस्तु के उपभोग से दूसरे व्यक्ति को बहुत कम संतुष्टि। अतः वास्तविक संतुष्टि के लिए भौतिक वस्तु के उपभोग का आधार लेना गलत है। अहिंसा के अर्थशास्त्र के अनुसार संयमित और सीमित उपभोग ही अधिक संतुष्टि दे सकता है। इसी आधार पर महावीर ने अल्पेक्षा की बात कही, गांधी ने आवश्यकताओं को सीमित करने पर बल दिया, जे. के. मेहता ने

इच्छाओं के अल्पीकरण का सिद्धांत दिया और आचार्य महाप्रज्ञ ने उपभोग के सीमाकरण का सूत्र दिया। पुरूषोत्तम दासटंडन ने लिखा है– ''मनुष्य जीवन की सफलता इन्द्रिय भोग की प्रचुरता में नहीं, किन्तु उसके नियंत्रण में है। देश की संपत्ति बढ़ाने के लिए हम अपनी आवश्यकताएं बढ़ाए, यह अर्थशास्त्र को उल्टा समझना है।''डेनियल ने भी कहा– ''वह गरीब नहीं जिसके पास कम धन है वरन् गरीब वह है जिसकी अभिलाषाएं बढ़ी हुई हैं''इस प्रकार अहिंसात्मक अर्थशास्त्र आवश्यक वस्तुओं के उपभोग को प्रश्रय देता है साथ ही कृत्रिम एवं विलासिता की आवश्यकता को नियंत्रित कर उपभोग को सीमित करता है। वर्तमान उपभोग की बढ़ती प्रवृत्ति ने एक ओर जहां मनुष्य के स्वास्थ्य और जीवन शैली को प्रभावित किया है वही दूसरी ओर अधिकाधिक उपभोग के लिए मनुष्य येन–केन–प्रकारेण अपनी आय बढ़ाने में लगा है। परिणामस्वरूप समाज का अमीर वर्ग और अधिक अमीर होता चला जा रहा है और गरीब वर्ग और अधिक गरीब। संपन्न वर्ग गरीब वर्ग का शोषण कर, उनके अधिकारों का हनन कर अपने उपभोग के स्तर को बढ़ा रहे है। जिसके कारण अभाव में जीने वाले वर्ग का हिंसा, अपराध और अनैतिकता की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है। इस वर्ग के संबंध में अरिंदम एवम् मलय चौधरी ने अपनी पुस्तक 'एक महान भारतीय स्वप्न' में लिखा है कि– ''दौलत कमाने की दौड़ से बाहर ढकेल दिए लोग किसी दिन मानव बम बनने के बारे में सोचने लगे तो क्या यह अस्वाभाविक होगा? इन लोगों को किसी भी दृष्टि से सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अवसर नहीं मिल रहा है। अगर हमें कोई सीख लेनी है, तो अभी लेनी है। मनुष्य और मनुष्य के बीच के भेदभाव, और मानव द्वारा मानव के शोषण को समाप्त करने के लिए कंधे से कंधा मिलाकर लड़ना होगा। शांति और सभ्यतापूर्ण सह अस्तित्व को सही मुकाम देना होगा।''अतः अहिंसा का अर्थशास्त्र सीमित और संयमित उपभोग के द्वारा समाज में शांति स्थापना का समर्थक है। चूंकि जब आवश्यकताएं सीमित होंगी तो उपभोग भी सीमित होगा, आवश्कताओं की पूर्ति भी सरलता से हो जाएगी और अनैतिक एवं अनुचित साधनो से आय वृद्धि की प्रवृत्ति पर भी रोक लगेगी। विलासिता और कृत्रिम वस्तुओं के उपभोग पर नियंत्रण होने से एक ओर जहां संसाधनों का शोषण नहीं होगा वहीं दूसरी ओर मनुष्य की जीवनशैली और स्वास्थ्य भी संयमित और संतुलित होगा। उपभोग की मात्रा एवं उपभोग दोनों सीमित होने के कारण आर्थिक विषमता में कमी आएगी और मानवीय मूल्यों पर आधारित समतामूलक समाज की संरचना सम्भव हो सकेगी, विश्व शांति की कल्पना साकार हो सकेगी। इस संबंध में डॉ. एम.एम. जोशी ने लिखा है– 'Without restraint in consumption, without fundamental changes in consumption pattern and value systems the goal of sustainable development in simply no achievable.'

1-4 mRiknu e fgalk dh U;urk

आर्थिक जगत में उत्पादन की क्रियाएं महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। अर्थव्यवस्था का अन्तिम लक्ष्य अधिकतम संतुष्टि एवं मानव कल्याण है जिसकी पूर्ति उत्पादन की क्रिया के बिना संभव नहीं है। विकास की वर्तमान अवधारणा में किसी भी राष्ट्र का उत्पादन उसके विकास का मापदण्ड माना जाता है। इस गलत मापदण्ड के कारण अधिकाधिक उत्पादन और उत्पादन के उपयोग के लिए अधिकाधिक उपभोग की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला है। वर्तमान आर्थिक विचारधारा में प्रत्येक राष्ट्र अपना राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर उद्योगों को लगा रहे हैं। उत्पादन वृद्धि के लिए ऐसी तकनीकों का प्रयोग किया जा रहा है, जो मानव संसाधन को निष्क्रिय कर रहा है, पर्यावरण को क्षति पहुंचा रही है और जो अनैतिक एवं अमानवीय भी है। अधिकाधिक उत्पादन की होड़ में ऐसे उत्पादों का उत्पादन भी किया जा रहा है जो मानव समुदाय के लिए

अहितकर एवं विनाशकारी है। साथ ही हिंसा और अहिंसा के भेद को ध्यान में न रखते हुए ऐसी वस्तुओं का भी उत्पादन वृहद् रूप से किया जा रहा है जो हिंसा को बढ़ावा दे रही हैं। उदाहरण के लिए मांस के कारखाने, सौन्दर्य प्रसाधन, मछली उद्योग, सामरिक वस्तुओं आदि का उत्पादन वर्तमान अर्थ व्यवस्था में बहुतायत से हो रहा है। इन वस्तुओं के उत्पादन से एक ओर जहां क्रूरता बढ़ रही है वहीं दूसरी ओर अनैतिकता एवं शोषण भी बढ़ रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान उत्पादन की प्रक्रिया में नैतिकता और मानवीय मूल्यों का अभाव है। अहिंसा के अर्थशास्त्र का मूल उद्देश्य आर्थिक क्रियाओं में मूल्यों की प्रस्थापना है अतएव इस आर्थिक विचारधारा में उत्पादन के क्षेत्र में भी अहिंसा और नैतिकता को समाविष्ट किया गया है। अहिंसक अर्थव्यवस्था में उत्पादन मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। इस अर्थव्यवस्था में विलासिता और हिंसक वस्तुओं के उत्पादन पर नियंत्रण रहता है। उत्पादन की तकनीकों में पर्यावरण अनुकूल एवं मानव श्रम को सहयोग देने वाली पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। चूंकि अहिंसक अर्थव्यवस्था में उपभोग भी संयमित होता है अतएव न तो बाजार में अनावश्यक वस्तुओं की मांग उत्पन्न होती है और न ही उनकी पूर्ति के लिए अनावश्यक उत्पादन करना होता है। इस कारण आय का एक बड़ा बच जाता है तथा बचत और पूंजी निर्माण को बढ़ावा मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के अर्थशास्त्र में उत्पादन के आकार, उत्पादन की मात्रा, उत्पादन की किस्म, उत्पादन की तकनीक एवं उत्पादन की प्रक्रिया आदि सभी क्षेत्रों में मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखा जाता है साथ ही इस बात को भी केन्द्र में रखा जाता है कि उत्पादन मनुष्य के लिए किया जा रहा है, मनुष्य उत्पादन के लिए नहीं है।

1-5 lk/kuk dh 'k) rk

अहिंसा का अर्थशास्त्र नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना के लक्ष्य को लेकर चलता है, अतःव्यापारी अथवा व्यवसायी के न केवल साध्य (उद्देश्य व लक्ष्य) ही पवित्र हो, वरन् उनकी प्राप्ति के साधन भी पवित्र होने चाहिए। एक अच्छे साध्य की प्राप्ति अनुचित एवं गलत साधनों के द्वारा नहीं की जानी चाहिए, भले ही इससे बहुसंख्यक वर्ग को लाभ मिलता हो। इससे बहुसंख्यक वर्ग को लाभ मिलता हो। आर्थिक क्रियाओं का लक्ष्य समाज के लिए अहितकर एवं सामाजिक जीवन की उत्तमता को समाप्त करने वाला नहीं होना चाहिए। गैरेट ने कहा है– ''व्यवसायिक क्रियाएं सही ढंग से चलती रहें, इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यवसाय के लक्ष्य एवं साधन उचित एवं उत्तम हो।'' उनके अनुसार– उत्तम लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अनैतिक तरीके अपनाए जाने पर परिणामों का नैतिक नहीं कहा जा सकता है। अतः स्पष्ट है अहिंसा का अर्थशास्त्र उत्पादन, उपभोग, अर्जन, वितरण आदि सभी क्रियाओं में साधनों की शुद्धता के सिद्धांत को अनिवार्य रूप से स्वीकारता है। साधन और साध्य की दो भूमिकाएं हैं – सामान्य और नैतिक। नैतिक भूमिका में साध्य किसी क्रिया के प्रयोजन, लक्ष्य ओर परिणाम का सूचक है। साधन वह क्रिया है जिसके द्वारा इच्छित लक्ष्य व परिणाम को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। नीतिशास्त्र में साध्य के स्वरूप मतैक्य नहीं है। ग्रीन, मैकेन्जी बटलर और कान्ट साध्य का अर्थ प्रेरणा या प्रेरक तत्व से लेते हैं। जबकि मिल, बैन्थम और चार्वाक साध्य का अर्थ कार्य के परिणामों कोही मानते हैं। आचार्य भिक्षु, महात्मा गांधी और आचार्य महाप्रज्ञ के सिद्धांतों में लक्ष्य और परिणाम दोनों का समावेश है। साधन क्रियासूचक पद है, किन्तु सभी क्रियाएं एक समान नहीं होती। कुछ क्रियाओं में शक्ति प्रयोग, शोषण, प्रतिरोध, परपीड़न अप्रत्यक्ष हिंसा आदि का समावेश होता है तथा कुछ क्रियाएं प्रेम, करुणा और सहयोग की सूचक होती है। साधन के इन दोनों प्रकारों से कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। नीतिशास्त्र में कुछ विचारक जैसे मैक्यावली, हिटलर,

स्टालिन, लेनिन, माओ, कौटिल्य आदि सांध्य पर ही विशेष बल देते हैं। इनके अनुसार मुख्य बात कार्य निपुणता की है, साध्य की पवित्रता साधन को भी पवित्र बना देती है।जबकि महात्मा गांधी और आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार साधन की पवित्रता ही साध्य को पवित्र बना सकती है। ''मानव जीवन पर साध्य का ही नहीं साधन का भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि साधन और साध्य दोनों एक ही मानसिक परिस्थिति के अविभाज्य अंग है।''मनु ने कहा था – अधर्म से प्राप्त समृद्धि और सौरभ प्रकट रूप से जो भी हो अंत में उसक समूल विनाश निश्चित हैं। मार्क्स का भी कहना था कि ''वह साध्य जो अनिवार्यरूप से अपवित्र साधन की अपेक्षा रखता है, पवित्र साध्य नहीं कहला सकता।'' शिशकिन जैसे कई आधुनिक मार्क्सवादी विचारक यह मानने लगे है कि मार्क्स भी साधनों की शुद्धि में विश्वास करते थे। स्पष्ट है कि अनैतिक साधनों के आधार पर सफलता स्थायी नहीं होती और सच्ची भी नहीं होती क्योंकि इसमें नैतिकता की पराजय और अनैतिकता की विजय हम स्वयं स्वीकार कर लेते है। चुंकि अहिंसा का अर्थशास्त्र नैतिकता की बुनियाद पर आधारित है अतः इसके अनुसार साध्यों के साथ–साथ साधनों की भी पवित्रता होनी चाहिए। आजीविका की शुद्धि और पवित्रता का विस्तार अहिंसक अर्थव्यवस्था का प्राणतत्व है।जीवन निर्वाह के लिए अर्थ की उपयोगिता और आवश्यकता सर्वविदित है किन्तु उसके प्रतिसही दृष्टिकोण की आवश्यकता है। अंग्रेजी में एक कहावत हैं– Money is a good servant,but a dangerous master. धन एक अच्छा सेवक है किन्तु खतरनाक स्वामी भी। जहां धन स्वामी बन जाता है वहां मानव की विवेक चेतना लुप्त हो जाती है। आध्यात्मिक साहित्य में इस विषय पर विस्तार से विवेचन हुआ है। यद्यपि सभी धार्मिक व्यक्ति 'धम्मं शरणं गच्छामि' के पावन मंत्र का संगान करते हैं किन्तु जब आर्थिक आकर्षण सम्मुख होता है तब उचित अनुचित का विचार किए बिना ''धनं शरणं गच्छामि'' का स्वर मुखरित होने लगता है। धर्नाजन के यद्यपि अनेक उपाय हैं किंतु वे सभी श्रेयस्कर नहीं हैं। यह सही है कि अनुचित साधनों से भी धन का अर्जन किया जा सकता है और आधुनिक व्यवस्था में तो अनुचित साधनों से अधिक अर्जित करने की संभावनाएं अधिक है। किंतु अनुचित साधनों के प्रयोग के कई अनौचित्य है। यदि आजीविका के लिए ऐसे साधन प्रयोग में लाए जायें जिससे साथी के साथ अन्याय होता तो यह धर्नाजन के साधन का प्रथम अनौचित्य है। दूसरा अनौचित्य यह है कि धनोपार्जन के लिए उत्पादन की ऐसी पद्धति प्रयोग में लायी जाए जिससे उत्पादन का मूल स्रोत प्रकृति ही नष्ट हो जाए तो हो सकता है कि हम एक बार सम्पन्न हो जाए किन्तु सदा के लिए दरिद्र हो जायेंगे। तीसरा अनौचित्य यह है ऐसी वस्तुओं का उत्पादन न किया जाए जो आकर्षक है किंतु आजीविका की दृष्टि से अलाभकारी है तथा अन्ततः मनुष्य के लिए हानिकारक हो। अहिंसक अर्थव्यवस्था में ऐसे सभी साधन और उपाय त्याज्य है।

1-6 vifjxgh nf"Vdk.k

आधुनिक अर्थव्यवस्था संग्रह की प्रवृत्ति को पोषित करती है। संग्रह की इस वृत्ति नेसमाज को विश्रृंखलित किया है, तोड़ा है और विषमता की खाई पैदा की है। संग्रही आचरण से ही रक्षा के नाम पर हिंसक और भयानक अस्त्र शस्त्रों का निर्माण हुआ और फिर सत्तावाद शुरू हुआ। यदि समाज ने संग्रह की वृत्ति को न पनपने दिया होता तो आज न विषमता होती और न ही रक्षा और व्यवस्था के नाम पर सत्ता का विकराल रूप होता। इसलिए असंग्रही अथवा अपरिग्रही दृष्टिकोण का विकास अहिंसक अर्थव्यवस्था का विशिष्ट सिद्धांत है। समाज रचना का मुख्य आधार है – अर्थव्यवस्था। जिस समाज की अर्थव्यवस्था जितनी समुन्नत और संतुलित होती है वह समाज उतनी ही प्रगति करता है– यह एक सत्य है। दरिद्रता समाज के लिए अभिशाप है, इससे मुक्त हुए बिना भी कोई समाज आगे नहीं बढ़ सकता। इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता है। फिर भी

अपरिग्रह का अपना मूल्य है। अपरिग्रह भारतीय दर्शन का मूल तत्व है जो वस्तु एवं वस्तु के उपभोग के प्रति मनुष्य के अनासक्ति के भाव को प्रदर्शित करता है। पदार्थ और पदार्थ प्रयोग, इन दोनों के होते हुए भी मन में लगाव और आसक्ति न हो, यह अपरिग्रह की आधारभित्ति है। विभिन्न धर्म दर्शनों में अपरिग्रह को विविध स्वरूपों में स्वीकारा गया है। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में पांच व्रतों का उल्लेख मिलता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य– ये चारव्रत तीनों ही परम्पराओं में स्वीकृत है। पांचवें व्रत के रूप में वैदिक दर्शन दान, बौद्ध दर्शन मादक द्रव्य त्याग एवं जैन दर्शन अपरिग्रह को स्वीकारता है। महावीर ने चौथे व्रत के रूप में अपरिग्रह को स्वीकार किया। वेदों एवम् उपनिषदों में अपरिग्रह शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है, वहां त्याग पूर्वक भोग की बात की गयी है। ऋग्वेद के अनुसार– ''जनता को परितृप्त करने वाला दानी स्वर्ग के देवों में प्रमुख स्थान प्राप्त करता हैं।''विष्णुपुराण में कहा गया है कि बिना दान किए बिना खाने वाला विषभागी है। कठोपनिषद में 'न वित्तेणं तर्पणीयो मनुष्यः' कहकर अपरिग्रह की चेतना को सिंचन दिया गया हैं। पद्मपुराण में आत्मसंयम को, मत्स्यपुराण में लालच के अभाव और इन्द्रिय संयम को व विष्णुसंहिता में लोभ के अभाव को धर्म का आधार स्वीकारा गया है। पतजंलि भी पांच यमों में अपरिग्रह को स्थान देते हैं। गीता में आत्मसंयम, वैराग्य एवं अपरिग्रह को दिव्य गुण के रूप में स्वीकारा गया है। परिग्रह दोषों का आगार है, विषमता का कारण है। आज मानव भौतिक विकास को अपने जीवन का परम लक्ष्य मानकर भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आध्यात्मिक सद्गुणों की तिलांजलि दे रहा है और स्वयं को सम्पत्ति के लिए समर्पित कर रहा है यही कारण है कि विकास विनाश का कारण बन गया है। अपरिग्रह का सिद्धान्त इस ओर संकेत करता है कि जीवन का परम लक्ष्य संपत्ति नहीं अपितु संतोष है। संपत्ति मूलतः अस्वामिक होती है। उस पर सत्ता, शक्ति और व्यवसायिक बुद्धि के द्वारा स्वामित्व स्थापित किया जाता है। जिस व्यक्ति के पास सत्ता है व अपनी अभीप्सा के अनुरूप संपत्ति का स्वामी बन जाता है। शक्ति प्रयोग भी स्वामित्व स्थापित करने का साधन है। तीसरा तत्व है– व्यवसायिक बुद्धि। इसमें एकाधिकार के द्वारा व्यक्ति अपने स्वामित्व का विस्तार करता है। स्वामित्व की सीमा का निर्धारण न होने के कारण व्यक्ति की आकांक्षा बढ़ती जाती है। फिर वह संपत्ति के अर्जन, संचय एवम् संग्रह के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। इन बाह्य पदार्थों के ऊपर स्वामित्व स्थापित करने के लिए और ऐसा करके अपने राष्ट्रवासियों की सुख–सुविधा बढ़ाने के लिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच युद्ध होते हैं। व्यापार विस्तार की प्रतियोगिता एवं अपनीउत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिए बाजारों की खोज और प्रतिस्पर्धा आज आर्थिक जगत की सबसे बड़ी समस्याएं हैं, जिनके मूल में स्वामित्व की मूर्च्छा ही है। जिस प्रकार अहिंसा का वैचारिक आधार अनेकांत है, उसी प्रकार अहिंसा का सामाजिक आधार अपरिग्रह है। व्यक्गित जीवन की अनासक्ति सामाजिक जीवन में अपरिग्रह में परिवर्तित हो जाती है। व्यक्तिगत जीवन में आसक्ति परिग्रह और भोग भावना के रूप में अभिव्यक्त होती है जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है। बाह्य जीवन में आसक्ति– अपहरण अथवा शोषण आवश्यकता से अधिक परिग्रह अथवा संग्रह तथा भोग के रूप में अभिव्यक्त होती है। केवल हत्या या रक्पात ही हिंसा नहीं है अपितु परिग्रह भी हिंसा ही है क्योंकि बिना हिंसा या शोषण के परिग्रह असंभव है। इसी कारण से जैन परम्परा में ममत्व विसर्जन के साथ साथ स्वामित्व विसर्जन पर जोर दिया है तथा समविभाग और समवितरण को सामाजिक, आध्यात्मिक साधना का आवश्यक अंग माना है। अपरिग्रह केवल वैयक्तिक नैतिक सद्गुण ही नहीं है, इसका सामाजिक आधार भी है। सर्वप्रथम तो संग्रह व्यक्ति से नहीं समष्टि से ही संभव है। यदि समाज असहयोग करे तो व्यक्ति संपत्ति का संग्रह करना तो दूर अपितु, उसका अर्जन करने में भी असक्षम रहेगा। शायद इसी को

ध्यान में रखकर मार्क्स ने कहा था कि पूंजी एक सामाजिक शक्ति है (Capital is a Social Power)। दूसरी तरफ परिग्रह के कारण सामाजिक विषमता बढ़ती है और फिर उससे ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि धर्माचार्यों ने दान को प्रतिष्ठित किया है। इस्लाम मे जकात, इसाई धर्म में चैरेटी एवं हिन्दु धर्म में दान की महिमा है। शंकराचार्य ने तो ''दानं संविभागः'' कहा है जिसका आधार लेकर विनोबा ने भूदान सम्पत्तिदान, जीवनदान आदि की परम्परा चलायी है। ''सबै भूमि गोपाल की'' या ''संपत्ति सब रघुपति के आहीं जब कहा जाा है तो अपरिग्रह धर्म परिपुष्ट होता है। केवल जमीन एवं जायदाद ही नहीं हमारा जीवन भी अपने लिए नहीं बल्कि समाज के लिये है। यही भावना लेकर विनोबा एवं जयप्रकाश नारायण ने ''जीवन दान'' का अभियान प्रारंभ किया था जो अपरिग्रह व्रत की पराकाष्ठा है। गांधीजी का ट्रस्टीशीप या विनोबा का विश्वस्तवृत्ति का सिद्धांत भी अपरिग्रह व्रत की सामाजिक साधना है। जिस समाज में अपरिग्रह व्रत का पालन होगा, वहां पूंजीवाद की समस्या ही नहीं रहेगी और फिर उससे संघर्षवाद के प्रश्न ही निरर्थक होंगे। किन्तु समाज में व्यक्तिगत परिग्रह बढ़ेगा तो विषमता भी बढ़ेगी भी होगा और फिर वर्ग संघर्ष या रक्तिम संघर्ष अनिवार्य है।

अपरिग्रह की राष्ट्रीय एवं जागतिक प्रासंगिकता भी है। परिग्रह, संग्रह और विसर्जन प्रत्यक्ष रुप से सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। यदि अर्जन, सामाजिक एवम् आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो संग्रह आर्थिक समवितरण को। इसी के विपरीत विसर्जन की वृत्ति लोक कल्याण को प्रभावित करती है। उपाध्याय अमर मुनि ने गरीबी की समस्या के समाधान के रूप में विसर्जन की भूमिका को स्पष्ट करते हुए लिखा था– ''गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं है। किन्तु पहाड़ों की असीम ऊंचाइयों ने इस धरती पर जगह–जगह गड्ढे पैदा कर दिए हैं। पहाड़ टूटेंगें तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगें। संपत्ति का विसर्जन होगा तो गरीबी अपने आप दूर हर जायेगी।'' अतः परिग्रह–अपरिग्रह का प्रश्न पूरी तरह सामाजिक है। अपरिग्रह का सिद्धांत वस्तुतः अनुचित अर्जन और अनैतिक संग्रह पर प्रहार है। अर्जन और संग्रह अपने आप में बुरा नहीं है लेकिन जब इनका आधार शोषण एवं विषमता हो जाता है तो फिर यह समाज के लिए कहर बन जाता है। अन्यायपूर्ण अर्जन एवं शोषण आधारितसंग्रह ही आर्थिक संघर्षों को जन्म देता है यही कारण है कि मार्क्सवाद उत्पादन के साधन एवं स्वामित्व को ही नहीं उसके उपभोग और वितरण को भी सामाजिक व्यवस्था में आबद्ध करते हैं, किन्तु मार्क्सवाद का समष्टिगत अपरिग्रह राजदंड के आधार पर चलता है इसलिए उसे कई प्रकार के निरंकुश व्यवस्था लादनी पड़ती है। समाजवाद जब तक ऊपर से लादा जाता रहेगा तब तक उसे तानाशाही का संबल चाहिये। वास्तव में समाजवाद केवल राज्य की नहीं, यह एक समाज व्यवस्था और उनसे भी अधिक एक जीवन पद्धति है। इसलिए यदि समाजवाद को मंगलकारी बनना है तो फिर व्यक्तिगत जीवन में भी अपरिग्रह का मूल्य स्वीकार करना होगा। अतएव अहिंसा का अर्थशास्त्र अपरिग्रह के वृहद स्वरूप को स्वीकारता हैं जिसमें उपभोग का सीमाकरण, अनासक्ति का भाव एवं विसर्जन सम्मिलित हो जाता है।

1-7 leforj.k

सैलिगमैन ने लिखा है कि वह संपूर्ण संपत्ति जो कि समाज में वैयक्तिक वितरण के लिए अंतिम रूप से किसी प्रणाली या आय के स्रोत के रूप में उपलब्ध होती है, उस प्रक्रिया को वितरण कहते है। आधुनिक युग में उत्पादन की प्रक्रिया संयुक्त रूप में की जाती है। भूमिपति भूमि देता है, पूंजीपति पूंजी, मजदूर परिश्रम, संगठनकर्ता प्रबंध और साहसी साहस देता है। इन सबके संयुक्त प्रयास से धन उत्पन्न होता है। भूमिपति के

पुरस्कार को लगान, पूंजीपति के पुरस्कार को ब्याज, मजदूर के पुरस्कार को मजदूरी, प्रबंधकर्ता के पुरस्कार को वेतन और साहसी के पुरस्कार को लाभ कहते हैं। वितरण के अर्न्तगत मजदूरी, ब्याज, लगान, वेतन, लाभ आदि की क्रियाएं सम्मिलित की जाती हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र की सर्वाधिक जटिल समस्याओं में से एक है वितरण कीसमस्या। वर्तमान आर्थिक दृष्टिकोण भौतिक सुख समृद्धि और भौतिक कल्याण हेतु अधिकाधिक वितरण पर जो देता है। परिणामतः साहसी अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है, पूंजीपति अधिक ब्याज दर चाहता है, मजदूर अधिक मजदूरी पाना चाहता है। अधिक वितरण की आवधारणा के कारण विभिन्न वर्गों के हित आपस टकराते हैं और अपने हित की रक्षा के लिए प्रत्येक वर्ग शोषण, हिंसा आदि का सहारा लेता है। अतः अहिंसा का अर्थशास्त्र अधिक वितरण की अपेक्षा समवितरण पर जोर देता है ताकि सभी वर्गों में समाज रूप से आय का वितरण हो सके तथा समाज में शांति बनी रहे। भगवानदास केला ने लिखा है संस्कृत में धन को द्रव्य कहा गया है जिसका अर्थ है 'बहने वाला'। जब धन का इस प्रकार वितरण होता रहता है कि समाज में उसका प्रवाह बना रहे तो उससे समाज को लाभ होता है, प्रवाह रूकने पर वह समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।''मजदूरों को उनके काम के अनुसार उचित हिस्सा मजदूरी के रूप में देना, साहसी को लाभ का परीसीमन करना उचित ब्याज दर पर पूंजी उपलब्ध करवाना आदि अहिंसात्मक अर्थशास्त्र के वितरण के संदर्भ में दृष्टिकोण है। वर्तमान में आर्थिक जगत में व्याप्तबेरोजगारी और अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध मानव संसाधन के कारण कम मजदूरी पर भी मजदूर काम करने को बाध्य हो रहे हैं। ऐसे मानव संसाधनों का साहसी भरपूर शोषण करते हैं। यह प्रवृत्ति उत्पादन के प्रायः सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। जिससे मजदूरी के वितरण में शोषण की प्रवृत्ति पायी जाती है जो मालिक और मजदूर दोनों ही वर्गों में असंतोष और संघर्ष उत्पन्न करती है जो विद्रोह एवं हिंसा का रूप ले लेते हैं। अर्थशास्त्र की अहिंसक विचारधारा मजदूरों को उनके उचित आर्थिक हक दिलाने का समर्थन करती है। इसमें आय का एक भाग मजदूरों को उनकी मजदूरी के रूप में वितरीत कर दिया जाता है जिससे दोनों वर्गों के बीच सामंजस्य बना रहता है। यह कहा जा सकता है कि अहिंसक अर्थवयवस्था में मजदूरी के संबंध में आवश्यक यह है कि समाज में कोई भी श्रम करने वाला व्यक्ति ऐसा न रहे जिसका भरण पोषण न हो सके तथा जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। वर्तमान आर्थिक विचारधारा के अनुसार एक साहसी अधिकाधिक लाभ कमाना चाहता है। मुनाफाखोरी की इस प्रवृत्ति के कारण ही अनुत्पादक और विलासिला की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है, हिंसक अस्त्र शस्त्रों को बड़े पैमाने पर उत्पादित किया जाता है। परिणामतः मजदूरों का शोषण होता है, वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती है और उपभोक्ता पर व्यय भार बढ़ता है। अतः अहिंसक विचारधारा लाभ के वितरण में लाभ की मात्रा को सीमित करने पर जोर देती है। अहिंसा के अर्थशास्त्र में लाभ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विनोबा ने लिखा है– मालिकों को चाहिए कि वे अपने धन को समाज के कल्याण के लिए प्राप्त धरोहर मानें, जो कुछ मुनाफा साल भर में हो, उसका एक भाग कारखाने के विकास में लगे और एक भाग मजदूरों में बांटा जाए और एक छोटा भाग मालिक को जाना चाहिए, लेकिन लगायी गयी रकम के ब्याज और मुनाफे के रूप में नहीं, बल्कि उसकी सेवाओं, व्यवस्था कौशल और योग्यता के वेतन के रूप में इसे मिलना चाहिए और उसका यह भाग आपस के समझौते से तय होना चाहिए।'

जो पुरस्कार ऋणी, ऋणदाता को उसकी पूंजी के उपयोग करने के बदले में देता है,उसे ब्याज कहा जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि ब्याज राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो पूंजीपति को मिलता है।धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र में ब्याज लेने की निंदा की गयी है। युरोपीय विचारक प्लेटो और अरस्तु ने भी

ब्याज की निंदा की है। इसका कारण यह था कि उस समय जरूरत मंद आदमी खर्चे के लिए ऋण लिया करते थे और उन्हें ऊंची दर पर ब्याज देना पड़ता था। कालांतर में पूंजी की उत्पादकता स्पष्ट होने के बाद ब्याज की निंदा कम हो गयी।ब्याज के दो पहलू हैं। एक सहयोग का, एक शोषण का। असमर्थ लोगों को संपत्ति उपलब्ध करायी जाए और बदले में थोड़ा बहुत ले लिया जाए। इस प्रेरणा से लोग दूसरों कोसंपत्ति देते और असमर्थ लोग अपना काम चलाते। यही प्रारंभिक प्रेरणा ब्याज की रही होगी।यह सहयेाग का पहलू है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रवृत्ति का जब विकास होता है तब प्रारंभिक प्रेरणा बदल जाती है और नयी प्रेरणा जाग जाती है। सहयोग की प्रेरणा समाप्त हो गयी और स्वार्थ की प्रेरणा बलवान बन गयी। ब्याज देते–देते इतना शोषण शुरू हो गया कि असमर्थ की असमर्थता का दुरूपयोग होने लगा। इस दृष्टि से ब्याज निन्दनीय बन गया।आज के संदर्भ में ब्याज के साथ जो शोषण की प्रवृत्ति जुड़ गयी है उसे समाप्त करने की दिशा में कोई कदम उठे – यह अहिंसा के अर्थशास्त्र का उद्देश्य है। अल्प विकसित देशों में व्याप्त गरीबी और दरिद्रता का एक कारण इस तरह का शोषण भी है। दरिद्रता के एक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेस्टर आर. ब्राउन लिखते हैं– ''दुर्भाग्य से, यह आर्थिक अलगाव नहीं है। यह तो एक मानवीय स्थिति है, निराशा है, शोक और पीड़ा हैं। द्ररिद्रता निराशा है ऐसे पिता की जो दरिद्र देश में उत्पन्न हुआ है। जिसे सात व्यक्तियों के परिवार का पालन करना है पर जो बेराजगारी की बढ़ती भीड़ में शामिल होता है और जिसके सामने बेरोजगारी की क्षतिपूर्ति की कोई संभावना नहीं है। दरिद्रता लालसा है एक ऐसे नवयुवक बालक की, जो गांव के स्कूल के बाहर तो खेलता है पर उस स्कूल में प्रवेश नहीं कर सकता क्योंकि उसके माता–पिता के पास पाठ्यपुस्तकें खरीदने को पैसे नहीं है। दरिद्रता उन माता–पिता का शोक है जो अपने तीन वर्ष के बालक को साधारण सी बचपन की बीमारी से मरते तो देख सकते हैं पर इलाज नहीं करा सकते है''।

अतः अहिंसा के अर्थशास्त्र के अनुसार ब्याज की दर कम हो जिससे उत्पादक कोपूंजी प्राप्त करने में अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है फलतः वस्तु के उत्पादन मूल्य पर प्रभाव नहीं पड़ेगा, उपभोक्ताओं को कम मूल्य पर वस्तु प्राप्त होती है। ब्याज की दर कम होने से शोषण की प्रवृत्ति भी विकसित नहीं होगी परिणामस्वरूप में शांति, सौहार्द के साथ सभी की आवश्यकताएं पूरी होगी। यही स्थिति लगान के संबंध में है।

1-8 xkeh.k vFkZ;oLFkk dk lq>ko

अहिंसात्मक अर्थशास्त्र की यह अवधारणा है कि यदि संपूर्ण विश्व सुखी रहना चाहताहै तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था अर्थात् भौतिक जीवन के आधार को पुष्ट बनाना होगा। हम तभी सुखी हो सकते हैं जब ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुख और समृद्धि की ओर बढ़े। आधुनिक विश्व का सर्वव्यापी दोष है– शहर और गांव के बीच संपत्ति, शक्ति, संस्कृति, आकर्षण और आशावादिता आदि सभी दृष्टियों से असंतुलन। शहरों का तो आवश्यकता से अधिक विस्तार हो गया है जबकि ग्रामीण क्षेत्र क्षीणकाय हो गये हैं। शहरी संस्कृति सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रही है और ग्रामीण जीवन नीरस लगने लगा है। किन्तु फिर भी यह अटल सत्य है कि जिस प्रकार स्वस्थ मस्तिष्क का निवास स्वस्थ शरीर में होता है उसी प्रकार शहरों का कल्याण भी ग्रामीण क्षेत्रों के कल्याण पर निर्भर करता है। अथाह संपत्ति के होते हुए भी शहर केवल गौण उत्पादक है जबकि संपूर्ण आर्थिक जीवन के आधार का प्राथमिक उत्पादन गांवों में होता है। आधुनिक अर्थव्यवस्था के सम्मुख संभवतः सबसे बड़ा काम शहरी व ग्रामीण जीवन के बीच समुचित संतुलन की स्थापना करना है। प्रश्न सिर्फ कृषि उपज बढ़ाने का ही नहीं है जिससे की संसार की भूख मिटाई जा सके अपितु बड़े पैमाने पर शहरो की तरफ हो रहे पलायन

और बेरोजगारी की समस्या को भी दूर करना है। जवाहरलाल नेहरू ने इस संबंध में कहा था– ''औद्योगिकरण हम कितना ही शीघ्र क्यों न बढ़ायें, फिर भी हम अपने लाखों करोड़ों लोगों को उसमें कैसे काम दे सकेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आता। हमारे कारखानों में बहुत हुआ तो दो करोड़, तीन करोड़ या उससे अधिक कुछ लोग काम करेगें, फिर भी जो बचेंगे, उनका क्या? जब तक गृह उद्योग यानि छोटे पैमाने पर या सहकारी पद्धति से चलने वाले उद्योग खड़े करके बेकारों से काम नहीं लिया जाएगा तब तक हम उनका पूरा उपयोग नहीं कर सकेंगे।''

अतः अहिंसा का अर्थशास्त्र ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए, ग्रामोद्योगों के विकास पर बल देता है। ग्रामोद्योगो से जहां एक ओर मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है वहीं इनकी पद्धति विकेन्द्रित होने के कारण श्रम का उचित प्रयोग होता है, स्वावलम्बन और शरीर श्रम की प्रतिष्ठा होती है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लाभों को अमेरिका और इंग्लैण्ड आदि औद्योगिक देश भी अब स्वीकारने लगे है। भारत जैसे देश में जहां आबादी का वृहद भाग गावों में निवास करता है और मानव संसाधन बहुतायत में उपलब्ध है वहां इनकी उपयोगिता और आवश्यकता में कोई सन्देह नहीं है। इसी संदर्भ में बांग्लादेश के अर्थशास्त्री मोहम्मद युनुस को 'ग्रामीण बैंकिग' को प्रोत्साहन देने के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया था। अहिंसक अर्थव्यवस्था कृषि आधारित औद्योगिक संस्कृति के विकास को प्रोत्साहित करती है जिससे प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध करवा सके। अहिंसक अर्थव्यवस्था का मूल कार्य विकास के प्रयत्नों को उचित दिशा देकर कारगर बनाना है जिससे कि उन्हें संसार के गरीबी के केन्द्र गांवों तक पहुंचाया जा सके। यदि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विघटन जारी रहा तो चाहे कितना की पैसा क्यों न खर्च किया जाए, हम सर्वनाश से नहीं बच सकते। विकासशील देशों के ग्रामीण लोगों को स्वावलंबी बनने में सहायता दी जाए तो इसमें सन्देह नहीं कि हर बड़े शहर के चारों और विशाल झोंपड़–पट्टियां और गन्दी बस्तियों के बने बिना, कष्टदायी निराशाओं और स्थितियों के बने बिना और कोई रक्त रंजित क्रांति हुए बिना वास्तविक विकास होगा। शुमाकर ने कहा था– ''हमें खेती में लगे लोगों की संख्या को कम करने के उपाय खोजने की बजाय ऐसी नीतियां बनानी होगी जिनसे ग्राम संस्कृति का पुर्ननिर्माण हो, अधिकाधिक लोगों को भूमि की सहायता से पूर्णकालिक या अशंकालिक जीविकोपार्जन के अवसर मिलें और भूमि से संबंधित हमारे सारे कार्य स्वास्थ्य, सौन्दर्य और स्थायित्व के तीन आदर्शों की ओर अभिमुख हो।''

1-9 i;koj.k lkis{k fodkl

वर्तमान अर्थतंत्र पर्यावरण के प्रति संवेदनशील नहीं है। बढ़ती विकास की गति ने पर्यावरणीय संतुलन को नजर अंदाज किया है, जिसके फलस्वरूप अनेक भौतिक एवं सामाजिक विकृतियां उत्पन्न हुई हैं, जिनके चलते जीवन की गुणवत्ता के साथ साथ मानव अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत सी सभ्यताएं इसलिए लुप्त हो गयी कि उन्होंने पर्यावरण का एक सीमा से अधिक दोहन किया। सभ्य मानव लगभग सदा से ही अपने पर्यावरण पर अस्थायी प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त करता रहा हैं। उसकी मुख्य कठिनाइयां तब प्रारंभ हुयी जब वह इस भ्रम का शिकार हो गया कि उसका प्रभुत्व अस्थायी नहीं बल्कि स्थायी है। मनुष्य प्रकृति के नियमों को ठीक से समझने में गलती करते हुए भी अपने आपको 'दुनिया का मालिक' समझने लगा। मानव सभ्य हो अथवा बर्बर–प्रकृति की संतान है, उसका स्वामी नहीं। जब 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग होता है तो मनुष्य स्वयं भी उसके एक अंग के रूप में उसमें सम्मिलित हो

जाता है। लेकिन वर्तमान अर्थशास्त्र की अवधारणा ने इसे भुला दिया है। उसने प्रत्येक प्रवृत्ति को उपभोग और उत्पादन में विभक्त करके रखा है। प्रकृति के प्रत्येक संसाधन– भूमि, जल, प्राणी आदि को उत्पादन का एक माध्यम मानकर व्यवहार किया जा रहा है। परिणामस्वरूप ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन परत का क्षय, तापमान वृद्धि, जैव विविधता का क्षय, विभिन्न प्रकार के प्रदूषण, मौसम परिवर्तन आदि पर्यावरणीय समस्याएं उभर कर आ रही है। संतोषजनक तथ्य यह है कि पर्यावरण के संतुलन के प्रति अब विश्व–स्तर में जागरूकता आने लगी है।

अहिंसा का अर्थशास्त्र ऐसे विकास का समर्थक है जो पर्यावरण सापेक्ष हो। अर्थात् केवल वही विकास मनुष्य के हित में है जो पर्यावरण की रक्षा के साथ होता है। अहिंसक अर्थव्यवस्था का मूल बिना विनाश के विकास (Development without Destruction) है, जिसमें संतुलित और व्यवस्थित नियोजन पर आधारित आर्थिक–सामाजिक विकास निहित है। इस अवधारणा के अनुसार स्थानीय पर्यावरण में उपलब्ध संसाधनों का मानव हित में ऐसे उपयोग किया जाए कि पर्यावरण की गुणवत्ता निरन्तर बनी रहे तथा विकास में बाधा नआये। जीवमंडल की क्षमता के आधार पर संसाधनों का उस सीमा तक दोहन किया जाए कि प्रकृति की सहनशीलता से बाहर न हो, क्योंकि सहनीय सीमा से अधिक संसाधनों का शोषण करने पर ही असंतुलन उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि अहिंसक आर्थिक चिंतन आमजन में ऐसी चेतना का विकास करता है, जो भौतिक विकास के लिए अपने प्राकृतिक परिवेश के मैत्रीपूर्ण उपयोग की भावना बनाए रखती है। आधुनिक युग में प्रचलित 'विकास की मर्यादा'' (Limits to Growth) और सतत् विकास (Sustainable Development) के सिद्धांत इसी के पक्षधर है। सतत् विकास का अभिप्राय ऐसे विकास से है, जो मानव समाज की नियतकालिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्रको अपना लक्ष्य न माने वरन् भावी पीढ़ियों के लिए भी विकास का आधार बना रहे। सतत् विकास को परिभाषित करते हुए लिखा गया है– ''भावी पीढ़ी की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता में ह्रास किये बिना वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को पूरा करना ही सतत् विकास है।''सतत् विकास की अवधारणा कुछ सिद्धांतों पर आधारित है, जो अहिंसा के अर्थशास्त्र के भी तत्व है। वे सिद्धांत हैं –

- सामुदायिक जीवन की देखभाल एवं सम्मान।
- मानव जीवन की गुणवत्ता में सुधार।
- पृथ्वी की सहन क्षमता एवं विविधता का संरक्षण करना।
- अनव्यकरणीय संसाधनों की गुणवत्ता ह्रास को कम करना।
- पृथ्वी की निर्वाहन क्षमता का बनाए रखना।
- व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा नियमों में परिवर्तन।
- सक्षम समुदायों द्वारा अपने पर्यावरण की देखभाल करना।
- समग्र विकास तथा संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय आधार तैयार करना।
- विश्वव्यापी गठबंधन का निर्माण करना।

अहिंसा का अर्थशास्त्र पर्यावरण के ऐसे सकारात्मक संरक्षण पर बल देता है, जिसमेंपर्यावरण के जैविक तथा अजैविक घटकों के रक्षण (Preservation), अनुरक्षण (Maintanas), पुर्नस्थान (Rehabiliation), दीर्घकालीन दोहन एवं अभिवृद्धि को समग्र रूप मे महत्व दियागया है। अहिंसात्मक अर्थशास्त्र पर्यावरण को

न्यूनतम हानि पहुंचाने वाली प्रौद्योगिकी के विकास, जनसंख्या नियंत्रण, संसाधन संरक्षण, भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संसाधनों के वर्तमान उपयोग की रणनीति बनाने पर आधारित है।

उपरोक्त समस्त विवेचन के आधार पर अहिंसा के अर्थशास्त्र के मूल तत्व स्पष्ट हो जाते है। नैतिकता और मानवीय मूल्यों पर आधारित यह आर्थिक विचारधारा उन सभी तत्वों को प्रश्रय देती है जो वास्तविक मानव कल्याण को पुष्ट करते हों। विवेचित घटकों के अतिरिक्त भी कुछ तत्वों को अहिंसा के अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया जाता है जैसे– जीवनकी गुणवत्ता से जीवन स्तर पर मापन, स्वावलंबन को प्रमुखता, स्वदेशी को प्रोत्साहन, श्रम आधारित उद्योगों को प्रश्रय, सत्ता, शक्ति एवं उद्योगों का विकेन्द्रीकरण आदि। यद्यपि ये तत्व विवेचित तत्वों में अप्रत्यक्ष रूप से समाहित है। अहिंसा के अर्थशास्त्र के मूल तत्वों की व्याख्यासे इस आर्थिक व्यवस्था का संक्षिप्त प्रारूप स्पष्ट हो जाता है। इन तत्वों के आधार पर अहिंसक अर्थव्यवस्था के स्वरूप को निम्नतः स्पष्ट किया जा सकता है :–

- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें न धन का अभाव हो न ही प्रभाव।
- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें धन साधन के रूप में सभी को उपलब्ध हो, किन्तु धन किसी के भी जीवन का साध्य न बन जाए।
- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें किसी का भी शोषण न हो किन्तु प्रत्येक को अपनी योग्यतानुसार अर्थ के उत्पादन और अर्थ के अर्जन का अवसर भी मिले। कोई भी व्यक्ति व वर्ग विलासिता को इस सीमा तक न अपनाए कि उसके जीवन की तेजस्विता ही मंद हो जाए।
- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें धन को प्राथमिक आवश्यकता के रूप में मान्यता तो मिले किन्तु जीवन के प्रेम, करूणा, सहयोग, शांति और स्वतंत्रता जैसे के उच्च आदर्श दृष्टि से ओझल न कर दिए जाए।
- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें धन कार्य करने की सुविधा प्रदान करने का साधन तो बने पर भ्रष्टाचार का जन्मदाता न बने।
- ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें प्राकृतिक संसाधनों का दोहन तो हो किन्तु शोषण न हो ताकि हम प्रकृति से जितना लें, उतना दे भी सकें और आर्थिक विकास पर्यावरण प्रदुषण के कारण सुदूर भविष्य में भी हमारा जीवन दुष्कर न बना दे।

2- vfgald vFk0;oLFkk e mi;kx (miHkkx)

तू करोड़ों खुशी से कमा। लेकिन समझले, तेरा धन सिर्फ तेरा नहीं, सारी दुनिया का है। इसलिए जितनी तेरी सच्चे जरूरतें हैं, उतनी पूरी करने के बाद जो बचे, उसका उपयोग समाज के लिए कर।

– गांधीजी

2-1 mi;kx dk egÙo

उपयोग का महत्व उत्पादक तथा उपयोक्ता दोनों की दृष्टि से है। पहले उत्पादक की बात लीजिए। आदमी वैसी ही चीजें बनाता या पैदा करता है, जो या तो स्वयं उसके काम आयें, या जिन्हें दूसरों को देकर उनसे वह अपनी जरूरत की चीजें ले सकें। इस प्रकार यह आवश्यक है कि हम जो वस्तुएं उत्पन्न करें, वे ऐसी हों, जिनका उपयोग होता हो। हम अनुपयोगी वस्तुओं का उत्पादन न करें। साथ ही यह भी विचार रखना

चाहिए कि हम अपनी सुविधा या लाभ के लिए ऐसी वस्तुओं का उत्पादन न करें, जो लोकहित की दृष्टि से हानिकर हों। इस प्रकार उत्पादकों के लिए उपयोग का विषय बहुत विचारणीय तथा महत्त्वपूर्ण है।

दूसरी ओर उपयोग करने वालों की दृष्टि से भी यह विषय कम महत्त्व का नहीं। यदि हम आवश्यक वस्तुओं का उपयोग न करें तो हमारी जीवन–शक्ति क्षीण होने से उत्पादन–क्षमता भी कम हो जाती है। ऐसी दशा में हमें अपने खाने–पहनने को भी पूरा नहीं मिल सकता। इसका परिणाम यह हो सकता है कि अंतः हम जीवित ही न रहें। फिर, प्रायः उपयोक्ताओं की रुचि और इच्छाओं को देखकर ही उत्पादक तरह–तरह की वस्तुएं बनाते हैं। यदि देश में शौकीनी, भोग विलास और ऐश्वर्य आदि का सामान बहुत बड़े परिमाण में बनाया जाता है तो इसके लिए उत्पादक तो दोषी हैं ही, पर उसका मुख्य दायित्व उन लोगों पर है जो इन चीजों का उपयोग करते हैं। उत्पत्ति की बागडोर उनके ही हाथ में है; वे अपनी सुरुचि और संयम का परिचय देकर देश के उत्पादकों का उचित पथ–प्रदर्शन और नेतृत्व कर सकते हैं। इन बातों से उपयोग का महत्त्व स्पष्ट है।

2-2 mi;kx dk y{;] l[k dh izkfIr

उपयोग सम्बन्धी विविध बातों का विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि उपयोग का क्या लक्ष्य है, अथवा क्या होना चाहिए। मनुष्य में जीवित रहने की स्वाभाविक अभिलाषा है, पर वह सुखपूर्वक जीना चाहता है, दुःख या क्लेश भोगते हुए नहीं। वह विविध कार्य इसीलिए करता रहता है कि उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, उसका जीवन आनन्दमय हो। प्रत्येक व्यक्ति आनन्द की खोज में है, उसकी सारी दौड़–धूप का उद्देश्य इसी की प्राप्ति है। हम खाना खाते हैं तो सुख के लिए, कपड़ा पहनते हैं तो सुख के लिए, मकान बनाकर रहते हैं तो सुख के लिए। अन्य तरह–तरह के पदार्थों के उपयोग करने में भी हमारा हेतु यही रहता है। मनुष्य जाति आरंभ में इनी–गिनी वस्तुओं का उपयोग करती थी, धीरे–धीरे उपयोग के लिए नयी–नयी वस्तुओं का आविष्कार किया गया। 'सभ्यता' की वृद्धि के साथ उपयोग में आने वाली वस्तुओं की संख्या या परिमाण बढ़ता गया। आजकल के साधारण ग्रामीण के भी रहन–सहन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा होने वाला उपयोग कितना बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है। यह प्रगति सुख–प्राप्ति की लालसा से की गयी है। इस प्रकार उपयोग का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है।

2-2-1 fgrdkjh vkj LFkk;h l[k

प्रायः सुख से हम ऐसे ही सुख का आशय लिया करते हैं, जो खाने पहिनने, सूंघने या सुनने आदि से मिलता है। यह इन्द्रिय–सुख या शरीर–सुख है, और कितने ही आदमियों के लिए यही सब–कुछ नहीं, तो बहुत–कुछ होता है। परंतु वास्तव में मनुष्य केवल उसका शरीर नहीं है, और उसका सुख केवल शारीरिक सुख में ही नहीं समा सकता। शरीर–सुख बहुधा क्षणिक या अस्थायी होता है। अनेक बार तो उसके बाद बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। हम जीभ के स्वाद से जब खूब भोजन कर लेते हैं तो पहले तो सुख मालूम होता है, पर पीछे बीमार पड़कर अपने किये पर पछताते हैं। श्री काका कालेलकर ने कहा है–''सुख की चाह तो सबों को है, लेकिन सब लोग सुख को पहचानते नहीं हैं। इसीलिए भगवान को अपने गीता शास्त्र में सुख का कुल विवेचन करना पड़ा। उन्होंने सुख के तीन प्रकार बताये हैं और उनमें से जो सुख सबसे अधिक हितकारी, स्थायी और उन्नतिकर है, उसे सात्विक सुख कहा है; और उसकी व्याख्या करते हुए कहा कि जो शुरू में जहर के जैसा कड़वा और अरुचिकर मालूम होता है, लेकिन अंत में अमृत के जैसा स्वादिष्ट और कल्याणकारी है, वही

सात्विक सुख है। हमारे सामाजिक जीवन में न्यायनिष्ठा, सदाचार और विश्वबंधुत्व शुरू में कड़वा सा लगता है, स्वार्थ का विनाशक सा मालूम होता है, लेकिन अंत में वही सुखमय और अमृतमय है। उपनिषद के ऋषि कहते हैं कि जिनमें हिम्मत नहीं हैं, वे अल्प सुख को–प्रेय को–पसन्द करते हैं; और जो सयाने हैं, दीर्घदर्षी हैं, वे स्थायी सुख को सर्वसुख को, श्रेय को पसन्द करते हैं। महात्मा जी ने हमें हमेशा इस श्रेय–सुख का ही रास्ता बताया है।''

संसार में कुछ आदमी भावी जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया करते हैं और कुछ तो अगले जन्म के सुख के लिए तरह–तरह के दान–धर्म, व्रत, उपवास आदि भी करते हैं, तथापि प्रायः आदमी तात्कालिक सुखप्राप्त करने का प्रयत्न करता है, चाहे वह अल्पकालीन ही हो। इस प्रकार वह सोचता है कि आज का दिन, वर्तमान समय अच्छी तरह मौज से बीते। वह कल की, भविष्य की चिंता नहीं करता। वह भावी सुख के लिए, चाहे वह दीर्घकालीन ही हो, आज के सुख या आराम का त्याग करना नहीं चाहता। इस प्रकार आदमी भोग विलास और फैशन या शौकीनी का जीवन बिताने का इच्छुक रहता है। इसमें जो सुख प्रतीत होता है, वह अल्पकालीन ही होता है; पीछे इसकी आदत पड़ जाने पर इसकी अधिकाधिक आवश्यकता होने लगती है, जरूरतें बढ़ती जाती हैं, और पूर्ति न होने से शरीर को ही नहीं, मन को भी कष्ट होता है। इसलिए हमें चाहिए कि विविध पदार्थों का उसी सीमा तक उपयोग करें, जितना अत्यन्त आवश्यक हो, अर्थात् भोग–विलास, शौक, नशे आदि के लिए उपयोग न करें। हम उपयोग में दूरदर्शिता से काम लें, जिससे इस समय कुछ असुविधा भी सहकर, अपने तात्कालिक सुख में कुछ कमी करके भी पीछे दीर्घ काल तक सुख पायें। उदाहरण के लिए आदमी अपना द्रव्य क्षणिक सुख देने वाले मादक पदार्थ में खर्च न कर पौष्टिक भोजन में करे, जिससे शरीर को वास्तविक और दीर्घकालीन लाभ हो। इसी प्रकार धन खर्च करने के अन्य उदाहरण लिये जा सकते हैं।

2-2-2 l¡[k dk {k=

मनुष्य एकाकी नहीं, सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के सुख–दुख का ध्यान रखना होता है। समाज के सुख में उसका सुख है, और समाज के दुःख मुं उसका दुःख है; भले ही वह इस बात को न समझे या न विचारे। माँ अपने बच्चों को सुख देने के लिए स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट उठाती है, और इसमें सुख का अनुभव करती है; कारण बच्चों का सुख माँ का अपना सुख है। स्त्री–पुरुष एक दूसरे को सुखी करने के लिए उत्सुक रहते हैं, यह कौन नहीं जानता। इसी तरह हम परिवार के अन्य सदस्यों के सुख में अपना सुख मानते हैं। हमारे विचार का क्षेत्र बढ़ता है तो हम अपने मुहल्ले, ग्राम या नगर के लिए सुख के साधन जुटाने की बात सोचते हैं और आगे बढ़ कर, हम देश–प्रेम या राष्ट्र–भक्ति आदि का विचार करते हैं। हमारे विकास की यही चरम सीमा नहीं है। इसके आगे की मंजिल विश्वबंधुत्व या मनुष्य–मात्र का भाईचारा है, जिसे 'सर्वे सुखिनः भवन्तु' या सर्वोदय में प्रकट किया गया है। आदर्श तो 'सर्व भूत हिते रतः' अर्थात् प्राणी–मात्र के सुख का विचार रखना है। अस्तु, मनुष्य के सुख का क्षेत्र, उसकी ज्ञान–वृद्धि के साथ–साथ बढ़ता जाता है; यहां तक कि उसे यह अनुभव होता है कि यथा–संभव उसे सबके सुख का ख्याल रखना चाहिए, किसी को भी कष्ट न दिया जाय; यहां तक कि वृक्षों और वनस्पति आदि की भी रक्षा और वृद्धि तथा खनिज आदि प्राकृतिक पदार्थों का भी संरक्षण आवश्यक है। अस्तु, इस विषय के विस्तार में न जाकर हमें यहां यही कहना है कि मनुष्य के सुख का क्षेत्र विश्वव्यापी है, उसे छोटे दायरे में सीमित करना उसके अज्ञान का सूचक और उसके वास्तविक

तथा दूर के स्वार्थ में बाधक है। आदमी को चाहिए कि अपने सामने उपयोग का लक्ष्य स्थायी, हितकर और सात्विक सुख अर्थात् श्रेय रखे।

2-3 mi;kx vkj vko';drk,¡

हम अनेक बार अपनी आवश्यकताओं का ठीक विचार न करके ऐसा उपयोग करते हैं, जिससे हमें क्षणिक अर्थात् थोड़ी देर का ही सुख मिलता है, और पीछे बहुत कष्ट उठाना पड़ता है, हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, मन में विकार पैदा होता है, हमारा विकास रुक जाता है और समाज–हित में बाधा होती है। इससे स्पष्ट है कि आवश्यकताओं का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आजकल मनुष्य ने अपनी भौतिक आवश्यकताएं बहुत बढ़ा रखी हैं, औश्र वह उन्हुं बढ़ाता ही जाता है। आवश्यकताओं के कम या ज्यादा होने के आधार पर समाज में बहुत भेद–भाव उपस्थित है। जिन आदमियों को अधिक आवश्यकताएं पूरी करने के साधन प्राप्त हैं, उन्हें ऊँचे वर्ग का माना जाता है, और दूसरों को नीचे वर्ग का। इस प्रकार का भेद बहुत अनिष्टकारी है। गांधीजी ने कहा है–'किसी भी उच्च वर्ग और आम जनता के, राजा और रंक के बीच के बड़े भारी भेद को यह कहकर उचित नहीं मान लेना चाहिए कि पहले की आवश्यकताएँ दूसरे से बढ़ी हुई हैं। आज के अमीर और गरीब के भेद से दिल को चोट पहुँचती है।'

मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ प्रकाश, हवा, जल, भोजन–वस्त्र और मकान हैं। प्रकाश और हवा को प्रकृति ने सर्वत्र सुलभ किया है, और इन्हें असीमित मात्रा में दिया है, ये सबके ही उपयोग के लिए हैं। अतः इन पर किसी व्यक्ति या संस्था का अधिकार नहीं माना जाना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी को यह अधिकार न होना चाहिए कि अणुबम या कीटाणु बम द्वारा इन्हें दूषित कर सके। यही बात जल के सम्बन्ध में है। जमीन के नीचे से जल खींच कर लाने में परिश्रम की आवश्यकता होती है, इसलिए उस पर व्यक्ति या परिवार का अधिकार मान लिया जाता है, तथापि कुएँ या बावड़ी आदि के जल का उपयोग दूसरे आदमी भी अपनी–अपनी आवश्यकता के लिए करते हैं; इस प्रकार व्यवहार में इस जल पर भी व्यक्तिगत उपयोग के लिए समाज का अधिकार मान्य होता है। फिर प्राकृतिक तालाब नाले नदी आदि तो समाज के हैं ही; और होने भी चाहिए। इसलिए इनके उपयोग में यह ध्यान में रखा जाय कि ये वर्तमान पीढ़ी के लिए ही नहीं, आने वाली पीढ़ियों के लिए भी हैं; इसलिए इनका अंधाधुंध उपयोग न कर मितव्ययिता या किफायत करनी चाहिए।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि के लिए आदमी को श्रम करना होता है, इसलिए इन पर एक सीमा तक व्यक्ति या परिवार का अधिकार मान्य है। पर किसी व्यक्ति और परिवार को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह समाज का अंग है, इसलिए उस पर यह दायित्व है कि वह अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक इनका ऐसा उपयोग न करे जो समाज के व्यापक हित में बाधक हो।

2-3-1 vko';drkvksa dk fu;a=.k

साधारणतया आदमी आवश्यकताओं की पूर्ति में सुख का अनुभव करता है; परंतु जब आवश्यकताएँ अनन्त हों, और नित्य नयी बढ़ती जाती हों तो अनेक आवश्यकताएँ हर दम अतृप्त रहने वाली ठहरीं। ऐसी दशा में आदमी को सुख कैसे मिल सकता है? तो क्या सभी आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाना चाहिए? क्या ऐसा करना संभव या व्यावहारिक है? यदि सब आवश्यकताओं का नहीं, तो कौन–कौनसी या किस प्रकार की आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाना अभीष्ट है?

प्राप्त सुख दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन होने की दृष्टि से आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं–

- जिनकी पूर्ति से व्यक्तिगत तथा सामाजिक लाभ होता है,जैसे अपनी या अपने परिवार की जीवन–रक्षक या निपुणता–वर्द्धक भोजन–वस्त्र तथा शिक्षा आदि की आवश्यकता; दूसरों की भलाई की आवश्यकता, देशोन्नति की आवश्यकता।
- जिनकी पूर्ति से क्षणिक सुख तो अवश्य मिलता है, पर अंत में दुख ही होता है और दीर्घकालीन दृष्टि से समाज और देश को हानि पहुंचती है, जैसे मादक या उत्तेजक पदार्थों तथा विलासिता आदि की वस्तुओं का सेवन, अपने स्वार्थ के लिए हानिकर वस्तुओं का प्रचार या दूसरों का शोषण।

इन दो प्रकार की आवश्यकताओं में प्रथम प्रकार की तो उचित हैं, और उनकी पूर्ति की जानी चाहिए; दूसरे प्रकार की आवश्यकताएँ अनिष्टकारी हैं, इनका नियंत्रण होना आवश्यक है।

2-3-2 eukfuxg ;k bfUn;&neu

जो व्यक्ति अधिक तथास्थायी संतोष और सुख पाना चाहता है, उसे अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना बहुत जरूरी है। हमें अपनी कृत्रिम या ऐसी आवश्यकताओं को नियंत्रित करना चाहिए जो हमारी वास्तविक–शारीरिक, मानसिक और आत्मिक– उन्नति में बाधक हों, जिनसे लोकहित में रुकावट होती हो। अवश्य ही अपनी आवश्यकताओं के नियंत्रण में आदमी को आरंभ में कुछ कष्ट प्रतीत होना स्वाभाविक है, परंतु धीरे–धीरे उसे इसका अभ्यास हो जाता है और उसे वह शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसे मनोनिग्रह या इन्द्रिय–दमन कहा जाता है। इस शक्ति से वह ऐसी आवश्यकताओं का नियंत्रण करे, जिनके कारण वह शौकीनी या भोग विलास के पदार्थों का उपयोग करने को प्रेरित होता है। हमारा आदर्श यह नहीं है कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना–पीना भी बंद कर दो और शरीर को सुखा डालो। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए कि जीवन–यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपयोग करो; पर इसमें विवेक से काम लो, मर्यादा का ध्यान रखो दूसरों के हित का भी विचार करो। जीओ और जीने दो–यही नहीं, दूसरों को जीवित रखने के लिए, समाज के सुख और कल्याण के लिए अपना जीवन बिताओ। वास्तव में यही जीवन है; इसी में सच्चा और असली सुख है।

2-3-3 vko';drk,a eu";d dh ifr"Bk ekid ugh

आजकल प्रायः आदमी के बड़प्पन का माप उसकी भौतिक आवश्यकताओं से किया जाता है। जिस व्यक्ति की आवश्यकताएं जितनी अधिक होती हैं, उतना ही उसे ऊँचे दर्जे का तथा अधिक सभ्य माना जाता है, और समाज में अधिक प्रतिष्ठा दी जाती है। असल में होना यह चाहिए कि जो व्यक्ति समाज की जितनी अधिक सेवा करे और उसकी उन्नति में जितना अधिक सहायक हो तथा अपनी निजी आवश्यकताएँ जितनी कम रखें, उसे उतना ही अधिक सभ्य माना जाय और अधिक आदर–मान मिले।

आजकल तो 'सभ्य' आदमी अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाता ही रहता है; साथ ही जितने पदार्थों की उसे तत्काल जरूरत होती है, उससे भी अधिक अपने पास रखना चाहता है। वह समाज के दूसरे लोगों की जरूरत का ध्यान नहीं रखता। इससे बड़ा अनर्थ हो रहा है। आवश्यकताओं के सम्बन्ध में हमारा आदर्श क्या होना चाहिए– इस विषय में गांधीजी की दी निम्न पंक्तियां पथ–प्रदर्शक हैं–

''यदि मैं कोई ऐसी वस्तु रखता या लेता हूँ जो मेरी तात्कालिक आवश्यकता की नहीं है तो मैं सिकी दूसरे की चोरी करता हूँ। मैं यहाँ तक कहने का साहस करता हूँ कि यह प्रकृति का अपवाद–रहित नियम है कि वह हमारी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में प्रदान करती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक न ले तो संसार में दरिद्रता का लोप हो जाय; संसार का एक भी व्यक्ति भूखों न मरे।''गांधीजी का मत हैकि हमें अपनी आवश्यकताओं में सामंजस्य लाना चाहिए और जनहित के लिए स्वेच्छापूर्वक भूखे भी रहना चाहिए ताकि उनका भोजन–वस्त्र द्वारा भरण–पोषण होता रहे। उपयोग में ऐसा संयम और त्याग–भाव रहने से ही यथेष्ट लोकहित हो सकता है।

2-4 mi;kx lnqi;kx vkj n#i;kx

आवश्यकताओं के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपयोग के बारे में हर एक आदमी को बहुत विचार करने की जरूरत है। यद्यपि, उपयोग वास्तव में वही है, जिससे व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित हो, साधारण तौर पर उसके दो भेद किये जाते हैं– सदुपयोग और दुरुपयोग। सदुपयोग उसे कहते हैं, जिससे उपयोक्ता के साथ समाज या देश को भी लाभ हो। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति पदार्थों का उपयोग इस प्रकार करता है कि उससे उसके जीवन का रक्षण और पोषण होता है, अथवा उसकी सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तो उसके द्वारा किया जाने वाला उपयोग सदुपयोग कहा जायगा। इसी प्रकार समाजोपयोगी संस्थाओं स्कूल, वाचनालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, कृषि, ग्रामोद्योग आदि में सहायता करना सदुपयोग है।

दुर्भाग्य से प्रत्येक देश में दुरुपयोग काफी होता है; भारत में भी इसकी कमी नहीं। कुछ दुरुपयोग तो ऐसा होता है, जिसमें उपयोक्ता की नीयत या उद्देश्य बुरा नहीं होता। वह अपने अज्ञान, आलस्य अथवा लाचारी से अपनी तथा समाज की, दोनों की हानि करता है। इसके कुछ उदाहरण मादक पदार्थों का सेवन, अविवेकता–मूलक दान धर्म, कुरीतियों में होने वाला अपव्यय, झूठी मुकदमेबाजी, सम्पत्ति को गाड़कर रखना, जेवर बनवाना आदि हैं।

दूसरे प्रकार का दुरुपयोग वह है, जिसे उपयोक्ता अपने निजी लाभ, सुविधा या शौकीनी आदि के लिए करता है पर जिससे समाज को हानि पहुँचती है, जैसे बहुत से शौकीन आदमी विलासिता की वस्तुओं का सेवन करते हैं। कितने ही आदमी सड़क के बीच में कूड़ा या मैली वस्तुएं फेंक देते हैं, नालियों में टट्टी फिरते हैं, नल से पानी लेकर उसे खुला ही छोड़ देते हैं, नदी या तालाब में स्नान करते हुए पानी का कुल्ला करते हैं, रेल के डिब्बे में यात्रा करते हुए वहाँ ही थूकते रहते हैं। ये लोग अपनी जरा सी सुविधा के लिए सड़क, नाली, नदी, तालाब या रेल के डिब्बे आदि का दुरुपयोग करते हैं, जिससे समाज की बहुत हानि पहुंचती है।

बहुत से दुरुपयोग का कारण, मनुष्यों की आदतें होती हैं। जब आदमी दूसरे की देखा–देखी, या गलती से एक बार दुरुपयोग करने लग जाता है तो कुछ समय बाद उसे उसकी आदत ही पड़ जाती है; फिर, ज्यों–ज्यों समय बीतता है, वह आदत पक्की हो जाती है और और उसका छूटना कठिन हो जाता है। हरेक आदमी को चाहिए कि बुरी आदतों का शिकार होने से बचे, आरंभ से ही अच्छी संगत में रहे, और सात्विक साहित्य का अवलोकन करे।

2-5 mi;kDrkvk dk dÙk0;

प्रत्येक उपयोक्ता को चाहिए कि वह उपयोग के लक्ष्य का ध्यान रखते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करे। वास्तव में उस पर बहुत जिम्मेवारी है। जिस तरह की वस्तुओं का वह उपयोग करता है, उसी तरह की चीजों की उत्पत्ति देश में अधिक होती है। यदि वह भोग–विलास की सामग्री अधिक काम में लाता है तो देश की भूमि, श्रम और पूंजी इस सामग्री के उत्पादन में लग जाती है, और क्योंकि इनका परिमाण सीमित ही है, इसलिए इनका जितना अधिक भाग भोग–विलास की सामग्री में लगता है, उतना ही जीवन की मूल आवश्यकताओं के लिए कम भाग रह जाताहै, और इससे अनेक आदमियों को अपने जीवन–निर्वाह की आवश्यकताओं से भी वंचित होने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसलिए उपयोक्ता को इस विषय में सतर्क रहना चाहिए कि वह किस–किस प्रकार की वस्तु का उपयोग करता है।

यही नहीं, उसे यह भी सोचना चाकिए कि जिन वस्तुओं का वह उपयोग करता है, उनकी उत्पादन–विधि कैसी है, यह चुराई हुई तो नहीं है, उसके उत्पादन में भूमि और पूंजी का दुरुपयोग तो नहीं हुआ है, अथवा उसमें श्रमियों का शोषण तो नहीं किया गया है, उस उपयोग से समाज में बेकारी आदि तो नहीं बढ़ती है। इस प्रसंग में गांधीजी का यह कथन बराबर याद रखने योग्य है–

''जो वस्तुएँ अत्यधिक शोषित मजदूरों ने उत्पन्न की है, उनको खरीदना और उपयोग करना पाप है। यह भी पाप है कि मैं अमरीका का गेहूँ खाऊँ और मेरा पड़ोसी अनाज का व्यापारी इसलिए भूखा मरे कि उसको कोई ग्राहक नहीं मिलता। इसी तरह मेरे लिए यह भी पाप है कि मैं 'रीजेन्ट स्ट्रीट' में तैयार बढ़िया से बढ़िया कपड़ा पहनूँ जब कि मुझे यह मालूम है कि मैं अपने पड़ोसी कातने वालों और बुनने वालों का तैयार किया हुआ कपड़ा पहनता तो उससे न केवल मेरा तन ढकता बल्कि उनको भी भोजन–वस्त्र मिलता।''

हम अपने नजदीक के ही माल की उत्पादन–विधि आसानी से जान सकते हैं। इसलिए हमें दूर–दूर के स्थानों के माल का उपयोग करना ठीक नहीं। जो व्यक्ति उत्पादन–विधि की बात पर यथेष्ट ध्यान देगा, और इस बात का निश्चय करना चाहेगा कि जिस माल का वह उपयोग करना चाहता है, वह नैतिक दृष्टि से शुद्ध है, उसके लिए आवश्यक है कि उन्हीं वसतुओं से काम चलाये जो उसकी जानकारी के क्षेत्र में बनी हैं। अगर हमारे लिए यह जानना संभव नहीं है कि दूर से आयी वस्तु किस प्रकार के वातावरण में बनी है तो हमें अपना उपयोग खासकर अपने पडोसी या स्थानीय व्यक्तियों की बनायी वस्तुओं तक ही सीमित रखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, जबकि प्रत्येक उपयोक्ता कुछ वस्तुओं का उपयोग करके समाज में उनकी कमी करता है तो उसे उनकी पूर्ति का भी भरसक प्रयत्न करना चाहिए। किसी राज्य में विरासत सम्बन्धी कानून चाहे जो हों, किसी उपयोक्ता का यह सोचना ठीक नहीं है कि मैं तो अपने बाप–दादा की कमाई खाता हूँ, मुझ पर उत्पादन सम्बन्धी कोई जिम्मेवारी नहीं है। उपयोक्ताओं को उत्पत्ति में अपनी शक्ति–भर भाग लेना ही चाहिए।

2-6 lknk thou mPp fopkj

'आधुनिक ढंग के जीवन की कितनी ही चीजें ऐसी हैं, जो सरलता से बनायी जा सकती हैं। परंतु आज वैसा नहीं होता। उदाहरण के लिए दंत–मंजन हर गांव में तैयार हो सकता है; मामूली कागज और स्याही हर तालुके के कस्बे में तैयार हो सकती है; चर्खे और कर्घे के खास तरह के यांत्रिक भाग, उसी प्रकार का दूसरा घरेलू सरंजाम, असबाब आदि जिले के शहर में उतने क्षेत्र के लिए बन सकते हैं; साधारण परिस्थिति में किसी गांव को अपनी खुराक, कपड़े, घर बांधने के साधारण सामान आदि के बारे में दूसरे पर अवलंबित रहने की

कोई जरूरत न होनी चाहिए। लेकिन आज की जीवन–रचना में स्वदेशी का व्रत पालने वाले बम्बई के लोग भी कलकत्ते का दंत–मंजन, केरल का साबुन, आन्ध्र की स्याही, राजस्थान का हाथ–कागज या टीटाघर का मिल–कागज, मद्रास या बंगाल का चमड़े का सामान, पंजाब की ताँत आदि खरीदते हैं, और उन्हीं वस्तुओं को उस प्रांत के लोग दूसरे प्रांत से लेते हैं, यानी बम्बई का दंत–मंजन कलकत्ते में और बंगाल का साबुन केरल में बिकता है। इस तरह माल का निश्कारण यातायात और खराबी होती है। जब आदमी को भोग–विलास की आदत पड़ जाती है तो आवश्यकताओं का नियंत्रण करने से पहले–पहल कुछ कष्ट प्रतीत होता है। पर पीछे जबवह इनके नियंत्रण द्वारा बचाये हुए अपने धन और शक्ति को लोक–सेवा या परोपकार में लगाता है तो उसे ऐसे उच्च कोटि के तथा स्थायी आनन्द की प्राप्ति होती है, जो अन्य प्रकार से संभव ही नहीं। इसलिए हमें हमेशा दूसरों के हित का ध्यान रखते हुए त्याग–भाव से ही वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए।

आदमी सादा जीवन बिता कर लोक–सेवा सम्बन्धी उच्च विचार रखता हुआ स्थायी सुख प्राप्त कर सकता है। सादे जीवन का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य आधे–पेट भोजन करे, या अर्द्धनग्न रहे, अथवा जंगलों पहाड़ों में ही समय व्यतीत करे, मकान आदि ही न बनावे। मनुष्य को जीवन–रक्षक तथा निपुणता–वर्द्धक पदार्थों की अपनी आवश्यकताएं पूरी करते रहना चाहिए। हाँ, शौकीनी या विलासिता के पदार्थों के सेवन पर कड़ा प्रतिबंध लगा देना चाहिए। स्मरण रहे कि यह कार्य अपनी इच्छा सक जान बूझकर होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति साधन–हीनता, दरिद्रता या लाचारी के कारण विलास–सामग्री का सेवन नहीं कर सकता तो उसे सादा जीवन व्यतीत करने वाला नहीं समझना चाहिए। जो आदमी अपने मन से इन वस्तुओं के उपयोग की इच्छा को निकाल देगा, साधन होने पर भी इनका सेवन नहीं करेगा, वही असल में सादे जीवन वाला है।

जो आदमी ऐसा जीवन नहीं बिताता, अपनी जरूरतें बढ़ाता और उन्हें दिन–रात पूरा करने में लगा रहता है, उसे लोकसेवा के लिए सुविधा या समय नहीं मिल सकता, उसका मन भी इस ओर विशेष नहीं जा सकता। लोकसेवा के विचार रखने और उन्हें अमल में लाने के लिए सादा जीवन बिताना, और आवश्यकताएं कम रखना अनिवार्य है। अस्तु, सादा जीवन और उच्च विचार– यही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है, और उपयोग में इसका यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए।

2-7 jgu&lgu dkLrj vkj thou&Lrj

जीवन का स्तर केवल आर्थिक सुविधाओं से ऊँचा नहीं होता, उसमें आदर्श की ओर चलने की प्रेरणा चाहिए। मनुष्य जीवन की सफलता इन्द्रिय–भोग की प्रचुरता में नहीं, किंतु उसके नियंत्रण में है। देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए हम अपनी आवश्यकताए बढ़ाएं– यह अर्थशास्त्र को उलटा समझना है।

–'पुरुशोत्तमदास टंडन

जीवन की उन्नति ही बुनियादी चीज है, जीवन–रिद्धि नहीं। रिद्धि ही वृद्धि तो मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्श और सुप्त व प्रत्यक्ष शक्तियों को कम करके उसके जीवन की उन्नति को ठेस पहुंचा सकती है।

आजकल बहुत से आदमी समाज में सभ्य या धनवान गिने जाने के लिए हमेशा इस फिक्र में रहा करते हैं कि उनका रहन–सहन, खानपान और वेश–भूषा बढ़िया, ऊँचे दर्जे की दिखायी दे। यही कारण है कि काम में आने वाली चीजों की उपयोगिता का विचार मुख्य न होकर यह सोचा जाता है कि वे देखने में अच्छी हों,

खूब बढ़िया, कीमती, विविध प्रकार की या नये–नये ढंग की हो। हमारे उपयोग के पदार्थों की संख्या बेशुमार है, तथा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है; उदाहरण के लिए खाने के वास्ते तरह–तरह के बिस्कुट, डबल रोटी, मिठाइयाँ, अचार, मुरब्बे; बीमारियों से बचने के लिए सैंकड़ो रजिस्टर्ड पेटेन्ट या अनुभूत् दवाइयाँ; सुनने के लिए ग्रामोफोन और रेडियो; देखने के लिए सिनेमा और नाटक आदि; सूंघने के लिए विविध सेन्ट या सुगन्ध वाले द्रव्य; स्वाद या जायके के लिए लेमन–ज्यूस, आइसक्रीम और चुस्की; विश्राम करने के लिए मुलायम गद्दे, तकिये और आराम कुर्सी या कोच आदि; मनोरंजन के लिए उपन्यास, नाटक, कहानियाँ संगीत और चित्रादि। अनेक आदमियों के लिए यह सब कुछ है, और इससे बहुत अधिक है। फिर भी उन्हें संतोष या शांति नहीं।

2-7-1 jgu lgu dk ntk Åpk dju dh vfu"Vdkjh lud

अनेक आदमी अपना रहन सहन ऐसा बनाने की कोशिश करते हैं, जो समाज में ऊचे दर्जे का कहाजाता है। वास्तव में जिसे आजकल ऊँचा दर्जा कहा जाता है, वह ऊँचा नहीं; हाँ, बहुत जटिल या पेचीदा अवश्य है। इसी प्रकार जो रहनसहन नीचे दर्जे का कहा जाता है, उसे सादा रहनसहन कहना चाहिए। अस्तु, जहां साधारण अल्प–मूल्य चीजों से काम चल सकता है, हम बढ़िया, बहुमूल्य वस्तुओं को उपयोग करने में अपना गौरव मानते हैं। इसके उदाहरण हमारे रोजमर्रा के जीवन में पग–पग पर मिलते हैं। दाँत साफ करने के लिए नीम या बबूल की दतवन बहुत उपयोगी होती है; शहरों में जहां इन्हें प्राप्त करने में कुछ कठिनाई है, मिट्टी, राख या नमक आदि से अच्छ दंत मंजन बन सकता है, पर शौकीनी के लिए कीमती 'टूथ ब्रुश' और 'टूथ पेस्ट' चाहिए, जो अगर ठीक तरह इस्तेमाल न किये जायं तो बहुत हानिकर होते हैं। कंकर या कांटों से पांवों की रक्षा के लिए साधारण चप्पल या मामूली जूते काफी हैं पर आदमी तीस–पैंसीस रुपये तक के या इससे भी बढ़िया बूट पहनना चाहते हैं, जिसके साथ जुराब या मोजे भी होने चाहिए, और फिर सारी पोशाक ही उस के अनुसार कीमती हुए बिना शोभा नहीं देती। जहां साधारण कपड़ा अच्छा काम दे सकता है, रहनसहन का दर्जा ऊँचा रखने के अभिलाषी बढ़िया सिल्क आदि का वस्त्र पहनना पसन्द करते हैं, और दो–तीन जोड़ी कपड़ों से संतुष्ट न हो ट्रंक के ट्रंक या अलमारियां भरे कपड़े रखते हैं, इनकी धुलाई और वह कराई में खूब खर्च करते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

2-7-2 jgu lgu dk ntk ^Åpk* gkus ds dkj.k

मनुष्यों के रहन–सहन का दर्जा ऊँचा होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

- आराम और भोग विलास की प्रवृत्ति। मनुष्य की बहुत सी आवश्यकताएं इसलिए होती हैं कि उसमें आराम या सुविधा प्राप्त करने की, तथा भोग विलास की प्रवृत्ति होती है। जिन वस्तुओं से इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती प्रतीत होती है, उनका उपयोग वह सहज ही आरंभ कर देता है और क्रमशः बढ़ाता रहता है।
- अनुकरण–प्रियता। मनुष्य में दूसरों का अनुकरण या नकल करने की आदत होती है। जब समाज में कोई बड़ा या प्रतिष्ठित माना जाने वाला व्यक्ति किसी पदार्थ का उपयोग करता है, तो उसकी देखादेखी उसके पास रहने या उसके सम्पर्क में आने वाले भी उन पदार्थों का सेवन करने लगते हैं। कुछ समय में इन पदार्थों के उपयोग का रिवाज चल पड़ता है। इस बीच में कुछ नये फैशन निकल आते हैं।

- नये–नये फैशन जैसे कुछ खास आदमियों की देखादेखी चलते हैं, ऐसे ही कुछ देशों के अनुकरण के आधार पर भी चलते हैं। यूरोप में फ्रांस नये–नये फैशन चलाने के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारत में अंग्रेजों के शासन के समय इंगलैण्ड का बहुत अनुकरण किया गया; यहां तक कि अंग्रेजों के चले जाने पर भी अनेक आदमियों पर अंग्रेजी फैशन का भूत सवार है। आजकल बहुत से देशों में अमरीका के फैशनों की धूम है; वहां के वेश–भूषा आदि की अनेक स्थानों में नकल की जाती है।
- शहरी जीवन और उद्योगीकरण। फैशन अधिकतर समुदायबद्ध, शहरी और धनी आबादी वाली बस्तियों में चलते हैं। केन्द्रित उत्पादन या यंत्रोद्योग की विपुलता में बस्तियों का ऐसा होना अनिवार्य है। इस प्रकार नये–नये फैशन खासकर पिछले डेढ़ सौ साल में बहुत बढ़े हैं।
- व्यापारियों की स्वार्थमूलक विज्ञापनबाजी। आजकल उत्पादन पर जोर दिया जाता है। नफे को लक्ष्य में रखकर अधिक से अधिक माल पैदा किया जाता है, फिर इसे खपाने के लिए बाजारों की तलाश होती है। झूठी–सच्ची तरह–तरह की विज्ञापनबाजी की जाती है। उससे प्रभावित होकर या धोखे में आकर आदमी अनेक बार अनावश्यक या हानिकारक वस्तुएं भी खरीद लेते हैं।

रहनसहन का दर्जा 'ऊँचा' करने वाली बातें जीवन–स्तर को ऊँचा करने वाली नहीं कही जा सकतीं। भोजन, वस्त्र या वेशभूषा आदि वाला व्यक्ति त्याग, सेवा आदि मानवी गुणों से बहुत कुछ वंचित हो सकता है, और बहुधा होता है।

इसलिए लोगों को चाहिए कि अपने रहनसहन का दर्जा 'ऊँचा' करने और अधिकाधिक आवश्यकताएं बढ़ाने के लिए चिंतित न हों, और अपना जीवन–स्तर ऊँचा उठाने के प्रयत्न में लगें। इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के जीवन–निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हों, जैसे स्वच्छ भोजन, वस्त्र, साफ ताजी हवा वाले मकान, बालकों की शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी यथेष्ट व्यवस्था। इसके अतिरिक्त ऐसे पदार्थों का भी अधिक उपयोग हो, जिनसे मनुष्य की निपुणता बढ़े, वह देश तथा समाज के लिए यथेष्ट उपयोग और सुयोग्य हो। विलासिता की या कृत्रिम वस्तुओं के उपयोग से जीवन–स्तर ऊँचा नहीं होता, उससे तो वह नीचा ही होता है।

किसी देश के कुछ थोड़े से आदमियों का जीवन–स्तर ऊँचा होने से ही, चाहे इससे वह दूसरे देशों में कितना ही प्रसिद्ध हो जाय, वहाँ की जनता का जीवन–स्तर ऊँचा नहीं कहा जा सकता। सब आदमियों का जीवन सुखमय हो, तभी यथार्थ में देश में जीवन–स्तर का ऊँचा होना माना जा सकता है।

2-7-3 thou&Lrj ij iHkko Mkyus okyh ckrs

अपना जीवन–स्तर ऊँचा करने के लिए हमें जानना चाहिए कि इस निम्न बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है–

2-7-3-1 LokLF;

मनुष्यों की मूल आवश्यकताएं– भोजन, वस्त्र, आवास–पूरी होने के अतिरिक्त उनका स्वास्थ्य ठीक रहने का प्रबन्ध होना चाहिए। इसके लिए, दूसरी बातों के साथ, लोगों की शारीरिक ही नहीं, मानसिक स्वच्छता या सफाई की भी बहुत जरूरत होती है। अक्सर आदमियों की निजी या पारिवारित स्वच्छता की ओर ध्यान दिया

जाता है; वह काफी नहीं है। सामूहिक अर्थात् मुहल्ले और बस्ती की भी सफाई होती रहनी चाहिए, इस दिशा में बहुत सुधार होने की आवश्यकता है।

2-7-3-2 bfn;&fuxg vkj l;e

जो आदमी भोग–विलास, फैशन और शौकीनी में नहीं फंसता, सादा जीवन और उच्च विचार का जीवन व्यतीत करता है, उसे अपनी सारी शक्ति और समय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खर्च करना नहीं पड़ता। वह इनकी कुछ बचत कर सकता है, और उस बचत को वह अपना जीवन–स्तर ऊँचा करने में लगा सकता है। फिर, संयमी पुरुश के संतान कम होती है, इससे उनके भरण पोषण और शिक्षण के लिए अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था कर सकता है। इससे संतान का भी जीवन–स्तर ऊँचा होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

2-7-3-3 f'k{kk

शिक्षा शब्द का उपयोग हम व्यापक अर्थ में कर रहे हैं, केवल अक्षर–ज्ञान के अर्थ में नहीं। अस्तु, शिक्षित व्यक्ति विचारशील और दूरदर्शी होते हैं, उन्हें अपने प्रति, संतान के प्रति तथा समाज के प्रति पालन किये जाने वाले कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है, और वे अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह निभाते हैं। वे अपना ही जीवन–स्तर ऊँचा नहीं रखते, वरन् अपनी संतान का और समाज के अन्य व्यक्तियों का भी ऊँचा करने में सहायक होते हैं।

2-7-3-4 ykdlsok dh Hkkouk

जिस व्यक्ति में लोकसेवा की भावना जितनी अधिक होगी, उसका जीवन–स्तर उतना ही ऊँचा माना जायगा। इसलिए आवश्यकता है, लोगों में दूसरों की सहायता, सहानुभूति का विचार हो; वे त्याग–भाव से, सादगी से रहने का अभ्यास करें, अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के हित–साधन का प्रयत्न करें, सत्संग और अच्छे साहित्य का अवलोकन करें।

2-7-4 thu dh dyk lh[ku dh t:jr

हमें उपयोग का उद्देश्य या लक्ष्य अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। विविध पदार्थों का उपयोग हमें जीवन के विकास की दृष्टि से करना है। हमें जीवन की कला सीखनी है। हम आनन्दपूर्वक रहें, दूसरों के लिए आनन्द, प्रेम, मित्रता और सेवा तथा त्याग की भावना रखें। ये बातें उस समय तक असंभव हैं, जब तक हम अधिक से अधिक कीमती चीजों का उपयोग करने की चिंता से ग्रस्त हैं। जब हम अपने जीवन–व्यवहार को कुछ सरल बनायेंगे, जब हम कृत्रिम, दिखावटी या बनावटी आडम्बर से मुक्ति पायेंगे, तभी हम अपनी संकीर्ण और क्षुद्र परिधि से निकल कर महत् जीवन का अनुभव कर सकेंगे। इस समय जीवन हमारे सामने गौण है; हम जीते हैं तो सुंदर बढ़िया चीजें खाने के लिए, और तरह–तरह की वेश–भूषा करने के लिए। हमारा समय शारीरिक या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में जा रहा है, और उनके पूरा न होने से हमारे मन में क्षोभ है, झुंझलाहट है। जब हम क्षणिक इन्द्रिय–सुख को लात मारकर सच्चे जीवन को प्रधानता देंगे, और जीवित रहने के लिए ही विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, तभी हमें जीवन के वास्तविक सत्य का ज्ञान होगा और हम जीवन की कला सीखने वाले होंगे।

3- vfgld vFkZ;oLFkk esa mRiknu

भारत का, और हाँ, संसार का अर्थ–विधान ऐसा होना चाहिए कि किसी व्यक्ति को भोजन और वस्त्र के अभाव का कष्ट न हो; दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को अपना निर्वाह करने के लिए यथेष्ट कार्य पाने योग्य होना चाहिए।

–गांधीजी

विविध वस्तुओं का उत्पादन इसलिए किया जाता है कि उनके द्वारा लोगों की आवश्यकताएं पूरी हों। आवश्यकताएं अनेक हैं, पर वे खासकर दो तरह की होती हैं–

- बुनियादी, आधारभूत या मुख्य और
- कृत्रिम, दिखावटी या गौण।

बुनियादी जरूरतों में प्रकृतिदत्त पदार्थों के अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्यादि का समावेश है। कृत्रिम आवश्यकताओं की तो कोई सीमा ही नहीं; इनकी पूर्ति से जीवन–निर्वाह या विकास नहीं होता, ये मौज–शौक या ऐशोआराम के लिए होती हैं।

3-1 mRifÙk e: i/kkurk

प्रत्येक आदमी को पहले ऐसी ही चीजें उत्पन्न करनी चाहिए, जो बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने वाली हों। परंतु वर्तमान अर्थव्यवस्था में अनेक आदमी ऐसे ही पदार्थों के उत्पादन में लगे रहते हैं, जिन्हें प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए जबकि जनता के खाने के लिए अन्न की कमी है, वे अपनी भूमि में जूट या कपास पैदा करते हैं, जिससे वे इन पदार्थों को बेचकर अन्न की अपेक्षा अधिक मुनाफा प्राप्त कर सकें। यह व्यवहार अनुचित और अमानवीय हैं।

लोगों के ऐसे व्यवहार का कारण उनका उनका क्षुद्र स्वार्थ है। वे ऐसी ही वस्तु की उत्पत्ति करते हैं, जिससे उन्हें अधिक से अधिक नफा हो। उनका मुख्य लक्ष्य अपने मुनाफे का रहता है, उनके कार्य से समाज का, और अनेक दशाओं में स्वयं उनका भी हित होता है या नहीं, अथवा उनकी उत्पादन–विधि से श्रमियों के कुशल–क्षेम की वृद्धि होती है, या नहीं, इसकी वे परवाह नहीं करते; या यों कह सकते हैं कि उतनी ही परवाह करते हैं, जितनी कानून–भंग के दोषी होने से बचने के लिए करना जरूरी हो। असल में, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि बाहरी दबाव के बिना, स्वेच्छा से ही नीति का पालन करें, और मुनाफेखोरी की भावना न रखें।

मनुष्य को अपने अन्य कार्यों की भांति उत्पादन में भी सेवा–भाव रखना चाहिए। जो व्यक्ति सेवा–भाव से उत्पादन करता है, उसे अनेक दशाओं में तरह–तरह की असुविधाएँ और कष्ट होता है। पर यह होते हुए भी, यदि वह विवेकशील है तो उसे अपने कार्य में अद्भूत् आनन्द मिलता है, जो दूसरे व्यक्तियों को कभी प्राप्त नहीं होता। बात यह है कि जितना हम दूसरों से प्रेम करते और सद्भावना का परिचय देते हैं, उतना ही हमारा आत्मिक विकास होता है, हमें अपने जीवन की उपयोगिता प्रतीत होती है और हम सात्विक तथा स्थायी मानसिक सुख–शांति का अनुभव करते हैं।

3-2 mRifÙk d: mís'; d: vuqlkj mRiknu&fof/k

मुनाफेखोरी की भावना से उत्पादन करने वाला यह विचार नहीं करता कि जो चीज मैं बना रहा हूँ, वह वास्तव में आवश्यक है या नहीं, अथवा उसका कितना परिमाण उपयोगी होगा। असल में उसके लिए वस्तु का

बनाना मुख्य बात नहीं, उसकी नजर तो ग्राहकों की जेब पर रहती है, किस प्रकार उनका पैसा उसके पास आ जाय। इसमें सफलता पाने के लिए वह किसी भी कुटिल या अनैतिक उपाय काम में लाने से परहेज नहीं करता। वह उत्पादन में घटिया से घटिया सामग्री काम में लाता है, क्योंकि वह सस्ती मिलेगी, चाहे उससे उपयोक्ता को स्वास्थ्य–हानि ही हो। वह अपने बनाये पदार्थ का रूप, रंग, गंध ऐसा रखता है कि ग्राहक उसकी ओर आकर्षित हो जाय। उदाहरण के लिए हलवाई अपनी मिठाइयों में आटा या मैदा बहुत खराब काम में लाते हैं, घी की जगह वनस्पति–तेल या दूसरी सस्सी चीज डालता है, पर उसमें रंग डालकर तथा गुलाब जल आदि छिड़क करउसके दोशों को ढक देता है और ग्राहकों को आसानी से फँसा लेता है।

इसके विपरीत, सेवा–भाव से उत्पादन करने वाले कि विधि दूसरी ही होगी। वह मिठाई बनाने के लिए अच्छा बढ़िया आटा तैयार करायेगा जिसमें किसी तरह की मिलावट न हो। वह घी भी शुद्ध ही काम में लायेगा। यदि उसके घर का घी नहीं है, तो वह बहुत विश्वास की जगह से लेगा। वह मिठाई को सुंदर बनाने के लिए उसमें किसी प्रकार का अनावश्यक पदार्थ नहीं मिलायेगा। उसकी मिठाई की लागत ज्यादा होगी, और उसे कुछ मुनाफा न होगा, उसकी मेहनत का पारिश्रमिक भी कम मिलेगा। पर उसे उसी में संतोष रहेगा। उसे यह अनुभव होगा कि मेरे द्वारा कुछ लोकसेवा हुई है, मेरा जीवन समाज के लिए उपयोगी है।

3-3 mRiknu&fof/k dk eu"; ij izHkko

आदमी के प्रत्येक कार्य का उस पर प्रभाव पड़ता है। हम प्रायः शरीर पर ही पड़ने वाले प्रभाव की बात सोचते हैं, परंतु इसके अतिरिक्त मन पर भी प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि कार्य करते समय हमारी जैसी भावना होती है, जैसी विचारधारा होती है, उसकी छाप मन पर पड़े बिना नहीं रहती। यदि हम छल–कपट या चतुराई चालाकी से दूसरों का पैसा ऐंठना चाहते हैं, अपने स्वार्थ के लिए उन्हें कष्ट देते हैं तो इससे हमारा मानसिक पतन होता है। इसके विपरीत, जब हम अपने कार्य को करते हुए अपने सामने प्रेम, सेवा और त्याग की भावना रखते हैं तो हमें मानसिक शांति और सुख मिलता है, हमारे चरित्र और व्यक्तित्व का विकास होता है। इसलिए मनुष्य के स्वयं अपने हित के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने उत्पादन–कार्य का उद्देश्य मुनाफेखोरी न रखकर सेवा–भाव ही रखे। इससे उसका तो कल्याण होगा ही, समाज का भी हित होता है, उसके उत्थान में सहायता मिलती है।

3-4 mRifÙk dk lk/ku

3-4-1 iwath

पूँजी वह धन है, जो और धन को पैदा करने में काम आये। साधारणतया आदमी, पूँजी का अर्थ रुपया–पैसा समझते हैं, परंतु आजकल पूँजी में नकद रुपये का भाग बहुत कम होता है। उसमें अधिकतर कच्चा पदार्थ, हल, बैल, बीज, श्रमियों के मकान, कार्यालय, कारखाने, औजार, मशीन आदि होती है।

आजकल पैसा जरूरी चीज है, लेकिन दौलत मेहनत से ही पैदा होती है; असल दौलत इंसान की मेहनत है। अगर हमारे देश में सोना–चाँदी ज्यादा नहीं है तो क्या; इंसान तो है, जो मेहनत करके दौलत पैदा कर सकते हैं।

–जवाहरलाल नेहरू

पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर डालें; और भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, उसमें से कुछ बचाकर न रखें, तो पूँजी कहां से आये! अतः खर्च करने में मितव्ययिता का विचार रहना आवश्यक है; फिजूलखर्ची रोकी जानी चाहिए। इसके लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना होता है। जो लोग पूंजी इकट्ठी करते हैं, उनमें से कोई–कोई बहुत ही कठिनाइयां सहते हैं; यहां तक कि अपने भोजन–वस्त्र में भी बहुत किफायत से काम लेते हैं। इस प्रकार वे बहुत कम धन में अपना काम चलाते हैं, और थोड़ी–थोड़ी पूंजी जमा करते जाते हैं।

पूंजी संचय करने का दूसरा रूप यह है कि हम जितना खर्च करें, उससे अधिक पैदा करें। कुछ खास दशाओं में, और एक सीमा तक ऐसा हो सकता है। पर साधारणतया यह बात बड़े पैमाने पर नहीं होती। किंतु इसका भी एक रास्ता निकाला गया है। चतुर चालाक आदमी दूसरे मनुष्यों द्वारा धन पैदा कराके उसे सब में अच्छी तरह नहीं बांटते; वे उत्पन्न धन से दूसरों को साधारण मजदूरी देकर शेष सब अपने लिए रख लेते हैं, औश्र इसमें से कुछ हिस्सा अपने इने–गिने खास सहायकों को देकर उन्हें संतुष्ट रखते हैं, जिससे इन्हें उनका सहयोग मिलता रहे। आधुनिक काल में भाप और बिजली आदि की शक्तियों से चलने वाले बड़े–बड़े कल–कारखानों से इस दिशा में बहुत सुविधा होने लग गयी है। उनके कारण अब अर्थव्यवस्था ऐसी है कि जब हजारों मजदूरों को प्रति व्यक्ति अस्सी–सौ रुपये माहवार मिलते हैं और ये जैसे–तैसे अपना निर्वाह करते हैं, तो दूसरी ओर मैनेजर आदि को कई–कई हजार रुपये प्रति मास मिलते हैं, और मिल–मालिक का तो कुछ हिसाब ही नहीं, उसे तो लाखों रुपये मिलने में भी कोई रोक टोक नहीं। ये लोग खूब ठाट–बाट से रहते हैं, मनमाना खर्च करते हैं, फिर भी इनके पास काफी धन बचा रहता है, जिसे ये औश्र अधिक धन पैदा करने में लगाते रहते हैं। इस तरह इनकी पूंजी अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इस पूंजी पर मजदूरों का वैसा ही अधिकार होना चाहिए, जैसा मिल–मालिक आदि का, क्योंकि उन्होंने कुछ कम घंटे या कम मेहनत का काम नहीं किया है। वास्तव में उन्होंने तो अधिक कष्ट उठाया है, जबकि मिल–मालिक आदि ने शरीर–श्रम न करके अपनी बुद्धि का ही उपयोग किया है जो कि स्वार्थ–साधन के बजाय सेवा–कार्य में होना चाहिए था। अस्तु, वर्तमान बड़ी–बड़ी पूंजी के कारोबार प्रायः अपहृत श्रम के मूर्तिमान रूप हैं और मानव जाति के दुर्भाग्य की घोषणा कर रहे हैं।

समाज की उन्नति या विकास के लिए विविध वस्तुओं और कामों की जरूरत है। उनके लिए धन की आवश्रूकता होने से वह स्वयं–सिद्ध है कि प्रत्येक देश में पूंजी बढ़ायी जाने के यथेष्ट प्रयत्न हों। वर्तमान अर्थशास्त्र भी इस बात पर जोर देता है, परंतु सर्वोदय अर्थशास्त्र में और उसमें यह अंतर है कि यह समाज में आर्थिक विषमता पैदा करने वाली बातों का निवारण करके पूंजी द्वारा ऐसे तथा इस प्रकार धन की उत्पत्ति बढ़ाने का आदेश करता है, जिससे किसी वर्ग विशेष का ही हित न होकर समस्त समाज का सुख और विकास बढ़ने का मार्ग प्रशस्त हो। प्रत्येक देश में पूंजी की वृद्धि होनी चाहिए; हाँ, पूंजी स्वयं लक्ष्य नहीं है, उसका उद्देश्य है लोकसेवा या सर्व–हित।

भारत में पूंजी की वृद्धि के लिए जनता में शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए; ब्याह–शादी, नाच–रंग और जन्म–मरण आदि सम्बन्धी फजूलखर्ची की विविध रीति–रस्में हटनी चाहिए; तथा खेती और उद्योग–धंधों आदि की उन्नति की जानी चाहिए और इसके लिए इनमें काम आने वाले विविध औजारों तथा पद्धतियों के सम्बन्ध में उपयोगी आविष्कार होते रहने चाहिए। इस समय मशीनों और यंत्रोद्योगों को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है, इससे जो हानि है, उसका विचार अन्यत्र किया गया है।

3-4-1-1- iwath dk mi;ksx ykdfgr dh n`f"V ls

आवश्यकता है कि पूंजी से सर्वसाधारण को लाभ हो, न कि कुछ थोड़े से व्यक्तियों का स्वार्थ–साधन या भोग विलास की वृद्धि। अतः उत्पत्ति के उपकरणों पर किसी व्यक्ति या संस्था का ऐसा स्वामित्व न होना चाहिए कि उसके द्वारा दूसरों के शोषण में सुविधा हो। प्रत्येक परिवार के पास इतनी पूंजी हो जिससे वह अपनी असली जरूरते पूरी कर सके और साथ ही अपने गांव या नगर के हित में भी कुछ भाग ले सके। स्थानीय संस्थाओं को अपने गांव या नगर के व्यापक हित का ध्यान रखना चाहिए। जिन कार्यों के लिए विशेष पूंजी की आवश्यकता हो, तथा जिसका उपयोग देश के किसी खास भाग के लिए न होकर राष्ट्र के हित के लिए हो, उनकी व्यवस्था राष्ट्रीय सरकार द्वारा की जानी चाहिए। ऐसे कार्यों का परिमाण स्वभावतः कम ही रहेगा। हमें देश की अधिकांश पूंजी का उपयोग विकेन्द्रित रूप में करके उन दोशों से बचना है जो पूंजी के केन्द्रीकरण से होते हैं। वर्तमान अवस्था में जहां एक–एक व्यक्ति के पास कुछ इकट्ठी पूंजी है, वे उसका उपयोग 'ट्रस्टी' या अमानतदार के रूप में करें।

3-4-1-2 jk"Vªh; iwath

अब ऐसी पूंजी का विचार किया जाता है, जो सर्वसाधारण के उपयोग के लिए होती है, और जिसके प्रबंध या व्यवस्था आदि का कार्य सरकार करती है। यह पूंजी खासकर रेल, सड़क, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, खानें, नदियां, बांध, नहरें, समुद्र–तट आदि हैं। सरकार को चाहिए कि इनकी उन्नति करें, परंतु इसके साथ ऐसी व्यवस्था भी करे कि वे सर्वसाधारण के लिए यथेष्ट उपयोगी हों, ऐसा न हो कि कुछ खास श्रेणी या वर्गों के आदमी ही उनसे विशेष लाभ उठा सकें।

पूंजी के उपयोग के सम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न यह रहता है कि किसी देश की सरकार द्वारा विदेशी पूंजी का उपयोग कहां तक उचित है? प्रत्येक देश में पूंजी का उपयोग विकेन्द्रित रूप में होना चाहिए। सरकार द्वारा यातायात संवाद–वाहन या सिंचाई आदि के ऐसे ही कार्य किये जाने चाहिए, जो उसके लिए करना अनिवार्य हो। इस प्रकार उसे पूंजी की आवश्यकता कम ही होनी चाहिए। यह पूंजी उसे बहुधा अपने देश की ही जनता के लिए मिल जायगी, खासकर जब वह जनता के श्रम के उपयोग की उचित व्यवस्था करेगी और नकद पूंजी को विशेष महत्त्व न देगी। फिर, जब कोई देश, विदेशी पूंजी का उपयोग करता है तो उस पर ऋण देने वाले राष्ट्र का प्रभाव पड़ कर उसका आर्थिक दृष्टि से पराधीन हो जाना स्वाभाविक है। यही नहीं, उसकी राजनीति भी एक सीमा तक दूसरे देश की सरकार द्वारा नियंत्रित होने की आशंका रहती है। इस प्रकार वर्तमान अवस्था में किसी देश में विदेशी पूंजी से काम लेना खतरे से खाली नहीं। आजकल कितने ही देश औद्योगीकरण के लिए विदेशी पूंजी का उपयोग करने के इच्छुक रहते हैं, उन्हें इस विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है। खासकर उन देशों में, जहां भारत की तरह जनसंख्या यथेष्ट है, लोगों को ग्रामोद्योग या हाथ–उद्योग को ही बढ़ाना चाहिए, जिससे पूंजी की विशेष आवश्यकता ही न हो।

3-4-1-3 'kks"k.kghu lekt dk fuekZ.k

वर्तमान अर्थव्यवस्था जन–शक्ति के आधार पर न होकर पूंजी के आधार पर है। श्रमियों का शोषण हो रहा है; यह दो प्रकार से है– एक तो व्यवस्था, प्रबंध या इंतजाम के नाम पर, और दूसरे केन्द्रित उत्पादन की चीजों का वितरण करने के बहाने। हाथ–उद्योग या ग्रामोद्योग स्वावलम्बी और विकेन्द्रित उत्पादन का प्रतीक है।

इसमें वितरण की आवश्यकता तो अपने–आप खतम हो जाती है, और जब इस पद्धति को समझ–बूझकर अपनाया जाय अर्थात् इंतजाम भी जनता स्वयं ही सहकारिता आधार पर कर ले, तक शोषण के भी मार्ग बंद हो जाते हैं। इस प्रकार स्वावलम्बी और विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति अपनाने से ही जनता शोषण से मुक्त हो सकती है। आवश्यकता है कि पूंजीपति अर्थात् शोषक समझ–बूझ कर शारीरिक श्रम अपनाकर 'मजूर' बन जायें, मजदूरों में विलीन हो जायें; अन्यथा वे मजदूरों द्वारा समाप्त किये जाने के लिए तैयार रहें। आज के युग में सबसे बड़ी और मुख्य मांग शोषणहीन समाज की रचना है और यदि हम उस मांग को स्वेच्छा से पूरी नहीं करेंगे तो हमें यह कार्य मजबूर होकर करना पड़ेगा।

3-4-1-4 iwath cuke Je

आजकल पूंजी की तुलना में श्रम की बहुत कुछ उपेक्षा की जाती है। यहां तक कि उसे पूंजी बढ़ाने का साधन मान लिया गया है। बड़े–बड़े यंत्रोद्योगों में निरंतर यह प्रयत्न होता रहता है कि जिस काम को एक हजार श्रमी करते हैं, उसे करने के लिए ऐसी मशीन रूपी पूंजी का आविष्कार हो जाय, जिसके द्वारा उसे केवल सौ–दो सौ और पीछे क्रमशः उससे भी कम श्रमी कर सकें। मशीनों और इमारतों की वृद्धि और विस्तार देश का वैभव माना जाता है। उनमें काम करने वाले श्रमियों की कमी पर गर्व किया जाता है। यह नीति विनाशकारी है। कोई राष्ट्र लोहे और पत्थरों का, अथवा आलीशान इमारतों आदि का नहीं होता। उसका जीवन प्राण तो श्रम करने वाली जनता ही होती है। यदि श्रम है तो आवश्यक सम्पत्ति या पूंजी का निर्माण सहज ही हो सकता है; और आखिर पूंजी का उपयोग भी तो इसी में है कि वह जनता के हित में लगे। निदान, पूंजी और श्रम में प्राथमिकता तो श्रम को ही मिलनी चाहिए।

वर्तमान अर्थशास्त्र में श्रम की अपेक्षा पूंजी को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह कहां तक ठीक है? किसान की पूंजी बीज, हल, बैल और खाद आदि हैं। किसान को आरंभ में भूमि से जो अन्न मिला या उसने अपने श्रम से, प्रकृति की सहायता से, पैदा किया, उसमें से कुछ उसने खाया और कुछ आगे के लिए बचा कर रखा। इस बचाये हुए अन्न में से कुछ का उसने बीच के लिए उपयोग किया। इस प्रकार बीज की उत्पत्ति में मूल साधन भूमि और श्रम ही हैं। इसी प्रकार हल का विचार करें। इसकी लकड़ी या लोहा उसे भूमि से मिला है, और अपने श्रम से उसने इन चीजों का हल बनाया है। बैंलों की भी यही बात है। पशु तो प्रकृति से प्राप्त हैं ही, मनुष्य ने अपने श्रम से उन्हें अपने काम में आने लायक बनाया है। खाद के बारे में भी कोई नयी बात नहीं है; आदमी ने अपने श्रम से इसे प्राकृतिक भंडार में से संग्रह किया है। निदान, जिन चीजों को वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने किसान की पूंजी कहा है उनका मूल भूमि और श्रम ही है। इसीलिए पूंजी की अपेक्षा श्रम को कहीं अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, सर्वोदय अर्थशास्त्र में ऐसा ही किया जाता है।

3-4-2 izcU/k vkj lkgl

प्रायः वर्तमान या पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का कथन है कि भूमि, श्रम और पूंजी से ही धनोत्पत्ति का कार्य नहीं हो सकता, जब तक की कोई व्यक्ति इन तीनों को इकट्ठा न करें और यह निश्चय न करें कि अभीष्ट उत्पादन के लिए इन तीनों में से प्रत्येक की कितने–कितने परिमाण में आवश्यकता है। फिर, आजकल धनोत्पादन की विधि में बहुत अंतर हो गया है। एक–एक कल–कारखाने में हजारों आदमी इकट्ठे होकर काम करते हैं। इन सबको अपने–अपने निर्धारित कार्य में लगाने के लिए एक पृथक् व्यक्ति की आवश्यकता होती है,

जो इस बात का प्रबंध करे कि कौनसा काम कब और किस प्रकार किया जायगा, तथा कौन–कौन आदमी कहां–कहां काम करेंगे, भूमि कौन–सी अच्छी है और लाखों या करोड़ों रुपये की आवश्यक पूंजी कैसे, कहां–कहां से कितनी–कितनी मात्रा में संग्रह की जायगी। इन सब बातों के प्रबंध को उत्पत्ति का एक जुदा साधन मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त, वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार, आजकल उत्पत्ति के लिए एक और व्यक्ति या व्यक्ति–समूह की आवश्यकता है, जो उसकी हानि–लाभ का जिम्मेवार हो, जो कल–कारखाने को चलाने की जोखम उठावे। ऐसे 'साहस' को धनोत्पत्ति का एक अलग साधन माना जाता है।

विचार कर देखा जाय तो प्रबंध और साहस उत्पत्ति के पृथक् और स्वतंत्र साधन नहीं हैं। ये एक प्रकार से श्रम के ही रूप हैं। प्रबंधक सब श्रमियों का निरीक्षण और नियंत्रण करता है और भूमि और पूंजी का प्रबंध करता है। आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में इसका बड़ा महत्त्व गिना जाता है। पर यह है बौद्धिक कार्य का ही रूप।

इसी प्रकार साहसी भी बुद्धिजीवी हैं, जो हानि–लाभ की जोखम उठाकर बड़े पैमाने के उत्पादन का जिम्मा लेता है, और उसके चलाने की जिम्मेवारी लेता है, तथा यदि वह डूब जाय तो उसकी हानि सहने को तैयार रहता है। यह सब आखिर है तो बौद्धिक कार्य ही। ऐसा कार्य करने वाला, प्रायः अपने लाभ को दृष्टि में रखकर धनोत्पत्ति के साधन जुटाता है, और वर्तमान दशा में लोकहित को गौण मानकर और बहुधा उसकी उपेक्षा कर दूसरों के श्रम से अपना स्वार्थ साधन करता है।अस्तु, प्रबंध और साहस उत्पत्ति के पृथक या स्वतंत्र साधन नहीं, ये बौद्धिक श्रम के ही रूप हैं।

3-4-3 Hkfe

जैसे हवा और पानी पर सबका हम है, वैसे जमीन पर सबका हक है, और जबकि कई लोगों के पास बिलकुल जमीनें नहीं हैं, उस हालत में बहुत ज्यादा जमीन अपने पास रखना गलत बात है। ... यह कभी नहीं हो सकता कि आम जनता को जमीन से महरूम रखा जाय और जनता इस चीज को कायम के लिए बरदाश्त करे।

–विनोबा

जिस तरह हवा और पानी मनुष्य की उतनी ही निजी सम्पत्ति है, जितनी वह सांस लेकर और पीकर अपना सके, उसी तरह कोई भी व्यक्ति उतनी जमीन अपनाने का हकदार है, जितने पर वह अपने शरीर–श्रम से पैदा कर सके।

–धीरेन्द्र मजूमदार

अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ केवल पृथ्वी–तल या जमीन से ही नहीं लिया जाता, वरन् इसके अंतर्गत वे सब पदार्थ तथा शक्तियां समझी जाती हैं, जो प्रकृति से प्राप्त होती हैं, और जिन्हें मनुष्य श्रम के द्वारा अपने लिए उपयोगी बनाता है। इस प्रकार इसमें निम्न वस्तुएं तथा शक्तियां सम्मिलित हैं–

- पृथ्वी–तल तथा पृथ्वी से प्राप्त होने वाले पदार्थ जैसे लोहा, कोयला, सोना, चांदी, अन्य धातुएं, मिट्टी का तेल, कुएं या श्रोत का जल, और भूमि की उत्पादक शक्तियां तथा जंगल में मिलने वाले पदार्थ, विविध जड़ी–बूटी आदि।

- भूमि के ऊपर का जल, नदी, तालाब, झील, समुद्र और इनमें मिलने वाली मछलियां, शंख, मोती आदि।
- वायु, गर्मी–सर्दी, प्रकाश, वर्षा तथा जल–शक्ति, वायु–शक्ति, सूर्य–शक्ति आदि।

भूमि प्रकृति की देन है, यह सबके लिए है। प्राचीन काल में भूमि व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर कबीले या समूह की सम्पत्ति मानी जाती थी। कुछ देशों में पिछली शताब्दी तक ऐसी ग्राम–संस्थाएं रही हैं, जिनका उनके क्षेत्र की सब भूमि पर अधिकार था। कोई व्यक्ति अपने यहां की ग्राम–संस्था की अनुमति या रजामंदी से ही निर्धारित जमीन में खेती कर सकता था।पृथ्वी का मालिक भगवान है, जिसका साकार रूप समाज है। पृथ्वी सब की माता है। माता का प्रेम प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक संतान को है, जो उसकी सेवा करे। इस प्रकार जमीन की पैदावार का अधिकार उसी को है, जो खेती करने की मेहनत करे। जो आदमी खेती करना जानता नहीं और खेती करना चाहता नहीं, वह जमीन दबाये रखे, यह सर्वथा अन्याय है, अनुचित है।

हम भूमि की उपयोगिता का जो लाभ उठा रहे हैं, वह समाज की सहायता से ही संभव हुआ है। किस–किस तरह की जमीन में क्या–क्या चीजें पैदा हो सकती हैं; जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए क्या–क्या उपाय काम में लाये जाने चाहिए– इन बातों का ज्ञान आदमी की अनेक पीढ़ियों ने लगातार शोध करके प्राप्त किया है। खेती के औजार बनाने में अनेक आदमियों का शरीर–श्रम और बुद्धि लगी है। इसलिए किसी व्यक्ति या परिवार का इस पर विशेष अधिकार जमाना अनुचित है। जैसाकि कुमारप्पा ने कहा–'धूप हवा, पानी वगैरा में मिल्कियत हो ही नहीं सकती; इसी तरह से जमीन पर कोई कब्जा नहीं माना जा सकता। यह समाज की मानी जानी चाहिए। किसी आदमी को उतनी ही जमीन दी जा सकेगी, जितनी समाज के भले के लिए इस्तेमाल करने की उसमें योग्यता हो। जमीन पर काश्त करे, उसे उस जमीन की पैदावार का पूरा फायदा मिलना चाहिए और जो बेशी बचे, सिर्फ उसे ही दूसरे लोगों में बांटा जाय। जब यह रिवाज चालू होगा, तभी बंटवारा–न्याय कायम हो सकेगा। बांटने का काम एक–एक आदमी के सुपुर्द न होकर सहयोगी समितियों के सुपुर्द हो।'

3-4-3-1 Hkfe dk vUrjk"Vªh; nf"Vdks.k

भूमि के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय होना चाहिए। मानव जाति को भिन्न–भिन्न टुकड़ों में बांट कर उनके हित का अलग–अलग विचार करना अनुचित और विनाशकारी है। मानव समाज के एक हिस्से का अपने स्वार्थ में लीन होना अंततः उसके लिए भी हानिकर है। इसलिए भूमि की व्यवस्था में हमें अपने सामने समाज के किसी संकीर्ण रूप को न रख, उसके पूर्ण और व्यापक स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए। वर्तमान दशा में इस ओर घोर उपेक्षा हो रही है।

उदाहरण के तौर पर भारतीय संघ के 12 लाख वर्गमील के क्षेत्र में 36 करोड़ आदमी रह रहे हैं, और इसके पास आस्ट्रेलिया है, जिसका क्षेत्रफल इससे ढाई गुना अर्थात् 30 लाख वर्गमील होने पर भी उसकी आबादी केवल 75 लाख है। इसका अर्थ यह है कि जबकि भारत में प्रति वर्गमील 300 हैं, आस्ट्रेलिया में यह औसत सिर्फ ढाई है, एक का दूसरे से 120 और 1 का अनुपात है। फिर भी आस्ट्रेलिया भारतवासियों के लिए तथा सभी रंगदार जातियों के लिए अपना द्वार बंद किये हुए है। वह केवल गौर वर्ण का स्वागत करता है। दक्षिण अफ्रीका की वर्ण–विद्वेश नीति का कटु अनुभव हम चिरकाल से करते आ रहे हैं। प्रायः गौरांग जातियां अपने लिए अधिक से अधिक भूमि को सुरक्षित रखना चाहती हैं। खासकर संयुक्त–राज्य अमरीका के विशाल

और उपजाऊ प्रदेश में अन्य देशों के काफी आदमी रखने की क्षमता है। निदान, वर्तमान भूमि–व्यवस्था की यह विषमता दूर की जानी चाहिए।

यह कार्य अच्छी तरह तभी होगा, जब संसार के सब देशों का एक राज्य और एक विश्व–सरकार स्थापित होगी। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए किसी को दूसरों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जो भी राज्य इस शुभ कार्य में अग्रणी हो सके, उसे अपना कर्त्तव्य पालन करके दूसरों के लिए उदाहरण बनना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तियों को राज्य के कानून बनने की राह देखना अनुचित है। जो भी व्यक्ति इस दिशा में कुछ अच्छा कदम उठा सकें, उन्हें इसमें ढील न करनी चाहिए। इस विचारधारा के, गांव–गांव और नगर–नगर में प्रचार होने की आवश्यकता है।

3-4-3-2 Hkfe&forj.k dh rjhdh

भूमि वितरण के तीन तरीके हैं–

- बड़ी–बड़ी जमीनों के मालिकों से जबरदस्ती जमीन छीन कर उसे भूमिहीनों में बांट देना। इसके लिए हत्या और खून–खराबी की भी आवश्यकता हो सकती है और इसे शांतिपूर्वक स्थायी रूप में रखना भी कठिन है। इससे प्रजातंत्र को खतरा तथा अधिनायकवाद की तैयारी होने की आशंका होती है।
- कानून द्वारा उचित मुआवजा देकर; जमींदारों से उनके पास की अतिरिक्त भूमि लेकर उसे भूमि–हीनों में बांटना। मुआवजे का प्रश्न कितनी कठिनाइयां पैदा करता है, और यह कितना अव्यवहारिक है, इसका अनुभव भारतवासियों को गतवर्षों में अच्छी तरह हो चुका है।
- अधिक भूमिवालों का दृष्टिकोण बदल कर उनसे उपहार या भेंट के रूप में भूमि प्राप्त करके उसे भूमि–हीन किसानों में बांटना।

श्री विनोबा ने इनमें से तीसरे तरीके को अपनाया है। उन्होंने मई–जून 1951 में तैलंगाना में गरीबों को बांटने के लिए लगभग तेरह हजार एकड़ जमीन हासिल की। भारत भर में उनका लक्ष्य सन् 1957 तक पांच करोड़ एकड़ भूमि संग्रह करना था; एक करोड़ उत्तर प्रदेश में, और शेष अन्य प्रदेशों में। शहरी लोगों को भूमि की आवश्यकता न होने से, उन्हें छोड़ दें, तो भारत में प्रति परिवार को सात एकड़ भूमि मिल सकती है। जिनके पास इससे अधिक है, उन्हें स्वेच्छा से उसका दान कर देना चाहिए। भूमि–दान की यह पद्धति भू–स्वामियों के लिए शोभास्पद तथा भूमि–हीनों के स्वाभिमान की रक्षक है। यह अहिंसात्मक क्रांति का मार्ग प्रशस्त करती है। यह कानून से भी अधिक सफल है। अगर कानून बने, और उसमें मान लो कि श्रीमानों के लिए दो सौ एकड़ भूमि की मर्यादा रखी जाय तो इससे कम भूमि वालों से जमीन नहीं ली जा सकेगी। पर विनोबाजी ने तो एक–एक एकड़ वालों से भी भूमि प्राप्त की है। कोई सरकारी कानून इतनी थोड़ी भूमि वालों से भूमि की मांग नहीं कर सकता। लेकिन यहां हृदय–परिवर्तन हो जाता है, वहां ऐसी बात सहज ही हो जाती है।

3-4-4 Je vkj ckf)d dk;

हाथ और पैर का श्रम ही सच्चा श्रम है, और हाथ–पैरों से मजदूरी करके ही आजीविका प्राप्त करना चाहिए। मानसिक और बौद्धिक शक्ति का उपयोग समाज–सेवा के लिए ही करना चाहिए। हम हाथ–पैर न हिलायें तो क्या बुद्धि से खेती करेंगे?

–गांधीजी

आज यहां मजदूरों का शरीर ज्यादा काम से घिसता जा रहा है वहां शिक्षितों का शरीर कोई काम न होने से घिसता जा रहा है, यानी दोनों का नुकसान हो रहा है। बुद्धि की भी यही हालत है, बुद्धिमान लोगों को बुद्धि का ज्यादा काम पड़ता है, इसलिए उनकी बुद्धि घिसती जा रही है; और मजदूरों की बुद्धि को काम नहीं मिलता, इसलिए उनकी बुद्धि क्षीण होती जा रही है, इसलिए दोनों वर्गों को दोनों तरह का काम मिलना चाहिए।

–विनोबा

यदि गांवों तथा शहरों के लोग खुद मेहनत करने लगें, खुद सड़के, नहरें, स्कूल आदि बनाने लग जायं, दफ्तरों में बाबू बनने की ख्वाहिश छोड़ दें और सरकार की तरफ मुंह ताकना बंद कर दें तो थोड़े ही दिनों में हमारे देश का नक्शा बदल सकता है।

–जवाहरलाल नेहरू

3-4-4-1 Je

वर्तमान अर्थशास्त्र का मूलाधार धन है। इसमें श्रम के अंतर्गत मनुष्य द्वारा किया हुआ वह सब प्रयत्न समझा जाता है जिससे धन की उत्पत्ति हो। इस प्रकार इस अर्थशास्त्र में बौद्धिक कार्य को भी श्रम माना जाता है, और कवि, लेखक, चित्रकार, डाक्टर, वकील आदि को भी श्रमियों में गिना जाता है। सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार आदमी को अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग लोकसेवा में करना चाहिए और अपने निर्वाह आदि के लिए अधिकतर शरीर से श्रम करना चाहिए। इस प्रकार यह अर्थशास्त्र खासकर ऐसी मेहनत को ही श्रम मानता है, जो हाथ–पैर से की जाती है और जिसे साधारणतया शरीर–श्रम कहा जाता है।

व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित की दृष्टि से श्रम के भेद अनुचित है। कुछ अर्थशास्त्री श्रम के नीचे लिखे भेद करते हैं–

- व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर; अर्थात् ऐसी उपयोगी चीजों के बनाने का श्रम, जिसकी मजदूरी खूब अच्छी मिले।
- व्यक्ति के लिए हितकर, परंतु समाज के लिए अहितकर; जैसे नशे या विलासिता की वस्तुएं बनाने का श्रम, जिससे श्रमी को खासी आमदनी होती है पर समाज को हानि पहुंचती है।
- व्यक्ति के लिए अहितकर, परंतु समाज के लिए हितकर; जैसे शिक्षा, साहित्य, चिकित्सा आदि का ऐसा सेवा–कार्य करना, जिसका पारिश्रमिक बहुत कम मिले।

समाज की वर्तमान व्यवस्था ऐसी है कि त्यागभाव से लोकसेवा करने वाले और निर्धनता का जीवन बिताने वाले व्यक्तियों में से बहुत कम का यथेष्ट आदर मान होता है, और समाज को हानि पहुंचाने वाले सब व्यक्तियों को राज्य की ओर से समुचित दंड नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए आतिशबाजी की चीजें या

अनेक प्रकार के मादक पदार्थ बनाने वालों के, शौकीनी या विलासिता बढ़ाकर लोगों का द्रव्य हरण करने वालों के, और मुकदमेबाजी बढ़ाने वाले वकीलों के कार्य को दंडनीय नहीं माना जाता। वर्तमान अर्थशास्त्र में इनका कार्य उत्पादक माना जाता है, चाहे इनसे दूसरों को कितनी ही हानि पहुंचे। यह अर्थशास्त्र व्यक्ति और समाज के हित में भेद करता है और पूरे समाज के कल्याण की बात नहीं सोचता; और जब कभी या कुछ अंश में अपने देश के हित का विचार करता है तो इसे दूसरे देशों का अहित होने देने में कोई आपत्ति नहीं होती।

इसके विपरीत, सर्वोदय अर्थशास्त्र व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में भेद नहीं करता। इसके अनुसार, कोई श्रम व्यक्ति के लिए वास्तव में हितकर तभी हो सकता है, जब उससे समाज का भी हित होता है। व्यक्ति समाज का अंग है, समाज को हानि पहुंचाकर कोई आदमी अपना हित नहीं कर सकता। चोर, आतिशबाज या मादक वस्तु बनाने वाला व्यक्ति अपने कार्य से अपना नैतिक पतन करता है, अपनी आत्मा की उन्नति या विकास में बाधक बनता है, इसलिए वह कुछ धन कमाते हुए भी घाटे का काम करता है। इसी प्रकार जब हम त्याग और सेवा–भाव से कार्य करते हैं तो हमारे मन को जो आनन्द और संतोष मिलता है, वह दिन–रात पैसे के पीछे पड़े रहने वालों को कहां मिल सकता है! इस प्रकार व्यक्ति–हित और समाज–हित को अलग–अलग मान कर श्रम के भेद करना ठीक नहीं है; सर्वोदय अर्थशास्त्र का यही आदेश है।

3-4-4-2 'kjhj&Je vkj Jfe;k dh ifr"Bk

समाज को न्यायाधीश, अध्यापक, लेखक, कवि आदि की आवश्यकता है। तो क्या किसान, बढ़ई, जुलाहे, लुहार, चमार और मेहतर के काम मी जरूरत नहीं है? एक एक तरह से इनकी जरूरत और भी ज्यादा है। इनके श्रम के बिना समाज की जीवन–यात्रा ही नहीं चल सकती। फिर, इन दोनों वर्गों में बौद्धिक कार्य करने वालों को इतना ऊँचा माना जाना, और शारीरिक श्रम करने वालों को निम्न पद मिलना कहां का न्याय है? एक को दूसरे की अपेक्षा कई गुना वेतन क्यों मिले? इस विषय में शरीर–श्रमियों की अपेक्षा अपने आपको ऊँचा न समझना चाहिए और उनसे समानता स्थापित करने के लिए कुछ समय अनिवार्य रूप से शरीर–श्रम द्वारा उत्पादक कार्य करना चाहिए। वास्तव में हमारी किसी श्रमी के साथ बराबरी की भावना तभी सिद्ध होती है; जब हम उसका काम करने को तैयार रहें।

प्रत्येक बुद्धिजीवी को अभी कम से कम कितना श्रम अवश्य करना चाहिए, इस विषय में श्री श्रीकृष्णदास जाजू का मत है कि इसकी मात्रा महीने में 24 घंटे मजदूरी उचित समझनी चाहिए, फिर चाहे रोजाना काम एक घंटा हो या इससे अधिक सामान्यतः दिन भर का काम छः घंटों का मानना चाहिए। इस हिसाब से 24 घंटों का काम महीने भर में चार दिन का होता है। श्री जाजूजी ने भारत की वर्तमान अवस्था में खेती सम्बन्धी काम को प्रथम स्थान देते हुए लिखा है– अगर दूसरों के खेत में काम करना पड़े तो जैसे अन्य मजदूर लोग मजदूरी लेते हैं, वैसे ही हम भी लेवें। ऐसा करने से काम में लगन आयेगी। खेत का मालिक पूरा काम किये बिना ठीक मजदूरी नहीं देगा। इसके अलावा दूसरा एक बड़ा लाभ यह होगा कि मामूली मजदूरों पर हमारे काम का नैतिक असर पड़ेगा। देहातों के सिवा कस्बों में भी खेती की मजदूरी का काम मिल सकता है। शहरों में मुश्किल होगा, पर शहर वाले परिस्थिति के अनुसार वहां मकान आदि की मजदूरी का काम ढूंढ सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को जीवन–निर्वाह के लिए विविध वस्तुओं की जरूरत होती है; यदि और नही ंतो कम से कम इसी विचार से उसे उत्पादक श्रमी होना चाहिए। जिन आदमियों के हाथ–पांव ठीक काम करते हैं, वे

दूसरों पर भार क्यों बने? दान–दक्षिणा लेना केवल उनके लिए ही ठीक है जो अपाहित होने की वजह से, भरसक उद्योग करने पर भी अपना निर्वाह नहीं कर पाते, अथवा जो अपना सब समय लोकसेवा करने में लगाते हैं। अन्य किसी समर्थ और स्वस्थ व्यक्ति को परावलम्बी होना अनुचित है। परंतु ठीक जांच की जाय तो प्रत्येक समाज में बहुत से आदमी ऐसे मिलेंगे, जो उत्पादक कार्य नहीं करते, अथवा बहुत कम करते हैं।

जिन लोगों का जहा तक वश चलता है, वे वहां तक श्रम को टालते हैं। बुद्धिजीवियों ने अनेक ऐसे मार्ग निकाल लिये हैं, जिनसे उन्हें शरीर–श्रम न करना पड़े। अनेक आदमी वास्तव में उत्पादक न होते हुए भी उत्पादकों की तरह, वरन् उससे भी अधिक आदर मान पाते हैं। निम्नलिखित व्यक्ति असल में अनुत्पादक या बहुत–कुछ अनुत्पादक ही हैं, भले ही वे उत्पादक समझे जाते हों–

- रईस, सेठ, साहूकार जो सूद की कमाई पर मौज उड़ाते हैं।
- कल कारखानों के मालिक, जो उनमें पैसा लगाने के अतिरिक्त कोई उत्पादक श्रम नहीं करते।
- जमीन जायजाद के मालिक जो कुछ श्रम न करते हुए लगान या किराये की आमदनी खाते हैं।
- जुआरी, सट्टेबाज आदि जो बात की बात में बहुत पैसे के हकदार बन जाते हैं।
- पुजारी और महंत आदि जो समाज में नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचार में योग नहीं देते।
- वे सब आदमी और औरतें जो अपने बाप–दादा या अन्य रिश्तेदार की कमाई में से खाते पीते हैं।
- ऐसे वकील या डाक्टर आदि जो लोकहित या समाजहित की परवाह न कर अपने मुवक्किलों और रोगियों से अनापशनाप धन ऐंठते हैं, और समाज में मुकदमेबाजी और रोग फैलाने में सहायक होते हैं।
- वे सब दुकानदार जो अपनी चीजों में मिलावट करते तथा बेहद मुनाफेखोरी करते हैं; या चीजों को बहुत अधिक आकर्षक बनाकर ग्राहकों को ठगते हैं।
- वे लेखक, कवि, चित्रकार, सिनेमा–नाटक दिखाने वाले आदि जो लोकहित की भावना न रख अपनी कृतियों से जनता में चंचलता, उद्वेग और विलासिता बढ़ाते हैं।
- ऐसे सब सरकारी तथा गैर–सरकारी नौकर जो नाम–मात्र के काम के लिए बहुत अधिक द्रव्य पाते हैं।

यह सूची पूरी होने का दावा नहीं करती। इसी प्रकार के अन्य व्यक्ति भी हैं, जो पूर्णतया या अंशतः मुफ्तखोरों और परावलम्बी हैं। इन्हें समाज में मान–प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिए। वह तो श्रम को ही दी जानी चाहिए। यदि श्रम को आदर नहीं मिलता तो राष्ट्र का पतन स्वाभाविक है। प्राचीन काल में यूनान रोम आदि की सभ्यताएं लुप्त हो गयीं, क्योंकि उनका आधार दासता थी, ऊँचा समझा जाने वाला वर्ग आराम और विलासिता का जीवन बिताता था। वर्तमान राष्ट्रों को इस इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए।

3-4-4-3 dk;&foHkkx o.k 0;oLFkk

पहले मनुष्यों की एक–एक टोली या परिवार अपनी जरूरतें पूरी कर लेता था; धीरे–धीरे उनमें काम का बंटवारा होने लगा। समूह के कुछ आदमी सब की रक्षा करने का काम करने लगे; कुछ सब के खाने, कपड़े आदि की व्यवस्था करने के वास्ते पशु–पालन, खेती, उद्योग धंधे तथा व्यापार करने लगे, कुछ दूसरों को अच्छी

अच्छी बातें सिखाकर उनका और साथ में अपना ज्ञान बढ़ाने लगे। इनके अतिरिक्त कुछ आदमी अपनी योग्यता का विकास न कर सकने के कारण मामूली मेहनत मजदूरी आदि से ही अपना निर्वाह करने वाले होने लगे। भारत में इस प्रकार के कार्य–विभाग ने शास्त्रीय स्वरूप धारण कर लिया। यह माना जाता है कि यहां वर्ण–व्यवस्था अर्थात् समाज का ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभाजन पहले गुण–कर्म के अनुसार था। पीछे धीरे–धीरे यह जन्म के आधार पर समझा जाने लगा और चार जुदा–जुदा जातियां बन गयीं, तथा प्रत्येक के सैंकड़ों भेद–उपभेद हो गये। बढ़ई, लुहार, जुलाहा, मेहतर, चमार आदि वंश–परम्परा के अनुसार होने लगे, इनका परस्पर में सामाजिक सम्बन्ध न रहा; ऊँच–नीच का भी भेद–भाव आ गया। कुछ जातियां तो अस्पृश्य या अछूत ही मानी जाने लगीं, उनका काम नीचे दर्जे का माना जाने लगा। यहां तक कि उनका काम करने पर 'ऊँची' जातियों के आदमी भी सामाजिक दृष्टि से गिरे हुए समझे जाने लगे। इस प्रकार भारत में कार्य–विभाग जात–पांत और ऊँच–नीच के भेद–भाव वाला हो गया।

3-4-4-4 Je&foHkkx

औद्योगिक कार्य–विभाग सभी देशों में रहा है। यह क्रमशः बढ़ता गया। अठारहवीं सदी के भाप आदि से चलने वाली मशीनों का आविश्कार होने पर यह कार्य–विभाग और आगे बढ़ा। पहले आदमी एक काम के सब हिस्सों को पूरा करे कोई चीज बनाता था; अब एक काम के विविध हिस्से किये जाकर वे अलग–अलग आदमियों के, या जुदा–जुदा समूहों के सुपुर्द किये जाने लगे। यंत्रो से चलने वाले कल–कारखानों में प्रत्येक कार्य कई सूक्ष्म हिस्सों में बंटा होता है। प्रत्येक हिस्सा अपूर्ण होता है, और सब हिस्सों के काम हो चुकने पर अंत में अभीष्ट वस्तु तैयार होती है। उदाहरण के लिए पहले एक आदमी अपने परिवार वालों के साथ मिलकर कपास ओटता, रूई धुनता, सूत कातता और कपड़े बुन लेता था। अब कल–कारखानों में कपड़ा तैयार करने की क्रिया सैकड़ों भागों में विभक्त है, और प्रत्येक भाग अलग–अलग समूहों को सौंपा जाता है। हरेक समूह में सैंकड़ों या हजारों आदमी काम करते हैं, तब कपड़ा तैयार होता है। खासकर ऐसे औद्योगिक कार्य–विभाग को ही 'श्रम–विभाग' कहा जाता है।

वर्तमान अर्थशास्त्र में श्रम–विभाग के गुणों का खूब बखान किया जाता है। इससे मुख्य लाभ ये बताये जाते हैं–एक खास क्रिया को लगातार करने से उसका करना आसान हो जाता है, उसे करने के लिए यंत्रों का आविष्कार हो सकता है, समय की और श्रम की बचत होती है, उत्पादन अधिक होता है, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम दिया जा सकता है इत्यादि। ये हानियाँ खासकर निम्नलिखित हैं–

- श्रम–विभाग श्रमिक को मनुष्य के बजाय एक यंत्र जैसा बना देता है। अनेक आदमियों को अंत में कहना पड़ता है कि हमारी सारी जिंदगी आलपीनों की नोक घिसने में, बटन बनाने में या कीलें ठोकने जैसे काम में ही गयी। उन्हें कोई पूरी चीज बनाने का और अपने काम का प्रत्यक्ष पूरा परिणाम देखने का आनन्द या गौरव प्राप्त नहीं होता। उनकी विचार और योजना शक्ति का उपयोग न होने से उसका विकास नहीं होता। यह बात मनुष्य जाति की उन्नति या कल्याण में बहुत बाधक है।
- प्रत्येक श्रमी को एक कार्य के छोटे से उपविभाग की क्रिया करनी होती है। उसे उसी का अभ्यास होता है। यदि किसी कारण से उसका वह क्रिया करने का कार्य छूट जाय तो उसकी

कार्य–कुशलता एक खास क्षेत्र तक ही परिमित रहने के कारण, उसे अन्यत्र काम मिलना आसान नहीं होता।

- एक क्रिया को करने वालों को अपने काम का दूसरी क्रियाएं करने वालों के साथ मेल बैठाना पड़ता है। यदि दूसरी क्रिया वाले अपना कार्य कुछ जल्दी या तेजी से कर लेते हैं तो इन्हें भी अपनी क्रिया उसी गति से करनी पड़ती है। जिस गति से सम्बन्धित यंत्र चलता है, उसी गति से आदमी को चलना होता है। जब तक यंत्र चलता है, आदमी को भी चलना पड़ता है। जब यंत्र चलना बंद होता है, तो आदमी को भी अपना काम बंद करना होता है। इस प्रकार यंत्र आदमी पर हावी रहता है। इससे स्नायुओं या नसों पर बहुत अधिक दबाव पड़ता है, जो अस्वाभाविक और अस्वास्थ्यकर होता है।

4- vfgald vFk0;oLFkk e: forj.k

उत्पादन कार्य में हरेक मनुष्य का योग उसकी शक्ति के अनुसार होना चाहिए और उपज का वितरण उसकी आवश्यकता के अनुसार। एक ग्वाले को उतना ही मिलेगा, जितना कि पंचायत के मुखिया को। ऐसा भी हो सकता है कि अगर पंचायत का मुखिया घर में अकेला है, तो उसे ग्वाले से कम मिले।

–कुमारप्पा

संस्कृत में धन को द्रव्य कहा गया है, जिसक अर्थ है 'बहने वाला'। जब धन का इस प्रकार वितरण होता रहता है कि समाज में उसका प्रवाह बना रहे तो उससे समाज को लाभ होता है प्रवाह रुकने पर वह समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकर होता है।आर्थिक जगत में आजकल चारों ओर उत्पादन के लिए पुकार है। कहते हैं कि लोग भूखे–नंगे हैं। उनके अभाव दूर करने के लिए अधिक उत्पादन करना चाहिए, उत्पादन का परिमाण बढ़ाना जरूरी है। परंतु इस कथन में सत्यांश ही है, यह पूर्ण सत्य नहीं। बल्कि यह कहना चाहिए कि इसमें विशेष सार नहीं हैं। उत्पादन बढ़ जाने पर भी यदि वितरण ठीक ढंग से न हो, तो लोगों के अभाव बने ही रहेंगे, वे भूखे–नंगे ही रहेंगे। उनकी समस्या हल न होगी। उदाहरण के लिए चार आदमियों में से प्रत्येक को चार–चार रोटी की आवश्यकता है, और उनका उत्पादन 15 रोटियों का है, तो यह उत्पादन अवश्य ही कम है, तथापि समान वितरण करके वे इसमें किसी तरह अपना काम चला सकते हैं। अब कल्पना करें कि उत्पादन बढ़कर बीस रोटियां हो गयीं। परंतु वितरण इस प्रकार रहा कि एक ने 10 ले ली, दूसरे ने 6, और तीसरे और चौथे के पास केवल 2–2 रह गयी। इस दशा में उत्पादन बढ़ने पर भी दो आदमी भूखे रहेंगे। इससे स्पष्ट है कि केवल अधिक उत्पादन की बात में दम नहीं हैं। उसका न्यायपूर्ण बंटवारा नहीं होगा तो मनुष्य भूखे ही रहेगा। इससे यह आशय नहीं कि उत्पादन नहीं बढ़ाया जाय। मतलब यही है कि उत्पादन बढ़ाने के साथ वितरण उचित होने की बहुत आवश्यकता है। उचित वितरण न हो तो उत्पादन बढ़ाने मात्र से उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता।

पदार्थ के वितरण में दो प्रकार से विचार होता है–1. उपभोक्ता की दृष्टि से, और 2. उत्पादन की दृष्टि से। पहली दृष्टि से यह विचार करना होता है कि जो माल पैदा या तैयार किया गया है उसे उपभोक्ता तक किस प्रकार पहुंचाया जाय, उसकी खरीद–बेच किस तरह हो, इस कार्य में किस तरह से अधिक से अधिक

सुविधाएं की जायं कि यह कार्य जल्दीतथा कम खर्च से हो जाय। आजकल भूमि वाले को लगान श्रमिक को मजदूरी, पूंजी वाले को ब्याज और व्यवस्थापक को लाभ दिया जाता है।

उत्पादक की दृष्टि से वितरण की समस्या बहुत जटिल है। इसका एक भाग लगान है। लगान कितना हो, इसका आधार या स्वरूप तथा वसूल करने का समय क्या हो–इस विषय में कितनी कठिनाइयां और मुसीबतें रहती हैं, इसका भारतवासियों को काफी कटु अनुभव है। भारत की भांति अन्य कई देशों में भी लगान की यह जटिलता प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रही हैं। लगान के अतिरिक्त, वितरण की समस्या का एक भाग मजदूरी का है। मजदूरों और पूंजीपतियों का संघर्ष आधुनिक अर्थव्यवस्था का नित्य–कर्म है। विविध देशों की सरकारों ने इसे मिटाने के नहीं, कम करने के विविध प्रयत्न किये। पर वे कभी कुछ विशेष समय के लिए संतोषप्रद नहीं हुए। वे प्रायः अपर्याप्त ही रहे। अस्तु, मजदूरी और पूंजी के संघर्ष से आधुनिक जगत बहुत अशांत और पीड़ित हैं।इसी प्रकार ब्याज की समस्या भी काफी उलझन–भरी है। पहले तो यही विचारणीय है कि ब्याज लिया जाना कहां तक उचित है। फिर, ब्याजकी दर के सम्बन्ध में भी देश–काल के अनुसार अलग–अलग विचार रहे हैं; और व्यवहार–जगत में अनेक बार उन सब विचारों को तिलांजली देकर ऋण लेने वालों से मनमाना बर्ताव होता रहा है। ऋणग्रस्तों की रक्षा के लिए कानून प्रायः कभी भी यथेष्ट शक्तिमान या प्रभावशाली नहीं हुआ है। वितरण की समस्या का एक भाग लाभ है। उत्पादन और विनिमय का लक्ष्य आज सेवा न होकर मुनाफा हो रहा है। अकसर किसान, कारीगर, दुकानदार कल–कारखाने वाले तथा व्यापारी–सब मुनाफे के पीछे पड़े हुए हैं, और अपनी आत्मा को बेचकर धन जोड़ने में लगे हैं। मानवता का भयंकर ह्रास हो रहा है; उसकी रक्षा के लिए मुनाफेखोरी का और इसलिए वितरण का नियंत्रण होना चाहिए।

इस प्रकार लगान मजदूरी, सूद और मुनाफा– प्रत्येक दृष्टि से गंभीर विचार की आवश्यकता है। यदि विविध परिवार यथांसभव स्वावलम्बी जीवन बितायें, अपनी भूमि पर, अपने श्रम तथा अपनी ही पूंजी से खासकर भोजन–वस्त्रादि का उत्पादन कर लें तो लगान, मजदूरी, सूद और लाभ की समस्या पैदा ही न हो।

4-1 yxku

पृथ्वी के मालिक जमींदार नहीं, बल्कि ईश्वर है; इसलिए उससे उत्पन्न अन्न के स्वामी वे लोग हैं जो उसमें मेहनत कर अन्न उत्पन्न करते हैं।

–गांधीजी

अपनी भूमि पर खेती करने वाला किसान सरकार को जो द्रव्य देता है; वह मालगुजारी है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे की भूमि का उपयोग करता है तो इस उपयोग के बदले वह जो द्रव्य दूसरे व्यक्ति को दे, लगान है। भारत में किसान से जमींदार को मिलने वाली रकम लगान कही जाती है, यद्यपि इस रकम में लगान और मालगुजारी दोनों मिली रहती हैं।

बहुत से देशों में जमींदारी प्रथा उठ गयी है। जमींदारी हटाने की विधि या शर्तों में भले ही कुछ लोगों में मतभेद हो, प्रगतिशील व्यक्ति इस विषय में एकमत हैं कि अपने आप कुछ परिश्रम न करने वाले जमींदार वर्ग को लगान के रूप में आय प्राप्त होना नीति–सम्मत नहीं। जमीर की पैदावार पर अधिकार उसी व्यक्ति का होना चाहिए, जो उसे जोत–बोकर उस पर खेती करता है; उसके सिवा किसी दूसरे का नहीं, चाहे उसे जमींदार, जागीरदार या तालुकेदार आदि कहा जाता हो।

4-1-1 Hkfe lkekftd lEifÙk

विचारणीय प्रश्न यह है कि भूमि पर अधिकार किसका माना जाय। इस पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व होना कहां तक उचित है? आजकल अनेक स्थानों में एक–एक आदमी के पास कई–कई सौ एकड़ जमीन या बड़े–बड़े जंगल आदि हैं। वह इनके लिए कोई श्रम नहीं करता; खाली बैठे इनका किराया या लगान वसूल करता है; दूसरे सहस्त्रों आदमी ऐसे हैं, जिनके पास उनकी कही जा सकने वाली एक वर्ग गज भी भूमि नहीं। यह स्थिति नितान्त अन्यायपूर्ण है।

भूमि के किसी भी हिस्से का विचार करें, वह प्रकृति की ही देन है। उस पर अनेक आदमियों ने श्रम किया है अर्थात् हमें जो भूमि मिली है, उसे वर्तमान अवस्था में लाने का श्रेय समाज को है। इससे स्पष्ट है कि भूमि का वर्तमान विभाजन अनुचित है। किसी व्यक्ति को उतनी भूमि तथा उतने ही समय तक उपयोग करने का अधिकार होना चाहिए, जितनी भूमि पर और जब तक वह अधिकार सामाजिक न्याय की दृष्टि से उचित हो।

4-1-2 fut ekyfd;r vkj yxku

भूमि की मालकियत का प्रारंभ तीन प्रकार से हुआ–1. जमीन पर परिश्रम करने से, 2. जोर जबरदस्ती से और 3. शोषक साहूकारी से। जमीन पर परिश्रम करनास्वाभाविक और उचित भी था कि जो मनुष्य जिस जमीन पर बस गया और जिसे उसने खूब मेहनत करके साफ और समतल किया और खेती की, पेड़ लगाये, वह जमीन उसकी समझी जाय। खेती जमीन की चाकरी है और फसल है उसका वेतन। जो चाकरी करता है, उसी को पूरा वेतन मिलता है। उसे अपने वेतन का कुछ हिस्सा पहले के नौकर को नहीं देना पड़ता। पर मौजूदा काश्तकार को यानी भूमि के वर्तमान चाकर को वेतन यानी फसल का कुछ हिस्सा देना चाहिए, ऐसा रिवाज पड़ गया है। बात यह है कि सबसे पहले के किसान ने प्रारंभ में बंजर भूमि में अपने खून का अर्थात् परिश्रम का खाद देकर उसे कमाया, उपजाऊ बनाया, पेड़ लगाये; दीर्घकाल तक सेवा चाकरी की, तब उसे उनके फल चखने को मिले। आज जबवह जमीन को दूसरे के हवाले करके जाने लगा तो दूसरा मनुष्य बिना परिश्रम के मिले हुए का कुछ हिस्सा मूल किसान को दे, यह उचित ही है। यही 'लगान' कहलाया। जैसा आम–अमरूद आदि फल–वृक्षों का लगान, वैसा ही धान की खेती का भी। परंतु अगर यह लगान लेना उचित है तो इसकी मर्यादा होनी चाहिए; आगामी दस–बीस साल तक रहे और उसका अनुपात उत्तरोत्तर कम होता जाना चाहिए; हमेशा के लिए लेते रहना उपयुक्त नहीं हो सकता।

भूमि की मालकियत, मेहनत के अलावा, जोर–जबरदस्ती से भी प्राप्त हुई है। यूरोपियनों ने अफ्रीका, अमरीका आदि भिन्न–भिन्न प्रदेशों पर अपने–अपने राष्ट्र के निशान फहराये। उस समय से वे देश अपने मूल निवासियों सहित उन राष्ट्रों की मालकियत बन गये। अब एशिया के लोग वहां जाकर खेती करना चाहेंगे तो उन्हें वहां के सत्ताधारियों का शिकार होना पड़ेगा।

जिस प्रकार बड़े–बड़ों की जोर जबरदस्ती चल रही है, उसी प्रकार जमीन के पट्टेदारों की हुकूमत भी चाहे वह कानून से ही कायम की गयी हो, कम या अधिक मात्रा में जबरदस्ती पर ही आधारित है। जिसके लिए संभव हुआ, उसने अच्छी और उपजाऊ भूमि हड़प ली। बाद में आने वालों को या तो निकृष्ट भूमि से संतुष्ट रहना पड़ा या फिर दूसरों का आसानी बन कर उनकी मेहरबानी पर जीना पड़ा। जमीन–मालिक ही कानून

बनाने वाले भी थे। वे अपनी सुविधा के ही कानून बनाते थे। बलवानों ने जमीन आपस में बांट ली और वे दुर्बलों को मेहनती किसान बनाकर बिना श्रम से मिलने वाले लगान पर ऐश–आराम करने लगे।आरंभ में हर एक आदमी अपनी–अपनी जमीन का मालिक था। किसी को किसी से कुछ लेना–देना नहीं था। किंतु निकृष्ट जमीन वाले किसानों को अन्न की कमी पड़ती थी तब उन्हें दूसरे खुशहाल किसानों से मदद लेनी होती थी। इससे दूसरों की मुसीबत से फायदा उठाने की लोभी वृत्ति के लिए मौका मिला। अर्थात् इससे शोषक साहूकारी पैदा हुई। साहूकारी के पोशक एवं शोषक, उपकारक तथा अपकारक, बट्टे खाते की और ब्याजखोरी की, इस प्रकार की दोनों पद्धतियां संसार में चल रही हैं। उपकारक साहूकारी कभी अदालत के दरवाजे पर कदम नहीं रखती। इसमें ब्याज नहीं होता, बल्कि मूलधन में ही कुछ छूट देने की रीति है।

परंतु शोषक साहूकारी तो सवाया लेती है। नतीजा यह होता है कि जिस किसान को पिछले साल में एक मन का घाटा आया, उसे फसल काटते ही उस अपर्याप्त फसल में से भी सवा मन अनाज निकाल देना पड़ता है। फलतः आगामी वर्ष के उसे सवा दो मन अनाज का घाटा आता है और साढ़े बाईस सेर ब्याज में देने पड़ते हैं। तीसरे साल घाटा तीन मन साढ़े बत्तीस सेर और ब्याज अड़तीस सेर दस छटांक। इस प्रकार कर्जदार की गृहस्थी उत्तरोत्तर गिरती जाती है और अंत में साहूकार उसकी भूमि ही मोल ले लेता है और पहले जो ब्याज लेता था, वह उसकी जगह अब लगान लेने लगता है। जिसका निर्वाह सारी खेती की उपज में भी नहीं होता था, उसका निर्वाह अब लगान देने के उपरांत बची हुई उपज में किस तरह होगा। अर्थात् उसे बैल बेचकर बटाईदार से कृषि–मजदूर बनना पड़ता है और पुराने जमाने में तो उसे एक के बाद एक अपने लड़के भी बेचने पड़ते थे। इस प्रकार गरीबों की यह गृहस्थी बे–पेंदे की होती है। उधर साहूकार भी स्वयं खेती करना छोड़ देता है और लगान वसूली और मजदूरों से खेती करवाने का काम करता है। किंतु थोड़े ही समय में वह गांव के नीरस जीवन से ऊबकर शहर का रास्ता पकड़ता है। गांव से ब्याज और लगान तो मिलता ही रहता है, वहां दूसरी आय का काम करने पर वह गांव से आमदनी वसूल करने का काम अपने कारिन्दे को सौंप देता है या वह अपनी गांव की जायदाद किसी व्यक्ति के हाथ बेचकर उससे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार किसानों की जमीनें वैधानिक पद्धति से साहूकारों के कब्जे में जाती हैं और लगान देने वाली हो जाती हैं।

4-1-3- tehu dh [kjhn

कुछ जमींदार कहते कि हमने तो जमीन नकद कीमत देकर खरीदी है। पर उन्होनें वह खरीदी किससे है या तो मालिक से ली होगी, या जोतने वाले मालिक से। अस्तु, बेचने वाले को जितना और जैसा अधिकार था, उतना ही अधिकार जमींदारको प्राप्त हुआ। जब तक चोरी का पता नहीं लगता तभी तक उस पर खरीददार की मालकियत रहती है, बात खुलते ही माल जब्त होता है और खरीददार अपराधी करार दिया जाता है।अगर जमीन जोतने वाले परिश्रमी किसान से खरीदी हो तो उसे सिर्फ अपनी साख यानी जमीन में की हुई तरक्की ही बेचने का अधिकार था। अर्थात् जोतने वाले मालिक को 'पगड़ी' दी, कीमत नहीं। अस्तु इन दोनों अवस्थाओं में से किसी में भी भूमि के न्यायानुल वितरण में रुकावट डालने का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार भूमि का स्थायी रूप से स्वामी कोई भी नहीं माना जाना चाहिए। भूमि मनुष्य की स्वामित्व की वस्तु नहीं है। भारत में भूदान यज्ञ काआधारभूत विचार यही है। भूमिहीनों को जो भूमि मिलेगी, वह भी स्वामित्व के अधिकार से नहीं मिलेगी। जब तक वे उस भूमि को अच्छी तरह से कमायेंगे, और जब तक उनके

पास जीविका का और कोई अधिक लाभदायी साधन नहीं होगा; तभी तक उनके पास भूमि रहेगी। वे उसे बेच नहीं सकेंगे, तथा ठेके पर किसी और को देकर खुद किसी दूसरे रोजगार के लिए नहीं जा सकेंगे।

किसी व्यक्ति की, भूमि पर निजी मालकियत नहीं, जैसी आजकल प्रायः समझा जाता है। वह उस पर खेती कर सकता है, पर उसे उसको ठेके पर दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में भूमि का लगान लेने–देने या लगान का परिमाण निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं रहता। जबकि समाज में राजव्यवस्था है, उसके संचालन आदि के लिए धन की जरूरत रहेगी, जिसकी पूर्ति में सभी नागरिक भाग लेंगे।

4-2 etnjh

श्रम या मेहनत करने वाले को उसके श्रम के बदले जो धन दिया जाता है, उसे 'मजदूरी' कहते हैं। मासिक मजदूरी प्रायः वेतन या तनख्वाह कहलाती है। सर्वसाधारण में मजदूरी की अपेक्षा 'वेतन' शब्द अधिक आदर सूचक है, परंतु अर्थशास्त्र में ऐसा कोई भेद नहीं माना जाता।

सबके भले में अपना भला है। वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक दोनों का एकसा है। सादा मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

–गांधीजी

पैसे के दर ऊपर नीचे होती हैं। आप मजदूरों को निश्चित परिमाण में ज्वार क्यों नहीं देते! मेरा सुझाव है कि यह परिमाण रोजाना कम से कम पचास तोला हो। स्त्री हो, चाहे पुरुष, ज्वार में फरक न किया जाय। मजदूरी में जो फरक करना है, वह पैसे में किया जाय।

–विनोबा

4-2-1 udn vkj vlyh etnjh

आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपये–पैसे में चुकाया जाता है। इसे नकद मजदूरी कहते हैं। यदि मजदूरी अन्न–वस्त्र आदि पदार्थों में दी जाय, तो उसे असली मजदूरी कहा जाता है। इसमें मकान, शिक्षा, या मनोरंजन आदि, वे विशेष सुविधाएं भी मिली होती हैं, जो मजदूरों को उनके मालिकों की ओर से प्राप्त होती हैं। नकद मजदूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियों में से, जिसे पदार्थ और सुविधाएं अधिक मिलती हैं, उसकी दशा दूसरे से अच्छी होगी।

भारतवर्ष में पहले अधिकतर मजदूरी अन्न में चुकायी जाती थी। आचार्य कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में नकद और असली दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारण तौर से प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चित करता है; तो साथ ही कुछ भोजन आदि भी ठहराता है। उसकी व्यवस्था के अनुसार श्रमी अपने खाने–पीने की आवश्यकता से बेफिक्र रहता था और नकद वेतन से अपनी दूसरी जरूरतें पूरी कर सकता था। इस दशा में, पदार्थों के मूल्य के घटने–बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत से देहातों में अब भी यही दशा है; कृषि–श्रमजीवी अपनी मजदूरी अन्न के रूप में ही पाते हैं। परंतु आधुनिक 'सभ्यता' के विकास से, नगरों या औद्योगिक गांवों में मजदूरी नकद रुपये–पैसे के रूप में ही दी जाती है। इससे श्रमजीवियों पर जीवन–रक्षक पदार्थों की तेजी–मंदी का बहुत प्रभाव पड़ता है।नकद वेतन में प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह श्रमजीवी के

गुजारे के लिए पर्याप्त है या नहीं, और न इसी बात का कुछ नियंत्रण रहता है कि श्रमी उससे भोजन–वस्त्र खरीदता है या विलासिता की वस्तुएं। अनेक मजदूर सुबह से शाम तक मजदूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने–गिनाये पैसे पाते हैं, जो निर्वाह के लिए काफी नहीं होते; फिर, वे उनमें से भी काफी पैसे शराब आदि में खर्च कर डालते हैं।

हल यही है कि श्रमियों को वेतन नकदी में न मिल कर अन्न–वस्त्र के रूप में मिला करे, जिससे वह अपने जीवन की इन प्रधान आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चित हो जाय, उसे भोजन वस्त्र के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताएं हों, उनकी पूर्ति का सामान वह इन पदार्थों के अतिरिक्त अंश के विनिमय से प्राप्त कर ले, यदि कहीं कुल वेतन अन्न–वस्त्र के रूप में देने की व्यवस्था न हो तो इतना वेतन तो इस रूप में दिया ही जाय कि वह इन चीजों के लिए किसी के आश्रित न हो। मनुष्य को साधारणतया अन्न वस्त्र की आवश्यकता कितनी होती है, इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है; उतना प्रत्येक व्यक्ति को मिलना ही चाहिए, इसमें भिन्नता न होनी चाहिए; हाँ, अन्न के बारे में यह ध्यान में रखना ठीक होगा कि जिस प्रदेश में जो पदार्थ पैदा होता है, वही दिया जाय। यदि दो–तरह का अन्न पैदा होता है तो ये अन्न निर्धारित अनुपात में दिये जा सकते हैं। अन्न–वस्त्र के अतिरिक्त जो वेतन नकदी में दिया जाय, उसमें विविध प्रकार के श्रमियों में कुछ अंतर रह सकता है, पर वह भी एक सीमा तक ही होना चाहिए, जिससे यथा–संभव समता का व्यवहार हो। नकदी में दिये जाने वाले वेतन से आदमी अपनी अन्य जरूरतें पूरी कर सकते हैं। पैसे की दूषित अर्थ–व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है कि नकद वेतन देना क्रमशः घटाकर असली वेतन का चलन बढ़ाया जाय।

4-2-2 etnjh dh fo"kerk

मजदूरी के विविध पहलुओं के अध्ययन से उसकी विषमता का प्रश्न सामने आता है। वर्तमान अवस्था में यह बड़े विकराल रूप में उपस्थित है। मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार मैनेजर को वेतन बहुत अधिक, और मजदूर की बहुत कम होती है, किंतु क्या वेतन की इतनी विषमता उचित हैऔर क्या दो व्यक्तियों की, भोजन–वस्त्र आदि की मूल अर्थात् प्राकृतिक आवश्यकताओं में इतना अंतर होता है? इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों की मजदूरों की बात है।

मजदूरी की विषमता बौद्धिक कार्यकर्ता और शरीर–श्रमी में व्यापक रूप से मौजूद है। पहले को साल में कम दिन और प्रतिदिन कम घंटे काम करने पर भी शरीर–श्रमी की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाएं तथा बहुत अधिक वेतन दिया जाता है। उदाहरण के लिए विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर साल में कुल मिलाकर प्रायः छः माह से भी अधिक की छुट्टी मनाते हैं तो वेतन बारह महीने का पाते हैं। जिन दिनों वे काम करते हैं उनमें औसत दो–तीन घंटे ही काम होता है। फिर भी उनका वेतन साधारण शरीर–श्रमी की अपेक्षा कई–कई गुना होता है। यही बात न्यायाधीशों, राज्यपालों, मंत्रियों तथा अन्य अनेक सरकारी पदाधिकारियों की है। कितने ही व्यक्ति तो औसतन दो घंटे भी हर रोज काम नहीं करते और उनका काम भी बहुधा उन कागजों पर हस्ताक्षर कर देने का होता है, जो उनके अधीन कर्मचारी तैयार करते हैं। समाज में इन लोगों को कितना आदर प्रतिष्ठा और कितना अधिक वेतन मिलता है। यह सब अन्यायमूलक है। इसका अंत होना आवश्यक है।

वर्तमान अवस्था में कितने ही बौद्धिक व्यवसाय समाज–विरोधी हैं। ये व्यवसाय बीमारी, गुनाह और व्यसनों को प्रोत्साहन नहीं देते तो उनकी वृद्धि के अभिलाषी तो हैं ही। डाक्टर सोचता है कि खूब बीमारी का मौसम आये, रोगियों की संख्या बढ़े और उसका धंधा अच्छा चले। वकील की यह चाह है कि लोगों में लड़ाई–झगड़े, मारपीट और मुकदमेबाजी हो, जिससे उसकी वकालत की आमदनी बढ़े। शराब का दुकानदार यही मनाता है कि जनता में नशीली चीजों के सेवन की प्रवृत्ति बढ़े, तभी तो उसकी दुकान अच्छी चलेगी। गल्ले का व्यापारी चाहता है कि किसी तरह अकाल या दुर्भिक्ष पड़ जाय जिससे उसके अन्न–भंडार ऊँचे भाव से बिके और उसे खूब मुनाफा हो। इस प्रकार ये बुद्धिजीवी दूसरों के संकट को अपना सुयोग समझते हैं।

किसी व्यक्ति का अपनी बुद्धि को ऐसे कामों में लगाना उसका दुरुपयोग ही करना है। वह तो जनता–जनार्दन की सेवा में लगनी चाहिए, यदि उससे जीवन–निर्वाह का काम लिया जाय तो भी कुछ ठीक कहा जा सकता है, पर उससे दूसरों का अहित करके अपना स्वार्थ साधन करना सर्वथा अनुचित है, अमानुशिक है। श्री वियोगी हरि ने लिखा है– 'पढ़े–लिखे कहते हैं हम बुद्धि से काम करते हैं। लेकिन जीविका कमाने के लिए भगवान ने हाथ दिये हैं, और बुद्धि दी है परोपकार के लिए। वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर– इनके पास बुद्धि परोपकार के लिए दी है । वकील, डाक्टर, प्रोफेसर– इनके पास बुद्धि है तो वे समाज की सेवा करें। बुद्धि ब्रह्मरस है। उसे बेचना पाप है। बुद्धि के उपयोग पर पेट भरने को कोई कुछ ले तो उतना उचित है। पर तिजोरी भरने के लिए बुद्धि का उपयोग करना अनर्थ है।'

आजकल मजदूरों के वेतन का समय–समय पर विचार होता है। कभी नकद वेतन बढ़ता है, कभी उन्हें कोई सहूलियत देने की व्यवस्था होती है। इससे सुधारकों को कुछ हर्ष और संतोष हो सकता है। पर ऐसे परिवर्तनों से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। दृष्टि तो यह हो कि मजदूर और मालिक का भेद हटे, दोनों एक दूसरे के नजदीक आवें मिल की आमदनी में दोनों को लगभग में समाज हिस्सा मिले। विनोबा ने कहा है– 'होना यह चाहिए कि मिलें मालिक और मजदूरों के साझे में हो; साल भर में जो कुछ मुनाफा हो, उसका कुछ हिस्सा धंधे के बढ़ावे के लिए रहे, कुछ मालिक को और कुछ मजदूरों को दिया जाय। मालिक को कितना हिस्सा दिया जाय, यह मालिक नहीं कहेगा। वह कहेगा, मैंने बुद्धि लगायी है। पूंजी मेरे पास की है, लेकिन मेरी नहीं है। पूंजी देश की है और मालिक भी देश का है। वह एक मैनेजर है, उसने अकल लगायी है। इसलिए मजदूर उसको जो देंगे, उस पर उसे संतुष्ट रहना चाहिए।'

श्रमियों को वेतन नकदी में न मिल कर अन्न–वस्त्र के रूप में मिला करे, जिससे वह अपने जीवन की इन प्रधान आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चित हो जाय, उसे भोजन वस्त्र के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताएं हों, उनकी पूर्ति का सामान वह इन पदार्थों के अतिरिक्त अंश के विनिमय से प्राप्त कर ले, यदि कहीं कुल वेतन अन्न–वस्त्र के रूप में देने की व्यवस्था न हो तो इतना वेतन तो इस रूप में दिया ही जाय कि वह इन चीजों के लिए किसी के आश्रित न हो। मनुष्य को साधारणतया अन्न वस्त्र की आवश्यकता कितनी होती है, इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है; उतना प्रत्येक व्यक्ति को मिलना ही चाहिए।अन्न के बारे में यह ध्यान में रखना ठीक होगा कि जिस प्रदेश में जो पदार्थ पैदा होता है, वही दिया जाय। यदि दो तरह का अन्न पैदा होता है तो ये अन्न निर्धारित अनुपात में दिये जा सकते हैं। अन्न–वस्त्र के अतिरिक्त जो वेतन नकदी में दिया जाय, उसमें विविध प्रकार के श्रमिकों में कुछ अंतर रह सकता है, पर वह भी एक सीमा तक ही होना चाहिए, जिससे यथा–संभव समता का व्यवहार हो। नकदी में दिये जाने वाले वेतन से आदमी अपनी अन्य

जरूरतें पूरी कर सकते हैं। पैसे की दूषित अर्थ–व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है कि नकद वेतन देना क्रमशः घटाकर असली वेतन का चलन बढ़ाया जाय।

वेतन संबंधी एक अन्याय आजकल यह हो रहा है कि मिलों और कारखानों में काम करने वालों को हाथ–मजदूरों की अपेक्षा बहुत अधिक वेतन दिया जाता है। इसका परिणाम यह है कि हाथ–उद्योगों में काम करने वालों के लिए निरंतर अपना काम छोड़ने और कल–कारखानों में जाने का प्रलोभन बना रहता है। हाथ–उद्योग नष्ट हो रहे हैं, जिससे होने वाली विविध हानियों का विचार पहले किया जा चुका है। मश्रुबाला ने लिखा है–''हाथ–मजदूरों का मेहताना उनके माल का परिमाण और गुण देखकर नहीं ठहराया जा सकता, उनके काम का समय देखकर ही तय करना पड़ेगा। मिल का तकुआ एक दिन में एक पौंड सुत कात सकता है, और एक ही मजदूर एक साथ चल रहे कई तकुओं की देख–रेख कर सकता है। ऊपरी तौर पर यह दिखेगा कि मिल–मजदूर ने एक दिन में कई पौंड सूत काता है, जबकि हाथ–कताई के द्वारा हमारे चरखा चलाने वाले ने सिर्फ आधा पौंड काता है। लेकिन मिल–मजदूर के अधिक उत्पादन का कारण उसका अतिरिक्त कौशल या मेहनत नहीं है। वह तो उसके नये औजारों का फल है। हाथ–कताई की, और हाथ–कताई करने वालों की रक्षा राष्ट्र के हित में जरूरी है, इसलिए तथा जिन कठिन परिस्थितियों में हाथ–कत्तिन की जिंदगी बसर होती है, उनमें उसके ठीक निर्वाह के लिए, हमें मानना चाहिए कि हाथ–कताई का यह आधा पौंड सूत उतना ही कीमती है जितना मिल–मजदूर का कई पौंड। इसलिए पूरे काम की समान घंटों की मजदूरी दोनों मजदूरों को एकसी देनी चाहिए।''

वर्तमान अर्थव्यवस्था में वेतन के विषय में कितनी असमानता है, इसका एक ज्वलंत उदाहरण यह है कि जो किसान सारी जनता के लिए भोजन–वस्त्र जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजें पैदा करता है, उसे तो बहुधा अपने जीवन–निर्वाह के साधनों की प्राप्ति नहीं होती, और जो आदमी लोगों के लिए नशे, उत्तेजना, विलासिता या मारकाट आदि का सामान तैयार करता है, उसे अधिक वेतन मिलता है। जरूरत है कि जो चीजें मनुष्य का स्वास्थ्य तथा चरित्र बिगाढ़ने वाली हों, वे पैदा ही न की जायें। यदि इस लक्ष्य को प्राप्त करने में कुछ देर लगे और बीच के समय में ऐसी चीजें क्रमशः कम करने की योजना अमल में लायी जाय, तो जब तक ये चीजें थोड़े–बहुत परिमाण में बनती रहें, लोगों में यह सोचने और समझने का विवेक तो होना चाहिए कि प्राथमिक आवश्यकता की चीजों के उत्पादकों को जो वेतन मिले, इसकी अपेक्षा गौण 'आवश्यकता' की चीजें बनाने वालों को बहुत कम दिया जाय।

4-2-3 U;ure oru ;k fuokg&oru

यूरोप, अमरीका के कुछ भागों में, खासकर जहां भिन्न–भिन्न प्रकार के धंधों में काम करने वाले संघ बन गये हैं, और निश्चित नियमों के अनुसार काम होता है, एक धंधे के मजदूर एक नियत वेतन से कम पर मिल ही नहीं सकते। कुछ देशों में तो कानून द्वारा यह तय हो गया है कि मजदूर को इतनी मजदूरी अवश्य ही मिले, जिससे उसका और उसके आश्रितों का निर्वाह हो सके। इसे न्यूनतम मजदूरी या निर्वाह–वेतन कहा जाता है। इसकी कुछ आधारभूत बातें ये हैं–

- प्रायः यह माना जाता है कि प्रत्येक कुटुम्ब में औसतन एक पुरुष, एक स्त्री और तीन बालक होते हैं।

- मजदूर को मजदूरी कितनी मिलनी चाहिए वह उससे अपने कुटुम्ब का साधारण रीति से पालन–पोषण कर सके।
- मजदूरों का निवास–स्थान काफी और हवादार होना चाहिए।
- मजदूरों के घर–खर्च के अतिरिक्त उनकी अन्य आवश्यकताओं का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रसंग में तीन बातों का ध्यान रखना जरूरी है–

- न्यूनतम मजदूरी जुदा–जुदा स्थानों में जुदा–जुदा हो सकती है, पर एक ही स्थान में अलग–अलग धंधों के लिए भिन्न–भिन्न नहीं होनी चाहिए।
- न्यूनतम मजदूरी की दृष्टि से खेती और उद्योग–धंधों के मजदूरों में कोई अंतर नहीं मानना चाहिए। दोनों को ही इसकी आवश्यकता है।
- यदि वास्तव में कोई उद्योग ऐसा है जो अपने मजदूरों को निर्वाह–वेतन नहीं दे सकता तो साधारण तौर पर ऐसे उद्योग को चलने का अधिकार नहीं है। हाँ, कुछ उद्योग ऐसे हो सकते हैं कि राष्ट्र–हित की दृष्टि से आवश्यक हो, पर उनसे मजदूरों को निर्वाह–वेतन न दिया जा सके। ऐसे उद्योगों की सरकार को ऐसी सहायता करनी चाहिए, जिससे मजदूरों को न्यूनतम वेतन अवश्य ही दिया जा सके। अस्तु, किसी भी दशा में मजदूर के न्यूनतम वेतन में कमी न होने देनी चाहिए।

खेतिहर साल में कई माह बेकार रहते हैं और इस समय भी उन्हें भोजन–वस्त्र आदि की आवश्यकता तो होती ही है। अगर उन्हें इस समय का वेतन न मिले तो उनका निर्वाह किस तरह हो। जो लोग समाज का भरण–पोषण करते हों, उनका भूखा–नंगा रहना किसी समाज के लिए शोभनीय नहींहैं। उनके गुजर–बसर की यथेष्ट व्यवस्था होनी चाहिए। कुमारप्पा ने कहा–उत्पादक को और उनके ऊपर अवलम्बित परिवार के लोगों को केवल खेती के थोड़े समय के लिए ही नहीं, बल्कि साल भर अपनी जीविका की साधन सामग्री जुट जानी चाहिए। इस बात को मद्देनजर रखकर उत्पादन की मजदूरी निर्धारित करनी चाहिए। उदाहरणार्थ आज चावल बारह आने पायली के हिसाब से मिलता होगा। पर उस बारह आने में चावल पैदा करने वाले खेती के मजदूर का साल के आठ महीने फाका रहने की ही गुंजाइश रहती है। समतायुक्त समाज में खेती के मजदूर को केवल खेती के मौसम में ही खाना, कपड़ा मिलने की व्यवस्था नहीं रहनी चाहिए, बल्कि वही व्यवस्था पूरे साल भर तक उसे समुचित खुराक और कपड़ा उपलब्ध कराने वाली होनी चाहिए।'

यह कहा जा सकता है कि बहुत से लोगों को बेकारी के समय की मजदूरी हर साल कई–कई माह देने से कोई अर्थव्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती। इसका हाल यह है कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि किसानों और खेत मजदूरों को बेकार रहने का अवसर ही न आये, प्रत्येक ग्राम या ग्राम–समूह के व्यक्तियों के श्रम का उचित संयोजन किया जाय, जिससे वे अपने खाली समय में ग्रामोद्योग का काम कर सकें।

4-2-4 leku etnjh dh i;Ru

मजदूरी की वर्तमान विषमता दूर करना आवश्यक है। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए हमें यह निश्चय कर ही लेना चाहिए कि देश में एक श्रमिक को दूसरे की अपेक्षा अधिक से अधिक कितने गुना तक वेतन दिया जाय। आरंभ में तीन या चार गुने तक की मर्यादा रखकर काम चलाया जा सकता है। उदाहरण के लिए खादी–संघों में कार्यकर्ताओं का वेतन प्रायः कम–से–कम पचास और अधिक से अधिक तीन सौ रहता है।

आदर्श की दृष्टि से इतना अंतर भी न रहना चाहिए, तथापि वर्तमान दशा में जबकि अंतर की कोई सीमा ही नहीं, उपर्युक्त नियम भी गनीमत है। अस्तु लक्ष्य तो यही रहना चाहिए कि एक स्थान या प्रदेश के सब श्रमियों का वेतन समान हो। इस दिशा में प्रयोग आरंभ हो गये हैं। सेवाग्राम (वर्धा) आदि की सार्वजनिक संस्थाएं इस सिद्धान्त को अमल में ला रही हैं। वहां आश्रम के संबंध में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक कर्मचारी को, चाहे वह अध्यापक हो, चाहे हरिजन मजदूर, रोजी के दो आने प्रति घंटे के हिसाब से समान रूप में मिलेंगे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आश्रमवासी को उसके पुत्र के समग्र व्यय के लिए एक आना प्रति घंटा मिले। इस प्रकार आश्रम के प्रत्येक कार्यकर्ता को तीन आने प्रति घंटे के हिसाब से आठ घंटे के काम का करीब डेढ़ रुपया प्रतिदिन मिलता था। यद्यपि वर्धा में मजदूरी सस्ती थी, किंतु यदि आश्रम के किसी काम के लिए मजदूर की जरूरत होती तो उसे आश्रमवासियों के समान ही वेतन दिया जाता।

मजदूरी के बारे में यह आवश्यक है कि समाज में कोई भी श्रम करने वाला व्यक्ति ऐसा न रहे जिसका भरण–पोषण न हो सके। जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त भोजन वस्त्रादि मिलना ही चाहिए। श्री विनोबा ने कहा है–'जो भी शक्तियां हमारे पास हैं, उन्हें हम अपनी नहीं मानते। कोई भी व्यक्ति अपनी शक्ति भर समाज का पूरा काम करता है तो वह रोजी का हकदार हो जाता है। एक आदमी, जो बिना आंख का है, अपनी उस कमी के बावजूद जो कुछ बनाता है, पूरी शक्ति से सेवा करता है तो वह खाने का हकदार है। आंख वालों की अपेक्षा उसकी सेवा की मात्रा कम हो सकती है, जबकि उसने अपने पास की ताकत तो पूरी–पूरी लगादी। कम–ज्यादा शक्ति के अनुसार पोषण में कमी–बेशी देने की कल्पना गलत है। पोषण भौतिक वस्तु है, सेवा नैतिक वस्तु है! नैतिक वस्तु की कीमत भौतिक वस्तु में नहीं हो सकती। क्या डूबने वाले को बचाने वाले की दस मिनट की सेवा का मूल्य रोजी के हिसाब से आंका जा सकता है।'

समाज का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार श्रम अवश्य करे, भले ही उसके काम की मात्रा कम हो। बिना श्रम किये, खाली बैठे मुफ्त का खाना अपमानजनक या अशोभनीय माना जाना चाहिए।

4-2-5 nf"Vdk.k cnyus dh vko';drk

मजदूरों को अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। इस समय जैसे पूंजीपति कहता है कि मैंने अपने बुद्धि–बल से सम्पत्ति प्राप्त की है, वह उसी प्रकार मजदूर की भी यह मान्यता है कि जो थोड़ा–बहुत मेरे पास है, वह मैंने अपने श्रम से कमाया है। इस प्रकार जहां तक सम्पत्ति पर स्वामित्व की भावना का प्रश्न है मालिक और मजदूर की एक ही भूमिका, एक ही आधार है। यह भूमिका जैसे मालिक को बदलनी है, वैसे ही मजदूर को भी बदलनी है। मजदूर को समझना है कि मैं अपना कर्त्तव्य पालन कर रहा हूं, जो काम मैं करता हूं, वह स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि देश और समाज के लिए कर रहा हूं। मैं समाज और देश का सेवक हूं। इस सच्चाई को हृदयंगम करके, मजदूर उतने ही पारिश्रमिक की मांग करे, जितना उसके लिए बहुत जरूरी हो, और इस पारिश्रमिक को लेते हुए वह अधिक से अधिक श्रम करे। वर्तमान अवस्था में तो वह जो श्रम करता है, वह कर्त्तव्य–भावना से नहीं, लाचारी से करता है। इसलिए यथासंभव उसे टालने की इच्छा रखता और कोशिश करता है। मजदूरी बढ़ने पर भी वह काम कम से कम करता है। नतीजा यह होता है कि उत्पादन यथेष्ट नहीं बढ़पाता।

जयप्रकाश नारायण ने कहा कि ''संसार में पिछले 150 वर्षों से मजदूर आंदोलन चल रहा है। परंतु वह यशस्वी हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। सम्पत्तिदान के जरिये हम उसे भी नयी दृष्टि देना चाहते हैं। हमें मजदूरों से कहना चाहिए कि यदि तुम केवल अपने ही हित के लिए संघर्ष कर रहे हो तो इससे समाज की क्या भलाई होने वाली है। शोषित और शोषक के झगड़े में समाज का कौन सा कल्याण निहित है! आज तक मजदूर आंदोलन केवल निजी स्वार्थों के संघर्षों पर आधारित है। इससे समाज को लाभ के बदले हानि ही होती है। अब तो मजदूर को अपनी नैतिकता पर खड़े होकर शक्तिभर सेवा करना है और आवश्यकतानुसार लेना है। मजदूर आंदोलन यदि यह स्वरूप ग्रहण करे तो निश्चय ही समाज में एक बिजली दौड़ जायगी, उसमें नये जीवन का संचार हो जायगा।''

4-2-6 cf) thoh Økfr

बुद्धिजीवियों को भी अपनी दृष्टि बदलकर शरीर–श्रम को प्रतिष्ठा देनी है। इस समय समाज में बुद्धिजीवी अपने आपको श्रेष्ठ मानता है और श्रमजीवी हीन। बुद्धिजीवी अपने धन या बुद्धि के बल से अधिक पैसा कमाता है, जबकि श्रमजीवी बड़ी मुश्किल से अपना गुजर–बसर कर सकता है। इससे श्रमजीवी बुद्धिजीवी बनने की इच्छा रखता है। अगर सब लोग बुद्धिजीवी बन जायं तो क्या समााज एक दिन भी टिक सकेगा। हमारी सामाजिक विचारधारा में इसक्रांति की जरूरत है कि श्रमिक का जीवन बुद्धिजीवियों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठित है। यदि समझदार बुद्धिजीवी क्रांति की दृष्टि से कुछ अंश में भी मजदूर की तरह काम करेंगे तो उसका असर साधारण मजदूरों पर भी पड़ेगा और संगत से उनका मानस सुधारने में और ईमानदारी से काम होने में मदद मिलेगी।

4-3 C;kt

सूद एक ऐसी बला है, जिसने समाज में कहीं टीले खड़े कर दिये हैं और कहीं पोखर खोद दिये हैं। सूद समता के लिए बहुत कड़वा विष है।

–भगवानदीन जी

रुपये का कोई ब्याज न होना चाहिए, क्योंकि रुपया स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। रुपया औद्योगिकता को प्रोत्साहन देने का एकमात्र अथवा मुख्य साधन नहीं है, और न ही उसे बनाया जाना चाहिए।

–किशोरलाल मश्रूवाला

पूंजी का व्यवहार करने–देने के बदले में पूंजी वाले को पूंजी के अतिरिक्त जो द्रव्य दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं।

4-3-1 C;kt dk fo'y"k.k

ब्याज के प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि पूंजी में तीन चीजों का समावेश होता है– शोषित या अपहृत श्रम, विशेष सुविधाओं के कारण होने वाला अतिरिक्त उत्पादन और विविध उपकरण या औजार आदि। अब इनमें प्रत्येक के सम्बन्ध में अलग–अलग विचार करें।

- यदि पूंजीपतियों के पास जो पूंजी है, वह उन्होंने मजदूरों को कम मजदूरी देकर, अर्थात् उनके हिस्से की कुछ–कुछ सम्पत्ति अपने लिए बचाकर संग्रह की है, तो यह उनके द्वारा मजदूरों का

शोषण किये जाने से जमा हुई है। इस पर वास्तव में उनका कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार इस पूंजी को उधार देकर उस पर सूद लिया जाना ठीक नहीं है।

- यदि पूंजी विशेष सुविधाओं के कारण उत्पन्न हुई है तो उसका लाभ किसी खास व्यक्ति या संस्था को न मिलकर समाज को मिलना चाहिए; कारण, विशेष सुविधाओं का श्रेय किसी एक को नहीं। इस प्रकार किसी का अपनी पूंजी के लिए दूसरों से ब्याज चाहना अनुचित है।
- उपकरण या औजारों की बात लीजिए। यदि किसी उपकरण का हम उपयोग नहीं कर रहे हैं, और वह हमारे किसी दूसरे भाई के काम आ सकता है, तो हमें उसको उससे काम लेने की सुविधा सहर्ष और स्वेच्छापूर्वक दे देनी चाहिए। गांवों में इस समय भी अनेक आदमी परस्पर में ऐसा व्यवहार करते हैं। इसमें कुछ प्रतिफल लेने की बात बहुत क्षुद्रता और संकीर्ण स्वार्थपरता की सूचक है।

आजकल आदमी अपने धन को टिकाऊ बनाने तथा उसे सुविधापूर्वक रखने के लिए सोना चांदी या सिक्कों के रूप में बदलते रहते हैं। वे इसकी सुरक्षा और वृद्धि के वास्ते चिंतित रहते हैं, और तरह–तरह के उपाय काम में लाते हैं। अगर यह द्रव्य जमीन में गड़ा रहे, या आलमारी में बंद रहे और इससे खेती या उद्योग–धंधे का उत्पादक कार्य न किया जाय तो इसमें कोई वृद्धि न हो। तथापि इस द्रव्य का स्वामी जब इसे दूसरों को उधार देता है तो वह इसे एक मेहरबानी का काम समझता है और ब्याज लेने की शर्त पर ही उधार देता है। परंतु उधार लेने वाला भी अगर इसे कहीं बंद करके रख छोड़े तो इससे कुछ द्रव्य पैदा न होगा। इसलिए वह उस द्रव्य से उत्पादक कार्य करने के लिए आवश्यक साधन जुटाता है और श्रम करता है। इस श्रम के कारण ही वह इस द्रव्य को इतना बढ़ा लेता है कि ऋणदाता को उसकी रकम ब्याज सहित लौटाने पर स्वयं अपने लिए भी कुछ बचा सकता है। इससे स्पष्ट है कि रुपया पैदा करने का काम द्रव्य नहीं करता, श्रम करता है। बिना श्रम के रुपये की कुछ वृद्धि नहीं हो सकती।

4-3-2 C;kt dk fojk/k

आजकल प्रायः सभी आदमी ब्याज लेते हैं; इसलिए ब्याज के उचित होने में कोई शंका नहीं की जाती। तथापि समय–समय पर अनेक जनों ने इसका विरोध और निंदा की है। सभी मुख्य धर्मों ने इसे बुरा बताया है। इस्लाम ने इसका स्पष्ट निषेध किया है। उपनिषदों में कहा गया है, 'शमलं कुसीदम्' अर्थात् ब्याज पाप है। ईसाई धर्म में भी इसे अनुचित माना है, तभी तो ईसाई संसार में यहूदी बहुत तिरस्कार भाव से देखे जाते हैं। संस्कृत में ब्याज शब्द का अर्थ ढोंग या बहानेबाजी है। इस भाषा में ब्याज के पर्यायवाची शब्द 'कुसीद' के आरंभ में जो 'कु' उपसर्ग है, वह कुत्पित या दूषित के अर्थ में आता है। अंग्रेजी में सूद के लिए 'इन्टेरेस्ट' शब्द है, उसका अर्थ स्वार्थ भी है।

ब्याज का इतना विरोध होते हुए भी अधिकांश आदमी इसकी आमदनी से परहेज नहीं करते। उपर्युक्त विरोध और निंदा से यह भी सिद्ध होता है किब्याज लेने का रिवाज बहुत पुराना और व्यापक है, तभी तो प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन काल में ब्याज का इतना विरोध संभवतः इसलिए किया गया है कि उस समय बहुत दुःखी और लाचार आदमी ही ऋण लेते थे और उनसे सूद लेना बड़ी निर्दयता या बेरहमी का काम समझा जाता था। आजकल तो बड़े–बड़े धनवान तक ऋण लेते हैं, जिससे वे अपना धन और

अधिक बढ़ा सकें। इस प्रकार ब्याज लेने देने का आजकल एक आम रिवाज है। इसकी निंदा या विरोध की बात कुछ इने–गिने साधु महात्माओं तक या कुछ ग्रंथों में ही सीमित है।

आजकल बहुतों की यह इच्छा रहती है कि जल्दी ही हमारे कारोबार से इतनी जमा–पूंजी इकट्ठी हो जाय कि हमारा काम उसके ब्याज से ही चलता रहे। हमें कुछ हाथ–पांव न चलाना पड़े। इस प्रकार हम सूदखोरी से स्वयं अपने आपको आलसी और मुफ्तखोर बनाते हैं। यही नहीं, यदि संभव हो तो हम अपने बालकों के लिए भी इतना छोड़ जाना चाहते हैं कि उन्हें हाथ–पांव न हिलाना पड़े और आराम से, ब्याज की आमदनी से, मौज उड़ाते रहें। इस सम्बन्ध में श्री अप्पा पटवर्धन के विचार बहुत मननीय हैं–''अपनी पूर्व पुण्याई पर आज, या पूर्वजों के पुण्य पर इस जन्म में सुख भोगना या बड़प्पन बघारना कम–से–कम आज तो एक तरह से अपनी अयोग्यता प्रकट करने के बराबर है। बूढ़े भी अपनी भलमनसाहत पर जियें, यह उत्तम पक्ष है। युवावस्था में किये पुरुषार्थ पर जीना मध्यम पक्ष है, एवं पूर्वजों के कर्त्तृत्व पर जीना अधम पक्ष है। ताजा अन्न खाना उत्तम है, सबेरे या दोपहर का दूसरी जून सायंकाल खाना मध्यम पक्ष है। लेकिन कल परसों का बासी अन्न खाना तो दैन्य ही है। लगान या ब्याज की आमदनी बासी अन्न ही है।''

रुपया–पैसा हमारे पास पड़ा–पड़ा कोई धन पैदा नहीं करता, वह व्यर्थ में जगह घेरे रहता है। हमें चिंता रहती है कि कोई इसे चुरा न ले जाये और इसको ले जाने के लिए हमारी जान का ही ग्राहक न बन जाये। क्या यह अच्छा नहीं है कि कोई पुरुषार्थी श्रमजीवी उसका उपयोग करे, और पीछे हमारी जरूरत के समय हमें लौटा दे? ऐसा आदमी रुपये की सुरक्षा के लिए कुछ मेहनताना मांगे तो क्या बुरा है! पहले ऐसा होता भी था। बड़े–बड़े महाजन या सेठ दूसरों की अमानतें अपने यहां रखते थे तो वे उनका ब्याज देने के बदले, उनकी रखवाली का शुल्क लेते थे। अब भी बहुत से बैंक आदि छोटी–छोटी रकमों पर ब्याज नहीं देते, बल्कि उन्हें जमा रखने की फीस लेते हैं।अब साधारण अर्थव्यवस्था दूसरी ही है। जो आदमी हमारी चीज की रखवाली करता है और उसकी चिंता से हमें मुक्त रखता है, उसका हम कुछ उपकार नहीं मानते; उलटा यह समझते हैं कि हम उस पर उपकार कर रहे हैं, और इस अजीब धारणा के आधार पर हम उससे ब्याज मांगते हैं। हमारे लोभ, तृष्णा और परिग्रह की भी कुछ सीमा है! हम अपने पास ही बेकार चीज का भी दूसरों को, अस्थायी रूप से भी, उपयोग करने देना नहीं चाहते। मानवता का तकाजा है कि हम कुछ त्याग करके, कष्ट सहकर भी, दूसरों का हित साधन करें। निदान, सामाजिक परंपरा, दूसरों की लाचारी आदि किसी भी कारण से रुपये का ब्याज लेना अनुचित है।

श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने अपनी 'जड़–मूल से क्रांति' पुस्तक में लिखा है–'ब्याज जैसी चीज रहने ही नहीं देनी चाहिए, बल्कि धन–संग्रह पर उलटे कटौती होनी चाहिए। जिस तरह बेकार पड़ा हुआ अनाज बिगड़ कर या सड़कर कम हो जाता है, उसी तरह बेकार पड़ा हुआ धन कम होता है। वह बिगड़ कर कम भले न हो, फिर भी उसे सम्हाल कर रखने की मेहनत तो पड़ती ही है। अगर सोने–चांदी को धन समझने की आदत न हो तो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। सोना–चांदी धन नहीं हैं, बल्कि विरलता, तेजस्विता वगैरह गुणों की बदौलत प्रतिष्ठा–प्राप्त आकर्षक पदार्थ मात्र हैं। वे पड़े–पड़े बिगड़ते नहीं हैं, इतना ही इनके मालिक को इनका लाभ है। इस लाभ के लिए इन पर दूसरा कोई लाभ या ब्याज लेने का कारण नहीं है।'

वर्तमान अवस्था में लोगों को ब्याज पर रुपया उधार लेने की जरूरत निम्नलिखित कारणो से होती है–

- अपने जीवन–निर्वाह का कार्य करने के लिए।
- विवाह–शादी, जन्म–मरण, तीज त्यौहार आदि सामाजिक आवश्यकताओं या रीति–रस्म और विलासिता के लिए।
- बहुत से मजदूरों द्वारा बड़ा–बड़ा उत्पादन कार्य करके मुनाफा कमाने के लिए।

अहिंसक विचारधारा में ये बातें नहीं रहेंगी, इसलिए ब्याज लेने–देने की भी जरूरत न होगी–

- जीवन–निर्वाह के लिए रुपया उधार लेने की आवश्यकता बहुत ही निर्धन और दीन दुखी आदमी को होती है। समाज में ऐसे व्यक्ति तभी होते हैं जब जनता में पारस्परिक स्नेह, सहयोग, सहानुभूमि और बंधुत्व नहीं होता, एक दूसरे का शोषण करता है, और दूसरों की अज्ञानता और लाचारी का लाभ उठाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति यथा–शक्ति श्रम करेगा, और श्रम का यथेष्ट मान होगा, कोई भी श्रम–साध्य कार्य घटिया दर्जे का न माना जायगा, और प्रत्येक श्रमिक को निर्वाह–वेतन या न्यूनतम वेतन मिलने की व्यवस्था होगी तो किसी को अपने निर्वाह–कार्य के लिए रुपया उधार लेने की आवश्यकता न होगी, और यदि किसी व्यक्ति को आवश्यकता भी हुई, तो वह अपेक्षाकृत धनवान व्यक्तियों से सहज ही मिल जायगा, जो अपने धन को समाज–सेवा का साधन मानते हुए उसे एक ट्रस्टी के तौर पर रखेंगे।
- जनता में यथेष्ट ज्ञान का प्रचार होने से सामाजिक रीति–रस्मों या विलासिता में अनावश्यक धन व्यय करने की बात नहीं रहती। ऐसे ज्ञान का प्रचार करने की व्यवस्था सामाजिक शिक्षा द्वारा तथा लोकसेवी सज्जनों के व्यावहारिक जीवन के उदाहरणों द्वारा की जायगी।
- आजकल कुछ आदमी बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कार्य प्रायः इसलिए करते हैं कि उनसे बहुत आय होती है, और सब खर्च निकालकर भी उन्हें बहुत मुनाफा होता है। ये लोग अपनी बौद्धिक योग्यता का उपयोग स्वार्थ–साधन अर्थात् धनोपार्जन में करते हैं, जबकि असल में वह लोकसेवा के लिए होना चाहिए। सर्वोदय व्यवस्था में बड़े पैमाने की केन्द्रित उत्पत्ति प्रायः बंद हो जाने से लोगों को उसमें लगने वाली बड़ी पूंजी की भी जरूरत न हुआ करेगी। यदि कुछ खास कार्य केन्द्रित उत्पादन पद्धति से करने आवश्यक ही हुए तो वे सरकार द्वारा किये जा सकते हैं। शोषणहीन सर्वोदय समाज में सरकार या अन्य संगठनों को ऐसे कार्यों के लिए यथेष्ट पूंजी बिना ब्याज के मिलने में कोई बाधा नहीं होगी, खासकर जबकि जनता में वह लोकसेवा का एक साधन मात्र माना जाय।

4-3-3 cdk l C;kt

आदमी अपनी बचत को सुरक्षित रखने के लिए किसी बैंक में जमा करता है तो क्या वह उससे साधारण ब्याज लेना छोड़ दे, जबकि बैंक अपने ग्राहकों या कर्जदारों से दुगुना–तिगुना ब्याज लेता है। अहिंसक विचारधारा में बैंको का उद्देश्य अपनी पूंजी बढ़ाना नहीं होना चाहिए और इसलिए उन्हें किसी से ब्याज लेने की जरूरत नहीं, उन्हें तो घाटा सहकर जनता का हित करना है। ऐसे बैंक किसी व्यक्ति का रुपया ब्याज पर जमा नहीं करेंगे। पर अभी इस तरह के बैंकों का चलन नहीं हुआ है। इस दशा में जो आदमी सर्वोदय की भावना रखने वाला हो, वह अपनी बचत का रुपया बैंक में केवल इसलिए जमा रखेगा कि वह सुरक्षित रहे। उसे ब्याज का लोभ न होगा, और उसे बैंक द्वारा साधारण नियमानुसार जो ब्याज मिलेगा, उसे वह अपने परिश्रम की कमाई न मानकर किसी लोकहित कार्य में लगाता रहेगा।

ब्याज का अंत करने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि साधारण कार्यों के लिए किसी व्यक्ति को ऋण लेने की आवश्यकता न हो; यदि किसी विशेष कारण से किसी को कुछ खास खर्च करना हो तो उसका प्रबंध समाज अर्थात् स्थानीय जनता या पंचायत आदि के द्वारा हो जाय। प्रायः आदमियों पर ऋण उनकी लम्बी बीमारी, या विवाह शादी अथवा जन्म–मरण सम्बन्धी रीति रिवाजों के कारण हुआ करता है। अगर आदमी थोड़ा विवेक तथा दूरदर्शिता से काम ले, तो ऐसे अवसरों पर होने वाला खर्च बहुत घट सकता है। फिर भी जो खर्च एक परिवार की सामर्थ्य से बाहर हो उसमें बस्ती वालों को हिस्सा बंटाना चाहिए। खासकर विवाह शादी का खर्च तो निजी या घर खर्च नहीं होना चाहिए, सारे गांव की तरफ से होना चाहिए। श्री विनोबा के शब्दों में 'शादी के लिए किसी को कर्ज करना पड़े, यह बात सारे समाज के लिए दोष है। शादी तय करना माता–पिता का काम है, लेकिन उसके लिए खर्च सारा गांव करेगा, क्योंकि वह एक सार्वजनिक काम है।'

अहिंसक विचारधारा यह है कि सब कर्जदार ऋण–मुक्त हों और भविष्य में कोई ऋणी न बने। हम अपनी–अपनी शक्ति भर इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहें। ऐसा लोकमत तैयार किया जाना चाहिए कि ब्याज लेना अनुचित है। जो ऋणदाता अपने कर्जदारों से मूलधन के बराबर या उससे कुछ अधिक रकम ले चुके हैं, वे उनका पूरा ऋण चुका हुआ समझें। अन्य ऋण–दाता भी उदारता और मानवता का व्यवहार करें। जो कर्जदार अपना और अपने परिवार का निर्वाह करने में भी असमर्थ हैं, उस पर कर्जा चुकाने के लिए जोर देना या कानूनी कार्रवाई करना इंसानियत के खिलाफ है। कानून से भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि कोई ऋणदाता अपने कर्जदार के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के साधनों में कमी न कर सके। एक अच्छे संस्कृत समाज में जिस प्रकार सूद लेना अनुचित है, उसी प्रकार किसी का कर्जदार होना भी शोभा नहीं देता। इन दोनों बातों को बंद करने के लिए सबको अपना–अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए।

4-4 ykHk

किसी पदार्थ के कुल उत्पादन–व्यय और उसकी कीमत में जो अंतर होता है, वह लाभ कहलाता है। आजकल उत्पादन–व्यय में उस पदार्थ के कच्चे माल के मूल्य के अतिरिक्त लगान, मजदूरी और सूद तो शामिल होते ही हैं। इनके अतिरिक्त उसमें औजारों और यंत्रों की घिसाई, विज्ञापन, बीमा–खर्च, उसे लाने–लेजाने का यातायात खर्च भी गिना जाता है तो उसका खर्च भी उत्पादन–व्यय का अंग है। इन सब खर्चों में कच्चे पदार्थ तथा लगान, मजदूरी और सूद का खर्च मुख्य और अनिवार्य होता है, अन्य खर्च ऐच्छिक हैं। उदाहरण के लिए यदि उसका बीमा नहीं कराया गया तो बीमा–खर्च नहीं होगा। यदि उस वस्तु को उत्पादन–स्थान में ही बेच दिया गया तो यातायात खर्च न होगा, और अगर उसमें किसी चालक शक्ति का उपयोग नहीं हुआ तो उससे सम्बन्धित खर्च का भी प्रसंग नहीं आयेगा। इस दशा में किसी वस्तु की कीमत में कच्चे पदार्थ, लगान मजदूरी और ब्याज सम्बन्धी खर्च निकाल देने पर जो शेष रहता है, वहलाभ है।

मालिकों को चाहिए कि वे अपने धन को समाज के कल्याण के लिए प्राप्त धरोहर मानें, जो कुछ मुनाफा साल भर में हो, उसका एक भाग कारखाने के विकास में लगे और एक भाग मजदूरों में बांटा जाय और एक छोटा भाग मालिक को जाना चाहिए; लेकिन लगायी गयी रकम के ब्याज और मुनाफे के रूप में नहीं, बल्कि उसकी सेवाओं, व्यवस्था–कौशल और योग्यता के वेतन के रूप में उसे मिलना चाहिए और उसका यह भाग आपस के समझौते से तय होना चाहिए।

–विनोबा

लाभ को व्यवस्था का प्रतिफल कहा जाता है। व्यवस्था में प्रबंध और साहस का समावेश माना जाता है। ये दोनों ही बौद्धिक कार्य हैं। प्रायः प्रबंध को निर्धारित वेतन या पुरस्कार दिया जाता है, जिसे वर्तमान अर्थशास्त्र में प्रबंधक की कमाई कहते हैं। इस प्रकार वास्तव में मुनाफा केवल साहस का फल रह जाता है। साहस का अर्थ 'हानि–लाभ' की जोखम उठाना, किया जाता है, पर व्यवहार में यह लाभ या मुनाफे की आशा ही है।साहसी अपने लाभ और स्वार्थ को दृष्टि में रखकर काम करता है। वह उत्पादन व्यय में अधिक से अधिक बचत करना चाहता है। वर्तमान अवस्था में वह जमीन वाले के लगान और पूंजी वाले के सूद में विशेष कमी नहीं कर सकता। पर मजदूरों को अपना श्रम बेच डालने की जल्दी होती है, उनकी इस कमजोरी से साहसी परिचित होता है; इसलिए वह जहां तक हो सकता है, वह कम मजदूरी देता है। जितना वह इन्हें कम देता है, उतना ही उसका मुनाफा अधिक होता है। सार यह है कि अन्य बातें समान होते हुए, श्रम का शोषण अधिक होगा, मुनाफा उतना ही अधिक होगा।

4-4-1 ykHk dh lhek

वर्तमान व्यवस्था में प्रत्येक उत्पादक तथा व्यापारी अधिक से अधिक लाभ लेना चाहता है; वह अपने लाभ की कोई सीमा रखने का विचार ही नहीं रखता। एक मजदूर को आठ घंटे तथा इससे भी अधिक समय काम करने से क्या मिलता है, इससे उसे कुछ मतलब नहीं होता। वह तो अपने धन का परिमाण बढ़ाने की फिक्र में रहता है। वास्तव में यह कार्य सेवा की दृष्टि से, कर्त्तव्य या धर्म मान कर किया जाना चाहिए। इसमें लाभ का सवाल नहीं उठता।

4-4-2 ykHk dk vf/kdkj 0;fDr;ksa dks gkuu lsa gkfu

साहसी या उत्पादक अपने मुनाफे के सामने समाज की हानि का विचार नहीं करता। अनेक दशाओं में वह ऐसा उत्पादन करता है, जिससे उसका खूब स्वार्थ–सिद्ध हो, भले ही उससे समाज को कितनी ही हानि हो। आज दिन हम अनेक स्थानों में भोजन–वस्त्र की कमी होते हुए भी बाजारों की दूकानों को फैशन और शौकीनी की तरह–तरह की आकर्षक वस्तुओं से भरी देखते हैं। वनस्पति तेल के बड़े–बड़े कारखाने खोले जाते हैं, खाने–पीने की अनेक स्वादिष्ट या जायकेदार और चटपटी मसालेदार चीजों का प्रचार किया जाकर जनता का स्वास्थ्य नष्ट किया जाता है। यही नहीं, हिंसक अस्त्र–शस्त्रों को बड़े–बड़े पैमाने पर बनाया जाता है, तथा युद्ध–ज्वर फैलाकर उन्हें खरीदने के लिए विविध राष्ट्रों को लालायित किया जाता है– इन सब बातों के मूल में उत्पादकों की मुनाफेखोरी की मनोवृत्ति ही तो है।

इस दृष्टि से कुछ लोगों का विचार है कि उत्पादन में जो लाभ हो, उसमें मजदूरों का भी काफी भाग हो। लाभ का निर्धारित भाग रक्षित धन में लिया जाकर जो बचे वह मालिकों और श्रमजीवियों में आधा–आधा बांट दिया जाय। पर यह योजना भी ठीक नहीं है; मालिकों या पूंजीपतियों की संख्या मजदूरों से कम होती है। इसलिए इस योजना से प्रत्येक मालिक के हिस्से में एक–एक श्रमजीवी की अपेक्षा बहुत अधिक धन आयगा, और आर्थिक विषमता बनी रहेगी। दूसरे, एक ही स्थान में एक उद्योग में दूसरे की अपेक्षा अधिक मुनाफा होने की दशा में उस उद्योग के मजदूरों को दूसरे उद्योग के मजदूरों की अपेक्षा अधिक आय होगी; यह भी ठीक नहीं। इस प्रकार लाभ के बंटवारे की योजना भी यथेष्ट हितकर नहीं।

4-4-3 ykHk dk vf/kdkj lekt dk

लाभ पर अधिकार न तो एक व्यक्ति का हो, और न कुछ थोड़े से व्यक्तियों का; वह समाज की चीज मानी जाय, वैसे भी लाभ बौद्धिक कार्य का फल है, जो समाज–सेवा के लिए होना चाहिए। श्री काका कालेलकर ने कहा है–'पूंजीपति को स्वत्व का अधिकार सिर्फ उसकी मेहनत के जितना ही होना चाहिए। बाकी की पूंजी और मुनाफा वह समाज–सेवा के लिए ही अपने पास रख सकता है।आज जो उसकी निजी सम्पत्ति मानी जाती है, वह सचमुच समाज की मूक सम्पत्ति से उसके पास धरोहर के रूप में है। राष्ट्र–हित के लिए अगर कोई जमीन, कारखाना या पूंजी देनी पड़ती है, तब प्रतिमूल्य के रूप में वह उसकी बाजारू कीमत नहीं ले सकता। वह तो अधिक से अधिक अपनी जिन्दगी भर की मेहनत का मूल्य मांग सकता है। मुनाफा तो उसका कभी था ही नहीं। मुनाफा तो समाज का है। उस पर अगर व्यक्ति का अधिकार माना जाय तो कारखाने के पुराने नये सब के सब कर्मचारियों का भी उसपर अधिकार है। समाज ही उन सबका प्रतिनिधि है।'

मनुष्य में ऊंचा उठने की, त्याग और सेवा–भाव का परिचय देने की असीम संभावनाएं हैं; वह नर से नारायण बन सकता है। अच्छा है कि धनी लोग स्वेच्छा से सामाजिक भावना और अपरिग्रह स्वीकार करें। अन्यथा वे ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए उत्तरदायी होंगे, जब इसके लिए बल का या कानून का सहारा लिया जायगा। धनवानों के सामने दो विकल्प हैं, वे स्वेच्छा से उसे सामाजिक कार्य के लिए लगायें, अर्थात् समाज की ओर से उसके ट्रस्टी होकर रहें; अन्यथा उस सम्पत्ति पर राष्ट्र का अर्थात् सरकार का स्वामित्व होने वाला ठहरा।

आजकल उत्पादन के अतिरिक्त व्यापार में भी खूब मुनाफा लिया जाता है। यह खुले आम कहा जाता है कि व्यापार में झूठ बोले बिना काम नहीं चलता। इस प्रकार व्यापार के नाम पर जो लूट चल रही है वह किसी भले आदमी या अच्छे समाज को शोभा नहीं देती। अस्तु, अहिंसक विचारधारा के अनुसार व्यापार एक सेवा–कार्य है, इसमें मुनाफे की भावना नहीं होनी चाहिए। श्री विनोबा ने कहा है– 'वाणिज्य को गीता के अर्थ में अगर हम धर्म मान लेते हैं तो मुनाफे का सवाल ही नहीं उठता। किसान और आम जनता हमारी मालिक है, और हमें मालिक की सेवा करनी है। इसलिए मजदूर और किसान जो कुछ निर्माण करता है, उसके वितरण में हमें सिर्फ मेहनताना लेना है और हर वक्त यह सोचना है कि देश की सामग्री कैसे बढ़ सकती है। आठ घंटे काम करके मजदूर केवल एक रुपया पाये, और व्यापारी एक हजार तो यह धर्म नहीं है। धर्मयुक्त व्यापार में न मुनाफा होना चाहिए न घाटा।'

यह कहा जा सकता है कि अगर लोगों को मुनाफा कमाने का अवसर न मिलेगा तो वे उत्पादन या व्यापार कार्य में उत्साह और स्फूर्ति कैसे प्राप्त करेंगे। स्मरण रहे कि मुनाफा कमाने या निजी सम्पत्ति रखने की मनोवृत्ति का मूल कारण यह है कि इस समय समाज में पैसे वालों का आदर है। पर यह सदा रहने वाला नहीं है। समाज अपना कल्याण चाहता है तो उसे पैसे को उसके कृत्रिम उच्च स्थान से अपदस्थ करनाही होगा। और, क्या आज भी समाज में सेवा, त्याग और श्रम की महिमा–वह सीमित क्षेत्र में भले ही हो– नहीं है? माता–पिता अपनी संतान के लिए, भाई अपनी बहिन के लिए, बहिन अपने भाई के लिए, अनेक व्यक्ति अपने मित्रों या रिश्तेदारों के लिए विविध कष्ट सहते हैं, और कितने ही संत प्रकृति वाले तो अपने–पराये का भेद हटाकर हर किसी भी व्यक्ति के लिए त्याग–भाव का परिचय देते हैं। क्रमशः यह भावना बढ़ेगी। आदमी यह

समझेगा कि किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी यही है कि उससे कितना आत्मिक सुख और संतोष मिलता है।

4-5 vkfFkd lekurk

आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है, पूंजी और मजूरी के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठी भर पैसे वालों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ो लोग अधपेट खाते और नंगे हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना।

—गांधीजी

मनुष्य को उतना ही रखने का अधिकार है, जितना उसे अपना पेट भरने के लिए जरूरी है। इससे ज्यादा रखने वाला चोर है और दण्ड देने योग्य है।

—भागवत

आदमी आर्थिक समानता का अलग–अलग अर्थ लेते हैं, इसलिए पहले यह जान लेना चाहिए कि इसका वास्तव में क्या अर्थ है, या समझा जाना चाहिए। इस विषय में गांधीजी ने कहा है–आर्थिक समानता की मेरी कल्पना का यह अर्थ नहीं कि हरेक को शब्दशः एक ही रकम दी जाय। उसका सीधा–सादा मतलब यह है कि हरेक स्त्री या पुरुष को उसकी जरूरत की रकम मिलनी ही चाहिए। मसलन, सर्दियों में मुझे जो दुशाले की जरूरत पड़ती है, जबकि मेरे भतीजे के लड़के कनुगांधी को, जो मेरे पुत्र के समान है, एक भी गरम कपड़े की जरूरत नहीं पड़ती। मुझे बकरी के दूध, संतरे और दूसरे फलों की जरूरत होती है, कनु का काम मामूली खुराक से चल जाता है। मेरे खाने का खर्च कनु से ज्यादा आता है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम दोनों में आर्थिक असमानता है। आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है–हरेक को उसकी जरूरत के माफिक दिया जाय। मार्क्स की व्याख्या भी यही है। अगर कोई अकेला आदमी एक औरत और चार बच्चों वाले आदमी के बराबर की मांग करता है तो इसको आर्थिक समानता का भंग कहा जायगा।'

इस प्रकार आर्थिक समानता का अर्थ यह है कि हरेक को उसकी जरूरत के अनुसार मिले; न कम, न ज्यादा। इस प्रसंग में अमीर गरीब, शहरी और ग्रामीण, उच्च वर्ग और निम्न वर्ग आदि के भेद–भाव को लक्ष्य में रखकर लोगों की आवश्यकताओं में अंतर समझना भ्रममूलक और अनिष्टकारी है।

4-5-1 vkfFkd vlekurk dk dkj.k

आर्थिक समानता की स्थापना के सम्बन्ध में विचार करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस समय यह समानता क्यों नहीं है। वर्तमान आर्थिक विषमता का मुख्य कारण यह है कि अब बहुत सीउत्पत्ति गृह–उद्योग और ग्रामोद्योग के बजाय केन्द्रीकरण पद्धति से कल–कारखानों में होती है, जिन पर कुछ इने–गिने व्यक्तियों का स्वामित्व होता है, इसी प्रकार भूमि के मालिक भी उसके जोतने वाले हजारों और लाखों किसान न होकर मुट्ठीभर जमींदार जागीरदार आदि हैं। फिर, इस समय पैसे की अर्थव्यवस्था है, उत्पादन का उद्देश्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, पैसा कमाना है। पहले किसी आदमी के पास कुछ अधिक धन होता था तो वह जिन्स के रूप में होता था। अन्न आदि पदार्थ ऐसे हैं, जिनका संग्रह थोड़े ही समय के लिए और एक

सीमित परिमाण में ही हो सकता है। अधिक समय का होने पर इनके खराब या नष्ट हो जाने की आशंका होती है। इसलिए पहले जब कोई धन व्यक्ति देखता कि उसके पास रहने वालों को इनकी आवश्यकता है, तो वह सहर्ष उनके लिए ये चीजें दे देता था। पर अब मुद्रा का चलन है। बैंकों में किसी–किसी आदमी का हजारों और लाखों रुपयो जमा है। इस धन के पुराना होकर खराब या नष्ट होने की आशंका नहीं। इसलिए अकाल या दुर्भिक्ष के अवसर पर भी आदमी अपने भूखे–नंगे भाइयों की जरूरतों की परवाह न करके बैंकों की जमा को सुरक्षित रखने और बढ़ाने की बात सोचते रहते हैं।

4-5-2 vkfFkd lekurkd l=kvifjxg vkj foltu

आर्थिक समानता की दृष्टि से प्रत्येक आदमी को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलना चाहिए। पर प्रश्न यह होता है कि किसकी जरूरत कितनी है। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य का वास्तविक या बुनियादी आवश्यकताओं के विषय में कोई विवाद नहीं होता। एक परिवार में यदि एक आदमी की खुराक का परिमाण अधिक है या उसकी आयु या तन्दुरुस्ती की दृष्टि से उसे कुछ विशेष ऐसी वस्तुओं के सेवन की आवश्यकता है, जो अपेक्षाकृत अधिक कीमती है तो इसमें कोई झगड़ा नहीं होता। पर जब कोई आदमी स्वाद के लिए तरह–तरह के कीमती पदार्थ खाता है, अथवा शौकीनी के लिए बढ़िया कपड़े पहनता है, या परिग्रह की भावना से कई–कई जोड़ी कपड़ों का संग्रह रखता है, जबकि उसके दूसरे भाई बहिनों की साधारण आवश्यकता भी पूरी नहीं होती– कोई भूखा रहने को, कोई दिगम्बर–भेष रखने को, और कोई अर्द्धनग्न रहने को बाध्य हो– तो आपस के ईर्ष्या होने वाली ठहरी। मकान की बात लीजिए; दो आदमियों के पास अपने रहने के साधारण स्वच्छ मकान हों तो उनके आकार प्रकार में कुछ अंतर होना नहीं अखरता। अखरने वाली बात तो यह होती है कि एक के पास कई–कई मंजिलों के विशाल सुंदर सजे हुए इन्द्रभवन हों, और दूसरों के पास घास–फूस की टूटी–फूटी झोपड़ी ही हो, अथवा उसका भी अभाव हो। इसी प्रकार धनवानों के घरों में विविध प्रकार का सामान या सम्पत्ति देखकर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कितनी चीजें ऐसी संग्रह कर रखी हैं, जिनकी उन्हें वास्तव में आवश्यकता नहीं है, परंतु जिनके लिए उनके मन में वासना या मोह है। निदान, विषमता का मूल कृत्रिम आवश्यकताएं और परिग्रह की भावना है। आर्थिक समानता लाने के लिए अपरिग्रह की नितात्न आवश्यकता है।

समाज में आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रश्न इसीलिए सामने आता है कि अभी आर्थिक विषमता है। और, आर्थिक विषमता का मूल है लोगों की निजी सम्पत्ति की भावना। आदमी सम्पत्ति के जुदा–जुदा टुकड़ों पर अपना स्वामित्व अधिकार मानते हैं, और किसी का हिस्सा बहुत कम है, और किसी का बहुत अधिक। इसी से सब ईर्ष्या, कलह या झगड़ा है। स्पष्ट है कि यदि समाज में स्वामित्व–विसर्जन की भावना यथेष्ट रूप में हो जाय, सम्पत्ति का सब लोग एक परिवार के सदस्यों की तरह समान रूप से उपयोग करने लगें तो फिर कोई विवाद रहने की गुंजाइश न हो।विचार कर देखा जाय तो सम्पत्ति का कोई भी भाग किसी व्यक्ति विशेष द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं है, उसे पैदा करने में अनेक आदमियों ने, कुछ दशाओं में तो कई–कई पीढ़ियों ने, योग दिया। वास्तव में अकेला कोई भी आदमी, कोई सम्पत्ति पैदा नहीं कर सकता। सम्पत्ति तभी पैदा होती है, जब कई आदमियों का, समाज का सहयोग है। इसलिए न्याय का तकाजा है कि सम्पत्ति के उपयोग में भी व्यक्ति का अधिकार मान्य न होकर, समाज का अधिकार माना जाय।

4-5-3 VLVhf'ki

आर्थिक समानता को व्यवहार में लाने के लिए आदमी को अपनी जरूरत के अनुसार ही सम्पत्ति रखनी चाहिए; यों किसी चीज को जरूरत से ज्यादा रखना भी बुरा नहीं, बशर्ते कि पहले गरीबों की जरूरतें पूरी हो जायें अथवा उस चीज का उपयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से, एक ट्रस्टी की हैसियत से किया जाय। गांधीजी ने कहा है–'आज के धनवानों को वर्ग–संघर्ष के और स्वेच्छा से धन के ट्रस्टी बन जाने के दो रास्तों में से एक हक को चुन लेना होगा। उन्हें अपनी मिल्कियत की रक्षा का अधिकार होगा। उन्हें यह भी हक होगा कि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि मुल्क के भले के लिए, दूसरों का शोषण न करके वे धन को बढ़ाने में अपनी बुद्धि का उपयोग करें। उनकी सेवा और उसके द्वारा होने वाले समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर उन्हें निश्चित कमीशन ही राज्य देगा। उनके बच्चे अगर योग्य हुए तो वे भी उस जायदाद के रक्षक बन सकेंगे।' गांधीजी ने इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'धनवानों का ठीक व्यवहार न हो तो वे न्यायालय द्वारा अपने अमानतदार के पद से हटा दिये जायेंगे। इसके विपरीत, अगर वे अपना यह कर्त्तव्य विवेकपूर्वक और ईमानदारी से पालन करेंगे तो उन्हें अपनी धरोहर–सम्पत्ति से होने वाली शुद्ध आय या मुनाफे में से पांच–छः प्रतिशत भाग को पुरस्कार के रूप में पाने का अधिकारी बनाया जा सकता है; शेष मुनाफा सार्वजनिक हित में लग जायगा।'

आर्थिक समानता के लिए व्यापारिक उत्पादन पर नियंत्रण होने की आवश्यकता स्पष्ट ही है। इस समय अनेक किसान जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके तमाखू आदि चीजें पैदा करते हैं या ग्रामोद्योगों में काम आने वाले पदार्थों की जगह कल–कारखानों में काम आने वाले पदार्थ उत्पन्न करते हैं, जिससे उन्हें अधिक लाभ हो। कारखाने वाले जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थों की अवहेलना कर तरह–तरह की शौकीनी या विलासिता की चीजें बनाते हैं, क्योंकि उनके खूब दाम उठते हैं। यह व्यापारिक उत्पादन समाज के विविध वर्गों में तथा जुदा–जुदा देशों में उन्नत और पिछड़े हुए या अमीर–गरीब आदि का भेद–भाव पैदा करता है। इस विषमता की घातक खाई को पाटने का उपाय यही है कि केन्द्रित, मुनाफे वाला, श्रमजीवियों का शोषण करने वाला, विलासिता बढ़ाने वाला व्यापारिक उत्पादन बंद हो; इस पर यथेष्ट नियंत्रण हो, चाहे इससे स्वदेश में या विदेश में कितना ही लाभ होता हुआ प्रतीत हो।

4-5-4 vkfFkd lekurk dh LFkkiuk

आर्थिक समानता की स्थापना समानता हिंसा या जोर जबरदस्ती से भी होने वाली नहीं है। यह तो तभी यथेष्ट हितकर और स्थायी होगी जब यह अहिंसक पद्धति से, लोगों को समझा बुझाकर, उनमें करुणा, दया और मानवता जगाकर की जाय। अस्तु, यह कार्य प्रेमपूर्वक स्वयं जनता को ही करना है। किसी आदमी को समाज की, अर्थात् दूसरे आदमियों की प्रतीक्षा में बैठे रहना नहीं चाहिए। हरेक को अपने ऊपर तथा अपने क्षेत्र में जहां तक उसकी पहुंच हो, इसका प्रयोग करना चाहिए। यह कार्य सबसे पहले उन लोगों का है, जिन्हें आवश्यकता से अधिक मिला हुआ है या मिल रहा है। उच्च वर्ग अर्थात् सेठ साहूकारों और जमींदारों आदि को स्वयं अपने हित के लिए अपरिग्रही बनना और ट्रस्टीशिप की भावना को अमल में लाना चाहिए। नयी व्यवस्था से वे घबरायें नहीं; संभव है, जो आज कई–कई जोड़ी कपड़े रखते हैं, उन्हें दो–तीन से ही काम चलाना हो, या रेशमी की जगह सूती से संतोश करना हो; जो अब तरह–तरह के जायकेदार पदार्थों का उपयोग करते हैं, और जरूरत से ज्यादा खाकर भी कुछ जूठन छोड़ देते हैं, उन्हें साधारण पुष्टिकर भोजन पर निर्वाह करना हो;

जो मोटर दौड़ाते फिरते हैं, उन्हें तांगों पर यात्रा करनी हो! प्र ये कोई ऐसी बातें नहीं हैं, जो सहन न की जा सकें। उन्हें तथा उनके मित्रों या रिश्तेदारों को विचार कनना चाहिए अपने उन भाइयों का जिन्हें भरपेट भोजन और ऋतु की आवश्यकता के अनुसार वस्त्र नहीं मिलता, और जिन्हें दूर–दूर की मंजिलें तय करने के लिए अपनी टांगों का ही भरोसा रखना पड़ता है। मानवता के नाते प्रत्येक व्यक्ति को बड़े–बड़े त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

दूसरा वर्ग जिस पर आर्थिक समानता लाने का दायित्व है, वह है मध्यम वर्ग। समाज में क्रांतियों का सूत्रपात तथा नेतृत्व यही वर्ग किया करता है। इस वर्ग के आदमियों को चाहिए कि पूंजीपतियों के हाथ का औजार और निम्नवर्ग के शोषण में सहायक होने से इनकार करे और सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्चता की भावना छोड़कर अपने आपको किसान मजदूर के उत्पादक वर्ग में शामिल करे। इस समय किसानों और मजदूरों में उच्च वर्ग की नकल करने की इच्छा रहती है और वह न कर सकने से उनमें हीनता की भावना होती है। मध्यम और शिक्षित वर्ग के सम्पर्क से उनकी यह बात दूर होगी। मध्यम वर्ग के उपर्युक्त परिवर्तन का प्रभाव धनवानों पर भी पड़ेगा; इस दशा में उनकी शोषण शक्ति का ह्रास हो जायेगा, उनका जीवन अधिक संयमी, लोकहितकर तथा मानवीय भावना से पूर्ण होगा।

5- vH;kl i:'u

fucU/kkRed i:'u

1. वितरण के सम्बन्ध में अहिंसा के अर्थशास्त्र की विवेचना करें।

y?kqÙkjkRed i:'u

1. अहिंसात्मक अर्थशास्त्र की किन्हीं दो विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. रहन–सहन के स्तर और जीवन–स्तर में सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

vfr y?kqÙkjkRed i:'u

1. अर्थशास्त्र के जन्मदाता कौन थे?

   (a) एडम स्मिथ (b) मार्शल

   (c) रॉबिन्सन (d) अरस्तु

2. आधुनिक बाजार के महत्त्वपूर्ण अंग हैं–

   (a) अंशधारी (b) उपभोक्ता

   (c) मध्यस्थ (d) खुदरा व्यापारी

3. व्यक्ति के जीवन स्तर पर प्रभाव डालने वाला तत्त्व है–

   (a) स्वास्थ्य (b) शिक्षा

   (c) इन्द्रिय संयम (d) उपरोक्त सभी

4. द्रव्य का अर्थ है–

(a) रूकने वाला (b) तैरने वाला

(c) बहने वाला (d) जमा होने वाला।

5. निम्न में से वितरण का प्रकार है–

(a) ब्याज (b) लाभ

(c) लगान (d) उपरोक्त सभी।

6. ''जड़–मूल से क्रांति'' पुस्तक के लेखक हैं–

(a) महात्मा गांधी (b) किशोर मश्रुवाला

(c) काका कालेलकर (d) विनोबा भावे।

7. मनुष्य जीवन की सफलता ..... की प्रचुरता में नहीं किन्तु उसके नियंत्रण में है।

8. व्यक्ति के प्रत्येक ..... का उस पर प्रभाव पड़ता है।

9. ..... को व्यवस्था का प्रतिफल कहा जाता है।

10. आर्थिक समानता लाने के लिए ..... की नितान्त आवश्यकता है।

bdkbZ&2

vifjxg

mís';

1. अपरिग्रह की अवधारणा को जानना।
2. विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में अपरिग्रह के स्वरूप का अध्ययन करना।

lajpuk

1. अपरिग्रह की अवधारणा
2. अपरिग्रह के आयाम
3. बौद्ध दर्शन में अपरिग्रह
4. वैदिक दर्शन में अपरिग्रह
5. जैन परम्परा में अपरिग्रह
6. वर्तमान में अपरिग्रह सिद्धान्त की उपादेयता
7. अपरिग्रह का अर्थशास्त्र
8. अपरिग्रह और विकास
9. अभ्यास प्रश्न

1- vifjxg dh vo/kkj.kk

अहिंसा की तरह अपरिग्रह भी एक निशेधात्मक शब्द है जो कुछ क्रियाओं, भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं व्यवहार को अकरणीय, त्याज्य, वर्जित एवं दोषित बताता है। अहिंसा जहाँ हिंसा को अकरणीय करार देती है उसी तरह अपरिग्रह, परिग्रह को त्याज्य करार देता है। अतः अपरिग्रह को समझने के लिए परिग्रह का अर्थ एवं परिभाषा जान लेना आवश्यक है।

सत्यान्वेषक तत्त्ववेत्ता ज्ञातपुत्र तीर्थंकर महावीर ने परिग्रह को मात्र तीन शब्दों में परिभाषित कर गागर में सागर भर दिया है। सामान्य विश्लेषण के ऊपर इन तीन शब्दों में एक अप्रत्याशित गहन दर्शन भाव है। ''मूर्च्छा परिग्गहो वुत्तो'' किसी वस्तु या भाव के प्रति मूर्च्छा या आसक्ति परिग्रह है। दूसरे शब्दों में अनासक्ति की साधना या स्वामित्व भावना की अनाकांक्षा अपरिग्रह है।

शाब्दिक दृष्टि से अपरिग्रह के पर्यायवाची शब्द हैं–अमूर्च्छा, अनासक्ति, असम्मोहन, अलोभ, अनिच्छा, असम्बद्धता, अलगाव, असंग्रह, अस्वामित्व, अतृष्णा, अकल्पता, अमुग्धता, अमोह, अकामना, अममत्व, अनांकांक्षा, अवांछा, अराग, अरसभोग, संतोष, अविक्षपता, आत्मसमाधि, अनाधिकार चेष्टा, जागरण, त्याग, स्वतंत्रता,

रसपरित्याग, परहेज, त्याग, कुरबानी, अलालसा व आकिचन्य, विरक्ति आदि–आदि। तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रयुक्त 'मूर्च्छा' शब्द सारभूत है, बहुआयामी है एवं गहन अर्थ में है।

'प्राणी मात्र के संरक्षक ज्ञात पुत्र (भगवान महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों के रखने को परिग्रह नहीं बतलाया है। लेकिन इन सामग्रियों में आसक्ति–ममता–मूर्च्छा रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है।'

'संग्रह करना, यह अंदर वाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, वे गृहस्थ हैं, साधु नहीं।'

'वस्त्र, पात्र, पादपोछन, कंबल, रजोहरण या अन्य कोई उपकरण–निर्ममत्व मुनि संयम यात्रा के लिए प्रयोग करते हैं उसे महावीर ने परिग्रह नहीं बताया। ज्ञानी पुरुष संयम–साधक उपकरणों को ग्रहण करने एवं रखने में किसी प्रकार की आसक्ति या ममत्व नहीं रखते यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममता नहीं रखते।'

दशवैकालिक सूत्र के अतिरिक्त जैन दर्शन के प्रमुख आचार्यों ने बहुआयामी 'मूर्च्छा' भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है–

- आचार्य पूज्यपाद के अनुसार 'ममेदबुद्धि लक्षण परिग्रह' अर्थात् ममत्व बुद्धि का लक्षण परिग्रह है।
- आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा में 'मूर्च्छातु ममत्व परिणाम' ममत्व परिणाम–मूर्च्छा है।
- आचार्य जयसेन के अनुसार, यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है बहिरंग के अनुसार नहीं।'

तीर्थंकर महावीर की दृष्टि से मूर्च्छा या आसक्ति आंतरिक लोभ की ममत्व बुद्धि है। अतः निश्चयपूर्वक स्थाधीनतापूर्वक एवं सहज त्याग ही अपरिग्रह है। किसी भय, लालसा, अभाव, अक्षमता, विवशता या पराधीनता वश किया गया त्याग इस परिभाषा में नहीं आता।

अर्थात् जो व्यक्ति कांत, प्रिय भोगों, वस्त्र, शयन आसन एवं स्त्रियों का विवशता से भोग नहीं कर सकता। परंतु ग्रहण के प्रति ममता है, आकांक्षा है तो परिग्रह है। स्वाधीनतापूर्वक किया गया त्याग या विरति ही अपरिग्रह है।

वस्तुतः मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। अमूर्च्छा या अनासक्ति एक आभ्यन्तरिक भाव है भौतिक बहुत ही गौण।

आचार्य रजनीश ने अपरिग्रह सूत्र की व्याख्या में 'रस परित्याग' शब्द पर विशेष बल दिया है। महावीर के एक सूत्र 'न रसट्ठाए भुजिज्जा, जाय मायाए संजए' अर्थात् रस लेकर या रसभाव से उपयोग व उपभोग परिग्रह की मौलिक विवेचना की है। आचार्य रजनीश के शब्दों में 'रस परित्याग का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट कर देना नहीं है। रस परित्याग का अर्थ है इन्द्रियों और चेतना के बीच जो सम्बन्ध है, जो बहाव है, जो मूर्च्छा है उसे क्षीण कर देना है। रस परित्याग का अर्थ है इन्द्रियों की मालकियत का परित्याग।'

अर्जन परिग्रह हो सकता है। वस्तु का ग्रहण संग्रहण भी हो सकता है परंतु आवश्यक नहीं कि भौतिक विसर्जन अपरिग्रह रहे। मानव वस्तुओं में नहीं जीता वह उस ओर के सम्मोहन में जीता है। आशयतः बाह्य परिग्रह भावों की विशुद्धि में सहायक है परंतु परिग्रह के त्याग बिना बाह्य परिग्रह से विरति निष्फल है।

अनासक्ति के पीछे भाव क्या है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'मूर्च्छावशेन, ममेति बुद्धिया ग्रह्यते इति परिग्रह।' अर्थात् आसक्तिवश ममता बुद्धि से सम्पूर्ण ग्रहण परिग्रह है। इस भाव से अपने अधिकार में लेना परिग्रह है। वस्तुतः मात्र ग्रहण व अर्जन परिग्रह नहीं है परंतु ग्रहण व अर्जन के पीछे जो आसक्ति है, जो रस भाव है जो मालकियत की भावना है वह परिग्रह है।अर्थात् बाह्य संग्रहण विहीन व्यक्ति तो आकिंचन्य ही होते हैं परंतु अंतरंग आसक्ति छोड़ने का सामर्थ्य अति कठिन है।

इस प्रकार अनासक्ति भाव, रस परित्याग का भाव अपरिग्रह साधना का मूल तत्त्व है। भोग–उपभोग–अर्जन एवं ग्रहण–परिग्रह है या नहीं उसकी पहचान आभ्यन्तरिक भावों में ही निहित है अतः भाव विशुद्धि ही इसका केन्द्र बिन्दु है।जिसकी मन बुद्धि में आसक्ति आच्छादित है उसके लिए समस्त विश्व परिग्रह स्वरूप है एवं मूर्च्छा विहीनता में जग अपरिग्रह स्वरूप है। आंतरिक परिग्रह से आकुलता–व्याकुलता रहते हुए बाह्य निर्ग्रन्थ वृत्ति व्यर्थ है। विषधर कंचुली छोड़ कर विष रहित नहीं बन जाता। वस्तुतः चित्त की परम शांति, आत्मा की पवित्रता एवं मोक्षमार्ग की आराधना मात्र अपरिग्रह वृत्ति पर अवलंबित है क्योंकि परिग्रह में निरन्तर व्याकुलता है, वेदना है, परतंत्रता का पागलपन है एवं पाप की प्रचुरता है।

भगवती सूत्र के दूसरे शतक में गणधर इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न के उत्तर में महावीर ने स्पष्ट किया कि 'मूर्च्छा से क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय जागृत होते हैं, प्रज्वलित होते हैं गहन सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिससे यह परिग्रह विकृति पैदा होता है। समस्त पाप परिग्रह से ही उत्पन्न होते हैं।'प्रश्न व्याकरण सूत्र में महावीर वाणी को इस प्रकार शब्दबद्ध किया है–'परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ तृष्णा है–अमूर्च्छा। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि इस वृक्ष के स्कन्ध है। अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा एवं प्राप्त की रक्षा रूपी चिंताएँ वृक्ष के फल फूल हैं। इससे उत्पन्न मानसिक एवं शारीरिक क्लेश परिग्रह तरु के कंपन हैं।'

इस प्रकार 'अपरिग्रह' सिद्धान्त को परिभाषित एवं विवेचित करते हुए तीर्थंकर महावीर ने, सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष, इनमें से किसी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा। वस्तुतः महावीर द्वारा उपदेशित अपरिग्रह का उदात्त आदर्श परिग्रह को मूर्च्छाग्रस्त, अविवेक, आसक्ति, अनर्थों की जड़ एवं पिशाच प्रवृत्ति मानता है करार देता है। महावीर ने कहा–

^ufRFk ,fjl ikl] ifMcU/kk vfRFk]

loo thok.kk looyk,A*

अर्थात् परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल या पाश नहीं है इस विश्व में विश्व के लोगों के लिए जिससे वह लोभ के अंतहीन रास्ते में भटक जाता है, मुक्त नहीं हो पाता। अतः चतुभंगी में महावीर ने देशना दी कि शुद्ध अपरिग्रह है 'द्रव्य से परिग्रह नहीं, भाव से परिग्रह नहीं' सम्पूर्ण अपरिग्रह।

परिग्रह–अपरिग्रह की उपरोक्त परिभाषाओं, तीर्थंकर महावीर की देशनाओं एवं आगमिक सूक्तियों के संदर्भ में अतिसरल शब्दों में परिग्रह मूर्च्छा है तो अपरिग्रह जागृति। जागृति मायाजाल को छिन्न–भिन्न कर देती है। जागरण का जीवन आत्मरमण का जीवन है एवं मूर्च्छा उत्तेजना का जीवन है। परिग्रह जहाँ बाह्य भटकन है अपरिग्रह आत्मा के प्रति जागरूकता है। अतः परिग्रह छूट जाने पर हिंसा, असत्य, चोरी व अब्रह्मचर्य स्वतः छूट जाते हैं। वस्तुतः किसी के प्रति स्थायी सम्बन्ध की स्थापना का अभाव अपरिग्रह है। यह ममत्व का अभाव ही

अपरिग्रह की मूल भावना है। अतः अपरिग्रह की साधना में वस्तु या प्रवृत्ति से अलगाव एवं अमोह आवश्यक तप है।

जैनदर्शन में यह अनासक्ति मात्र भौतिक वस्तुओं से ही नहीं वरन् एक समयाभाव रूप में अपने धर्म, सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र, भाषा, रंग आदि के प्रति भी है। इतना ही नहीं व्यक्ति की प्रशंसा, प्रसिद्धि, नामवरी, सामाजिक अलंकरण, बहुमान एवं अनुयायी या समुदाय बढ़ाने की लालसा से विरति भी आवश्यक तत्त्व है। अतः अपरिग्रह सिद्धान्त के प्रतिपादन, प्रतिस्थापन के पीछे, महावीर द्वारा दी गई सम्पूर्ण वैज्ञानिक परिभाषा के पीछे, इसके अर्थ के पीछे एक अप्रत्याशित गहन दर्शन भाव है जो सामान्य विश्लेशण से ऊपर है। एक विशुद्ध सत्य का गहरा सत्यान्वेषण है। एक विशुद्ध आचरण की देशना है। तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा सशर्त है, विविध आयामी है।अपरिग्रह की इस परिभाषा को तीर्थंकर महावीर ने पहली बार सार्वभौमिक कर दिया। अपरिग्रह व्रत को पहली बार दो रूपों में 'महाव्रत' एवं 'अणुव्रत' अर्थात् श्रमणों के लिए पूर्ण अपरिग्रह एवं श्रावकों के लिए अपरिग्रह साधना के रूप में निर्धारित किया। इस व्रत में, इस व्रत की साधना में मानव मात्र को भागीदार बनाया क्योंकि उनके सत्य में समभाव था, सम्यक् दृष्टिकोण था, साम्यवाद का धरातल था एवं सामाजिक–आचार की कड़ियाँ शोषण के विरुद्ध, असमानता के विरुद्ध, साम्प्रदायिकता के विरुद्ध, ऊँच–नीच के विरुद्ध, असंगतियों के विरुद्ध थीं। महावीर ने एक दृष्टिकोण दिया कि बिना श्रमण हुए भी अपरिग्रह की साधना एवं मोक्ष संभव है। धम्मकथानुयोग में ऐसे कितने ही उदाहरण भी प्रस्तुत किए।

अपरिग्रह के अर्थ को प्राकृतिक नियमों के साथ जोड़ते हुए जो अनुशीलन तीर्थंकर महावीर ने उपदेशित किया वह अप्रत्याशित एवं अलौकिक है। महावीर ने देशना दी की धूप–वायु–जल, तरु आदि के व्यवहार एवं आचरण में छिपे इस सत्य को यदि मानव अंगीकार कर ले तो वह अपरिग्रह का साधक हो जाता है। समभाव, परहित हेतु त्याग, मैत्रीभाव अपरिग्रह साधना के ही आयाम हैं। पशुओं के सम्बन्ध में पशुओं का आचरण, उनके संस्कार, उनकी निष्ठा भी अद्भुत सत्य है। पशु को मानव जो प्रशिक्षण देता है, संस्कार डालता है उस सत्य–व्यवहार से वह कभी विमुख नहीं होता है परंतु मानव हो जाता है। मानव की यह विडम्बना है कि आसक्तिवश वह लोकाचार छोड़ देता है एवं परिग्रह से जुड़ जाता है। महावीर की देशना में जैन दर्शन का सत्य प्राकृतिक नियमों का ही सत्य है जिसे जीवन में उतारते ही अपरिग्रह स्वतः उतर जाता है।

2- vifjxg d vk;ke

अतः अपरिग्रह की परिभाषा का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पहला आयाम है 'आदमी की चेतना का स्वामित्व इन्द्रियों पर रहे।' इन्द्रियां मानवीय चेतना को जहां ले जाना चाहें खींच नहीं सके। चेतना जहां जाना चाहे इन्द्रियां उसका अनुसरण करें। रास्ता आंखें देखें, ध्वनि जो आत्मा को सुननी है कान सुने। जो कुछ आत्मचेतना को करना है इन्द्रियां सहभागी बनी रहें। परिग्रह रूपी भोग एवं अपरिग्रह रूपी त्याग का साफ अभिप्राय है कि मनुष्य की इन्द्रियां स्वामी है या उसकी चेतना। इन्द्रियों पर चेतना का स्वामित्व स्थापित होने से इन्द्रियां विलीन या नकारात्मक नहीं हो जाती परंतु परिशुद्ध हो जाती है। साधना सत्य यह है कि अपरिग्रही यदि किसी का हाथ छू लेता है तो वह उसकी सम्पूर्णता को छू लेता है परंतु परिग्रही केवल हाड़ मांस को। महावीर के अनुसार अपरिग्रही की आंख सिर्फ एक मार्ग है बाहर झांकने का वह कुछ सुझाती नहीं क्योंकि समझने का काम चेतना का है। इन्द्रियां केवल शुद्ध मार्ग मात्र रह जाती है। परंतु इन्द्रियां चेतना के अधिकार में नहीं हैं, विक्षिप्त है तो निश्चयपूर्वक इन्द्रियों का चेतन स्वामित्व मूर्च्छित है। अनियंत्रित इन्द्रियों के अलग–अलग वक्तव्य

जटिलता पैदा कर देंगे। मन किंकर्त्तव्यविमूढ हो जायेगा और अलग–अलग इन्द्रियों द्वारा अलग–अलग दिशाओं में खींचा जाने लगेगा। अतः अमूर्च्छा का प्रथम आयाम है इन्द्रियों द्वारा अलग–अलग दिशाओं में खींचा जाने लगेगा। अतः अमूर्च्छा का प्रथम आयाम है इन्द्रियों का परिष्करण या चेतन तत्व का इन्द्रियों पर सम्पूर्ण अंकुश–अनुशासन।

दूसरा आयाम है वस्तु परिग्रह नहीं है वस्तु के प्रति जो बंधन है वह परिग्रह है। महावीर की दृष्टि में साधु या गृहस्थ, श्रमण या श्रावक मात्र आभ्यन्तरिक घटना है, आंतरिक बोध है अतः यदि वस्तु है तो वह गृहस्थ नहीं हो जाता एवं वस्तुहीन श्रमण नहीं हो जाता। ज्ञातापुत्र के अनुसार वस्तु के प्रति मूर्च्छा या बेहोशी निर्णायक तथ्य है। जब मनुष्य किसी अन्य की लगाव–पिपासा में जीना आरंभ कर लेता है तो परिग्रह है। जब कोई वस्तु मनुष्य के जीवन का लक्ष्य या साध्य बन जाती है, वह पीड़ा है। प्राणी के पास कोई वस्तु है उसने उसे कोई सुख नहीं दिया क्योंकि जब तक रही, तिजोरी में बंद रही एवं सुरक्षा की चिंता का विषय रही परंतु जब खो गई, आघात लगा, पीड़ा जागी। महावीर का स्पष्ट मत है छोड़ना अमीरी है, स्वतंत्रता है, स्वामित्व है एवं पकड़ कर रखना गरीबी है, परतंत्रता है। छोड़ने में मूर्च्छा टूटती है एवं पकड़ रखना मूर्च्छा है। महावीर ने तो यहां तक स्पष्ट किया कि 'देकर–छोड़कर प्रसन्न होने से ही मूर्च्छा टूटती है अगर उस छोड़ को भूले नहीं याद रख लिया एवं दूसरों को प्रकट कर दिया तो वस्तु की पकड़ उसके प्रति आसक्ति विद्यमान है।' अतः दान की स्मृति भी परिग्रह है।

परिग्रह का तीसरा आयाम महावीर की दृष्टि में यह है कि मनुष्य की पूर्ति सबसे बड़ी दुर्घटना है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इच्छित वस्तु या आपकी आशा जब प्राप्त हो जाती है तो उस आशा के साथ बंधे हुए सारे सपने टूट जाते हैं–तिरोहित हो जाते हैं। सिकन्दर का एक प्रसंग है। डायजनिज ने एक बार सिकन्दर से पूछा– 'अगर तुम सारी दुनिया पालोगे तो फिर क्या करोगे? यह सुनकर सिकन्दर उदास हो गया। महावीर ने कहा 'गरीब आदमी अभाव में हो सकता है, पीड़ाग्रस्त नहीं परंतु अमीर आदमी अभाव में नहीं परंतु दुःख से ग्रसित रहता है। महावीर की देशना में मूर्च्छा दुर्घटना इसलिए है कि उसका चरित्र ही विचित्र है। मनुष्य को जैसे ही इच्छित वस्तु मिल गई वह वस्तु ही बेकार हो जाती है एवं फिर अपनी पुरानी रिक्तता में खड़ा हो जाता है। भूख–खालीपन पुनः अपना मुंह खोलकर सामने आ जाते हैं। अतः परिग्रह में हम अपने को धोखा दिये चले जाते हैं। मनुष्य इच्छा करता है कि मुझे एक रुपया मिल जाए तो आनंद हो जाए परंतु जैसे ही मिलता है उसका आनंद टूट कर दूसरे या तीसरे की इच्छा पर केन्द्रित हो जाता है। अतः महावीर ने कहा 'कामें कमाही कमियं खु दुक्ख' कामनाओं का अंत ही दुःख का हरण कर सकता है– दुर्घटनाओं से ऊपर उठा सकता है।

चौथे आयाम रूप में परिग्रह से तात्पर्य है 'अंधे मोह की प्रगाढ़ अनुभूति।' दूसरे शब्दों में वस्तु या विचार के नागपाश में बंध जाना–अपने को गहरे में डाल देना। परिग्रह में हम किसी वस्तु या विचार को अपने से अभिन्न मानने लगते हैं यह जानते हुए कि यह शरीर भी हमारा नहीं है और मृत्यु के क्षणों में सब कुछ शून्य होने वाला है। महावीर की देशना में मूर्च्छा मानसिक संकट की सूत्रधार है। एक निपट मृग मरीचिका है। सम्बन्ध सूत्र की जटिलता है। किसी के पास धन सम्पत्ति है महावीर का विरोध नहीं है, विरोध है उस धन के सम्बन्ध सूत्र से प्रगाढ़ मोह से।

परिग्रह का पाँचवा आयाम है 'अशुद्धोपयोग।' आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार 'अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह एक बंधरूप है। अर्थात् भाव की अशुद्धता के बिना परिग्रह संभव नहीं है। वस्तुतः इस विश्व में

कोई भी वस्तु स्वयं में सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। एक ही वस्तु एक के लिए सुन्दर हो सकती है तो दूसरे के लिए कुरूप। इतना ही नहीं जो आज सुन्दर प्रतीत होती है कल हमें सुन्दर न लगे। वस्तुतः वस्तु का सौन्दर्य उसका गुण न होकर दर्शक की दृष्टि में निवास करने वाला एक तत्व भाव है। अतः महावीर की देशना में अपेक्षित है कि चक्षु के सामने जो आए उसे उस उदासीन निस्पृह भाव से देखते जाओ जिससे वह दृश्य आपको छू न सके, बांध न सके, आकर्षित न कर सके एवं आपके चेतन मन में राग द्वेश उत्पन्न न हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इसलिए कहा है ''अहं तावन्न किंचिदपि परेशा भवामि परे•पि न किंचदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सहतत्वतः समस्त संबन्धशून्यत्वात। तदिह ाड्द्रव्य स्व स्वामित्व बंध निबन्धना नाभिन्द्रियनो इन्द्रियाणां। अर्थात् 'मैं किंचित मात्र पर का नहीं हूं न पर ही मेरा है। समस्त द्रव्य वास्तव में पर के साथ सम्बन्ध स्थापित से रहित है। अतः ाट्द्रव्यों के इस लोक में आत्मा से अन्य कोई मेरा नहीं है।' तात्पर्य यह है कि आत्मा में रमण ही शुद्धोपयोग है अपरिग्रह है एवं परद्रव्य सम्बन्ध स्वामित्व अशुद्धोपयोग है परिग्रह है अंतरंग छेद है।

श्रावक जीवन में शुद्धोपयोग का एक उदाहरण है राष्ट्रपिता गांधी का। इन्दौर में बापू के सभापतित्व में सम्मेलन हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन। स्नेह भोज आयोजित सर सेठ हुकमचन्द ने किया। सबके लिए कीमती आसन सोने व चांदी के बर्तन सजाए गए। बापू ने कस्तूरबा से झोली मांग कर अपने एल्यूमिनियम के बर्तन निकाले और अपने सामने उन कीमती बर्तनों को हटाकर रख दिये। सेठजी ने सोने–चांदी के बर्तनों में ही खाने का आग्रह किया तो बापू ने कहा 'जब मेरे इन बर्तनों से काम चल जाता है तो सोने चांदी के इन बर्तनों के उपयोग का क्या प्रयोजन।' वस्तुतः अशुद्धोपयोग से विरति का उत्कर्ष उदाहरण एवं अपरिग्रह के आदर्श का विशुद्ध प्रयोग।

अपरिग्रह का छठा आयाम है श्रम शीलता– पुरुषार्थ जिसका विवेचन डॉ. भार्गव द्वारा उल्लेखित 'अपरिग्रह की चार शर्तों' के अंतर्गत कर चुके हैं। एक प्रसंग सिकन्दर का है। सिकन्दर ने एक बार एक फकीर से कुछ मांगने को कहा। फकीर ने कहा 'मेरे पास भगवान का दिया सब कुछ है और फिर श्रम के लिए दो हाथ हैं अतः सम्राट् सिकन्दर ने कुछ मांगने की अनुनय कर दी तो फकीर बोला यों मुझे कुछ चाहिए भी नहीं।' जब सम्राट् सिकन्दर ने कुछ मांगने की अनुनय कर दी तो फकीर बोला 'अगर मुझे कुछ देना ही चाहते हो तो बाजू हो जाओ क्योंकि तुम मेरे सामने खड़े रह कर मुझे प्राप्त होने वाली सूरज की किरणों को रोक रहे हो।' सिकन्दर केवल दंग ही न रहा वरन् उस फकीर के सामने अपने को कंगाल महसूस किया। बिना श्रम के कुछ प्राप्त करने से मनुष्यता ओछी हो जाती है, छोटी हो जाती है।

जैन आगमों में इस आयाम पर स्थान–स्थान पर विस्तृत चित्रण है। इस असंतोश एवं उत्पीड़न के हेतु प्रतिस्पर्धा भाव, मान प्रतिष्ठा पाने की आकांक्षा, नामावरी की लालसा, प्रतिद्वन्द्वता का रोश, अहम् का अहंकार, गुटवाद पर झुकाव, शक्ति परीक्षण का, प्रतिक्रिया की आग, प्रतिहिंसा की आग, सम्प्रदायवाद की प्रतिक्रिया आदि–आदि नानाविध हो सकता है। मनुष्य आसक्तिवश, मूच्छावश एक पीड़ा ज्वर रूप में पीड़ा ताप के रूप में, असंतोष की ज्वाला के रूप में होता है। यह उत्पीड़न एवं असंतोष इसलिए नहीं है कि मनुष्य गरीब क्यों है परंतु पीड़ा यह है कि दूसरा अमीर क्यों है? एक ज्वलन्त ईर्ष्या की धारा। वस्तुतः बहुमान, सार्वजनिक प्रतिष्ठा राष्ट्रपति द्वारा अलंकरण एवं सम्मान पदक, पद प्रतिष्ठा, अभिनन्दन आदि की तीव्र लालसा दुख का कारण है।

परिग्रह आयामी यह उत्पीड़न भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। साधु बन कर भौतिक वस्तुओं को छोड़ देते हैं परंतु जब तक राग और द्वेष अनुशासित नहीं हो जाता अपरिग्रह जीवन में नहीं आता। तुलसीदास जी ने लिखा है–

d|pu rftck ljy g] ljy f=;k dk ugA
eku&c<kbZ b"";k] nyHk rftck ;gA

शांत सरोवर में कंकर फेंका, उत्पीड़न की तरंगे उठने लगती हैं। इसी तरह आसक्ति से उत्पन्न राग द्वेष से यश, पद एवं प्रतिष्ठा की तीव्र लहरें मानवीय मन के शांत सरोवर में शांति भंग कर देती है।

मूर्च्छा का आठवां आयाम है 'पराधीनता' परतंत्रता। स्वतंत्रता का सरलतम अर्थ है कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का समन्वय बिन्दु। दूसरे शब्दों में मनुष्य के अधिकार उसके दायित्वों का अनुसरण करते रहे। प्रकृति में एक वृक्ष अपना पोषण धरती से जल एवं ऊर्जा लेकर करता है तो उसे अपने फल दूसरों के लिए छोड़ देना होगा। वस्तुतः आजादी एक अनुशासन है किसी को गुलाम न बनाने का, अपने दायित्वों का विधिवत निर्वाह करने का, अपनी आत्मा की तरह दूसरों की आत्मा मानने का। महावीर ने कहा 'आय तुले पयासु' अर्थात् प्राणी मात्र के लिए आत्म तुल्य भाव रखो। आगे कहा है 'सच्चे जीवा वि इच्छंति, जिविउं न मरिज्जिउं।' अर्थात् सभी जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता। इसी का नाम है पूर्ण स्वतंत्रता–मुक्ति।वस्तुतः लोभ गुलामी है। अंदर का खालीपन शून्यता गुलामी है। परिवार छोड़ दिया, घर सम्पत्ति छोड़ दी। साधु बन गए परंतु मेरा महावीर, मेरा बुद्ध, मेरा कृष्ण, मेरा अल्लाह यह लोभ नहीं छूटा– सम्प्रदाय का चेला मण्डली का, गुरु पंथ की तो परतंत्रता ही रही। महावीर कहते हैं अपने भीतर झांक कर देख लो आत्मा भरी हुई या रीती है। अगर भरी है तो अन्यत्र झांकने की आवश्यकता नहीं है। आप पूर्ण स्वतंत्र हैं।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारत की लम्बी परतंत्रता का इतिहास परिग्रह के विकास की कहानी रही है। भारत की पराधीनता की काली चादर परिग्रह की कालिमा से रंगी गई थी। भारत का वैभव–गौरव, आदर्श, प्रज्वलित प्रकाश एवं सहिष्णुता तब तक सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन तत्व रहा जब तक अपरिग्रह सिद्धान्त का परिपालन होता रहा।

अमूर्च्छा का अंतिम आयाम है सम्यक् बोध का अभाव। राइट अन्डरस्टेडिंग की जगह कन्फ्यूजन। महावीर ने कहा– हर चीज को वह वैसी है वैसा ही जानना। न इंच भर ज्यादा न कम। अतः उससे इंच भर भी अपने मन को नहीं जोड़ना, इच्छाओं को नहीं जोड़ना, लगाव की पर्त नहीं जमाना। अपने प्रक्षेप को उससे संयुक्त नहीं करना। जितना है, जैसा है उतना ही समझ लेना। सम्मोहन के जगत् में प्रवेश नहीं करना।

सम्यक्बोध के सम्बन्ध में महावीर ने तीन देशनाएँ दीं–

- वस्तुओं को उसके तथ्य से सहज स्वरूप में देखना आशाओं में नहीं।
- वस्तुओं को साध्य नहीं समझना मात्र साधन स्वरूप।
- स्वयं का स्वामित्व कभी भी वस्तुओं के मरूस्थल में नहीं खो जाए इसके लिए सचेत रहना।

महावीर ने कहा कि अपने दोष ही देखो। दूसरों के दोष देखने से अपने दोष अचेतन होते चले जाते हैं और अपने दोष दिखने बंद हो जाते हैं। इसलिए कि हमारे दोषों के साथ हमारे लगाव होते हैं, मूर्च्छा होती है। सम्यक् बोध के अभाव में मनुष्य अपने स्वयं के प्रति अनभिज्ञ हो जाता है गहरे परिग्रह से जुड़ जाता है।

सम्यक्त्व का दूसरा पद समाज की ओर खुलता है। एक सम्यक् सामाजिक दृष्टिकोण, विश्व बंधुत्व का बोध। व्यक्ति अपने स्वार्थों से ऊपर उठ कर ही सामाजिक हो सकता है। द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, मान, मद, विलासिता, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, पक्षपात ये सब सम्यक्त्व के आदि शत्रु हैं। परोपकार, सहिष्णुता, सत्याचरण, नैतिकता, न्याय, निस्वार्थवृत्ति, समता, समानता, शीलना, शुद्धाचरण आदि सामाजिक वृत्तियां सम्यक्त्व की शाखाएं हैं।

अनासक्त भाव की सीढ़ियों पर चढ़कर ही मनुष्य सामाजिक हो सकता है। इस भाव से ही सम्यक्त्व पोषित होता है एवं शोषण तिरोहित होता है। शोषण के समाप्त होते ही विषमता समाप्त हो जाती है। विषमता समाप्त हो जायेगी तो वस्तुएं मानवीय मूल्यों से ज्यादा मूल्यवान नहीं रहेगी। जब मनुष्य वस्तुओं के लिए जीने लगता है तब मूर्च्छा या बेहोशी आरंभ हो जाती है एवं मनुष्य असामाजिक बन जाता है।

महावीर कहते हैं भीतर यदि सृजन होजाए तो आसक्ति या रस भाव टूट जाएगा। यही सम्यक्त्व भाव है। मानवीय इन्द्रियां तब तक विक्षिप्त रहेंगी जब तक मालिक आसक्ति के घेरे में रहेगा, इसकी इन्द्रियों के मध्य समन्वय समाप्त हो जायेगा। और ये स्वच्छन्द इन्द्रियों के कार्य–कलाप मनुष्य को भोग की तरफ मनचाहे तरीके से खींचना आरंभ कर देगी। वर्ग संघर्ष, सम्प्रदायवाद, हिंसा, अनाचार, अत्याचार व शोषण से सामाजिकता इसी कारण विकृत हो जाती है। सामाजिक जीवन में असहिष्णुता, भेदभाव की पीड़ा, असंतुलन अपने आग्रह के प्रति कट्टरता उग्र रूप धारण कर लेती है।

आसक्ति के संदर्भ में सम्यक्त्व का एक और पहलू भी है। वर्तमान विज्ञान के विकासशील धरातल पर विज्ञान के विकास ने मानवता को बहुत कुछ दिया। ज्ञान दिया, सुख–सुविधाओं का अंबार लगाया। दूरी पर विजय दी, शक्ति के स्रोत दिए, जल, थल व आकाश में स्वतंत्र विचरण की सुविधा प्रदान की परंतु सम्यक्त्व के अनुशासन के अभाव में यह विकास संघर्ष का कारण बन गया। अतः जब तक परिग्रह वृत्ति पर सम्यक्त्व का अनुशासन निरूपित नहीं हो जाता, यह सामाजिक विषमता का हाहाकार शांत नहीं हो सकता एवं वैज्ञानिक विकास मानवीय संतोष स्थापित करने में सहयोगी नहीं बन सकता।

वस्तुतः महावीर का यह अपरिग्रह या अनासक्ति सूत्र एक सम्यक् साधनाव्रत है। प्रकृति के व्यवहार का एक सनातन सत्य है, आदि व्यवहार है।

3- cks) n'kZu esa vifjxg

भारतीय दर्शन के मूल में दो संस्कृतियां हैं दो धाराएं हैं। अनीश्वरवादी धारा और ईश्वरवादी धारा। जैन और बौद्ध ये दोनों दर्शन आत्मवादी हैं तो वैदिक दर्शन व अन्य धर्म दर्शन ईश्वरवादी हैं। ईश्वरवादी अर्थात् अवतारवादी। जैन दर्शन में जहां 'आचार या चारित्र' शब्द का प्रयोग किया गया है वहां बौद्ध दर्शन में 'विनय' शब्द है। जैन दर्शन का वाणी संकलन जहां 'आगम' है वहां बौद्ध दर्शन में 'पिटिक'। जैन आगमों की मूल भाषा 'प्राकृत' है वहां बौद्ध पिटिक मूलतः पाली भाषा में है। दोनों भाषाएं सामान्य जनता की भाषाएं रही हैं जिस पर जनसाधारण की समझ व अधिकार रहा है, मात्र ब्राह्मणों का नहीं।

भारत जहां विभिन्न दर्शनों की कर्मस्थली है वहां आचार धर्म क्रियास्थली भी रही है। ज्ञातपुत्र महावीर और तथागत बुद्ध दोनों के आचार धर्म में समानता रही है– सैद्धान्तिक समानता। महावीर ने मन संयम एवं काय संयम पर समान बल दिया है और बुद्ध ने भी, परंतु मध्यमार्ग के प्रतिपादन के कारण बौद्ध धर्म में काय

संयम में थोड़ी शिथिलता रह गई है। महावीर ने अपरिग्रह के सम्बन्ध में श्रमण एवं श्रावक दोनों को सम्मिलित किया है वहां बुद्ध ने नहीं किया। बाह्य तपों में शिथिलता बौद्धों में आरंभ से रही परंतु अंततः यह शिथिलता जैनाचार में भी आचार्य आर्य सुहस्ती के समय से पैदा हो गई।तथागत बुद्ध द्वारा उपदेशित चार आर्य सत्यों में तृतीय आर्य सत्य 'दुःख निरोध' के अंतर्गत 'अपरिग्रह' की विस्तार से व्याख्या की है। बुद्ध की देशना में 'तृष्णा के सर्वथा क्षय होने पर अनासक्ति रूप निर्विकल्पा अवस्था अपरिग्रह है जिससे ही दुःख निरोध संभव है। 'निर्विकल्पावस्था' ही दुख निरोध का सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम है।'

तथागत ने कहा–''तृष्णा से ही आसक्ति होती है। आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से असुरक्षा भाव अतः सुरक्षित पदार्थ के लिए खींचतान व संचय प्रवृत्ति एवं उसकी प्राप्ति के लिए दण्ड प्रयोग, शस्त्र प्रयोग, हिंसा, कलह–विवाद, पैशुन्य, असत्य भाषण, प्रभूति एवं अनेक दोष व विकृतियां उत्पन्न होती हैं। आगे बुद्ध ने अपनी देशना में 'धर्म द्वेष', असत्, पुरुष प्रियता, रस युक्त स्वादिष्ट भोजन, जाति–गोत्र व धन का अभिमान अन्य लोगों से घृणा व उनका अपमान आदि क्रियाएं धर्म विरूद्ध करार दी हैं क्योंकि ये आसक्ति वश होती है अतः दुःख का कारण है।

तथागत बुद्ध के उपदेशों में परिग्रह को 'मिथ्याचार' का शब्द दिया गया है। उनका स्पष्ट मत रहा है कि जब निम्न कामास्रव से सदा सर्वदा मुक्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। तथागत द्वारा निर्धारित द्वादश निदानों में पांचवा निदान 'तृष्णा का निदान' है। जिससे मैंने दर्शन के समान ही अपरिग्रह को उपदेशित किया है। तृष्णा को बौद्ध दर्शन में तीन आयामों से विश्लेषित किया है–

- काम तृष्णा
- भाव तृष्णा
- विभव तृष्णा।

^lfjr fL=X/kk'p lkeL;k Hkofr tUrkWA

rs lkr lrk l[kk fo.kLrs o tkfr tjkixkujkWAA*

तृष्णा की धाराएं प्राणियों को प्रिय और मनोहर लगती है। सुख के फेर में पड़े उसकी धारा में पड़ते हैं और बार–बार जरा के चक्र में आते हैं।

'u rn n<s c/ku eg/kjk ;n vk;l nk: t ctt pA

ljDrjrk ef.kdMy"k i=s"k nkj.k p ;k•iFkkAA*

धीर पुरुष लोहे, लकड़ी व रस्सी के बंधन को दृढ़ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ़ बंधन है–सारवान पदार्थों में रक्त होना या मणि, कुन्डल पुत्र तथा स्त्री में इच्छा अटकना। अर्थात् वित्तेषणा, पुत्रेषणा।

अंत में 'ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः स्वयंकृत मर्कटक इव जालं।' जो राग में आसक्त हैं, वे मकड़ी की तरह अपने बनाए स्रोत में पड़ते हैं। मज्झिम निकाय के अनुसार भगवान बुद्ध की देशना है। ''तृष्णा जगत् के समस्त विद्राह तथा विरोध की जननी है। उसी के कारण राजा राजा से लड़ता है, क्षत्रिय क्षत्रिय से लड़ता है, ब्राह्मण ब्राह्मण से लड़ता है, माता पुत्र से लड़ती है और लड़का माता से लड़ता है। समस्त पाप कर्मों की जननी तृष्णा है। चोर उसी के लिए चोरी करता है, कामुक इसी के लिए परस्त्री–गमन करता है। धनी इसी के

लिए गरीबों का शोषण करता है। तृष्णामूलक यह संसार है। तृष्णा ही दुःख का कारण है। अतः अनासक्ति प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है।''

इस तरह बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित 'तृष्णा के निदान' की साधना रूप परिभाषित शब्द अपरिग्रह ही है। अतः साधना की दृष्टि से इस सिद्धान्त के अर्थ एवं परिभाषा की अभिव्यक्ति में दोनों दर्शनों में समान आयाम, समान शर्तें एवं समान धर्मक्रिया बताई गई है। अंत में तथागत बुद्धका एक उपदेश है, चरथ भिक्खवे चारिकम् बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय ...।'' अर्थात् बहुजन हितार्थ, बहुजन सुखाय एवं लोगों पर अनुकंपा करने के लिए विचरण करो, आचरण करो। इस तरह इस व्रत की सार्वभौमिकता एक सुखी समाज की स्थापना के संदर्भ में प्रकट की है।

4- oSfnd n'kZu esa vifjxg

^vfgalk lR;kLrs; cãp;kifjxgk ;ek%A*

अहिंसा सत्य अस्तेय–ब्रह्मचर्य–अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।

मनुस्मृति के अनुसार,

^vfgalk lR;eLrs;s 'kkSp bfUnz;fuxzg]

,rn lkekfld /keL pkrqo.;a vcqèr euA

;eku lo Irr u fu;eku doyku c)%]

;eku irR;dokk.kk] fu;eku doyku Hktu AA*

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पावित्र्य एवं इन्द्रियनिग्रह ये पांच सामाजिक धर्म हैं जो चारों वर्णों के लिए अनुकरणीय बताये हैं। बुद्धिमान को चाहिए कि इन यमों का लगातार सेवन करे, केवल नियमों का नहीं। क्योंकि केवल नियमों का पालन करने वाला यमों का पालन न करता हुआ गिर जाता है।

वैदिक दर्शन का एक आदि वचन और है–

'आचार हीनम् न पुनन्ति वेदा' अर्थात् आचारहीन मानव को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।

सारभूत रूप में वैदिक दर्शन की आचार संहिता, जैन परम्परा का चारित्र अनुशासन एवं बौद्ध परम्परा की विनय साधना भावात्मक रूप में, प्राकृतिक रूप में, साधना के आयामों के रूप में एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं– एक ही धर्म देशना का उपदेश देते हैं एवं एक ही अनुशासन को प्रतिपादित करते हैं।

समन्वयवादी श्री ओमानन्दजी ने आचार्य पातंजल के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पातंजलि योग' के सूत्रों का भावार्थ व्यास भाष्य–तत्व वैशारवी, भोजवृत्ति तथा योग वार्तिक के अनुसार विस्तृत रूप से हिन्दी अर्थ के साथ संकलित किया है।

सत्य यही है कि आत्मवाद एवं ईश्वरवाद के संदर्भों को छोड़कर आचार संहिता की दृष्टि से व्रत–यम श्रमण व वैदिक दर्शन सम्पूर्ण रूप में एक मत है। आचरण के सम्बन्ध में जो प्रक्रियात्मक अंतर है वह यह है कि

वैदिक दर्शन में यह चार आश्रमों के अनुरूप उपदेशित है परंतु जैन दर्शन में महाव्रत एवं अणुव्रत या आकिंचन्य के रूप में अनुशासित है।

गीता का मूल मंत्र है 'मा फलेषुकदाचनम्।' फल की इच्छा से निवृत्ति का अनुशासन। कर्म अनासक्त रहे। प्रतिफल की इच्छा तिरोहित रहे। इच्छा आकांक्षा से बंधे ही नहीं। चाहे उसे अकर्म कहे या निष्काम, अनासक्ति या अमूर्च्छा दोनों अपरिग्रह के ही पर्याय है।

भगवान् कृष्ण का उपदेश है 'यह इच्छालाभ संतुष्टो' जो बिना मांगे सहज प्राप्त है उसी में संतोष मानो। अतः भगवान् कृष्ण कहते हैं 'त्यक्त सर्व परिग्रह' समस्त परिग्रह से मुक्त हो जाए। वैदिक शास्त्र में विभिन्न श्लोक स्पष्ट रूप से अपरिग्रह की मूल भावना को परिभाषित करते हैं, स्पष्ट करते हैं एवं अनुपालना की आज्ञा देते हैं। प्रायः सारे पुराण व उपनिषद् अनासक्त साधना भाव को एक ही रूप में उपदेशित करते हैं।

राज ऋषि भर्तहरि के शब्दों में–

l r HkofUr nfjnk] ;L; r".kk fo'kkyk]
eufl p ifjr"Vk dh •;ok dk nfjnkA

अर्थात् दरिद्र तो वह है जिसकी तृष्णा विशाल है। मन से संतुष्टि रहने वाला न दरिद्र है न धनवान।

वैदिक दर्शन में अपरिग्रह को योग साधना का प्रथम द्वार माना है–

^;kxL; izFke }kj okm fujk/kkvifjxg%A
fujk'kkp fujhgkp fuRedkUr 'khyrkAA*

अर्थात् योग का प्रथम द्वार है अपरिग्रह। इस साधना में वाणी को अनुशासित करना, द्रव्य का संग्रह न करना, लौकिक पदार्थों की आशा न करना एवं कामनाओं को त्याग कर एकान्तवास करना चाहिए।

आभ्यन्तरिक एवं बाह्य सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है–

^cfgLr fo"k;% lxe rFkkUrjgekfnfHk%]
fojfDr ,o 'kdkfrR;Dr cãf.k fu"BrkA
lo=kLig;k lnkRefu izKk d#{k; lAA*

आशयतः इन्द्रियों का विषयों के साथ बाह्य संग एवं अहंकार आदि के साथ आंतरिक सम्बन्ध त्याग विरक्त पुरुष ही कर सकते हैं अतः सब ओर से कामना रहित या इच्छा विरत होकर सदा आत्मा में स्थिर रहो।

अपरिग्रह साधना के लिए उपदेश है– इन्द्रिय निग्रह। कहा है–

bfUn;k.kk fopjrk fo"k;s| vifjgkfj"kA
l;e ;Ruekfr"Br fo}ku ;Uro ckftukeAA

अपनी ओर आकर्षित करने वाले विषयों–विकृतियों में भटकने वाली इन्द्रियों का यत्नपूर्वक संयमित रखो जैसे सारथी अश्वों को नियंत्रण में रखता है।स्वामी रामसुखजी महाराज के शब्दों में, ''भोग उतना नहीं अटकाते जितना उनका महत्त्व या उससे आसक्ति अटकाती है। अगर भोग एवं संग्रह की वृत्ति रखते हुए परमात्मा को

प्राप्त करना चाहता है तो प्राप्ति तो दूर प्राप्ति का निश्चय भी संभव नहीं है। जिसमें आप ममता करते हो उससे आप बंध जाते हैं। भोग और संग्रह यदि मिल गया तो वह टिकेगा नहीं, और अगर टिक गया तो आप नहीं टिक सकते।'' ... ''आपके पास धन रहने से मेरा विरोध नहीं है, मेरा विरोध है जो आप उसके गुलाम बनते हैं। विरोध धनपति का नहीं धन दास का है। रुपया आ जाये तो भी मौज–खो जाए तो भी मौज ... भोग और संग्रह की आशा–आकांक्षा पूर्वक त्यागना पड़ेगी।'' स्वामीजी ने अपरिग्रह के अर्थ को सर्वथा सहज और सपाट शब्दों में रख दिया। इच्छा एवं आसक्तिवश भोग एवं संग्रह ही परिग्रह है एवं इससे विरक्ति अपरिग्रह।

अंत में कठोपनिषद् में नचिकेता और यम का संवाद। जिज्ञासा थी आत्मा की अमरता जानने की। यम ने प्रश्न को टालते हुए कहा– 'आत्मा की अमरता जानने में क्या रखा है, शतायु पुत्र पौत्र मांग लो, पशु धन मांग लो, स्वर्ण, भूमि एवं भूमण्डल का राज्य मांग लो और उसे भोगने के लिए सहस्त्रों वर्षों की आयु मांग लो।'' नचिकेता का प्रत्युत्तर था 'न वित्तेण तर्पणियो मनुष्यः' मानव कभी धनादि के तृप्त नहीं हो सकता। धन अभ्युदय का उपादान हो सकता है आध्यात्म का भाव नहीं।

5- tSu ijEijk esa vifjxg

भगवान महावीर ने जितना जोर अहिंसा पर दिया, संभवतः उससे अधिक ही अपरिग्रह पर दिया। भगवान पार्श्वनाथ के समय जैन परम्परा में चातुर्याम की व्यवस्था थी। जैन परम्परा में पांचवे व्रत के रूप में अपरिग्रह भगवान महावीर की देन है और भारतीय परम्परा में अपरिग्रह की अवधारणा जैन परम्परा की देन है। अपरिग्रह के विकास के लिए जैन परम्परा में बहुविध विधान किये गये हैं। परिग्रह के परिसीमन के लिए अस्तेय, इच्छा–परिमाण व्रत, लोभ–विसर्जन, त्याग, संतोष, दान, अनासक्ति आदि अनेक उपाय बताये गये हैं। जैन परम्परा में परिग्रह–अपरिग्रह पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया। इसका भारतीय जन–जीवन, समाज और अर्थव्यवस्था पर हर युग में व्यापक असर हुआ। महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अपरिग्रह–व्रत का ही रूप है।

आसक्ति तीन रूपों में प्रकट होती है–अपहरण, संग्रह और भोग। अपहरण और शोषण का उपचार अस्तेय व्रत में बताया गया है। परधन की इच्छा, परधन हरण, मूर्च्छा, तृष्णा, गृद्धि, असंयम, कांक्षा, हस्त–लघुता, स्तेनक, कूटतोल माप और बिना दी हुई वस्तु लेना– ये सब चोरी के ही रूप हैं। अस्तेय व्रत की सूक्ष्मता भगवान महावीर कहते हैं–कोई वस्तु सचेतन हो या अचेतन, कम कीमत की हो या अधिक कीमत की, उसे उसके मालिक या धारक की आज्ञा के बगैर नहीं लेना चाहिये। महात्मा गांधी कहते हैं कि अपरिग्रह को अस्तेय व्रत से सम्बन्धित समझना चाहिये। वास्तव में चुराया हुआ न होने के बावजूद अनावश्यक संग्रह चोरी जैसा माल हो जाता है। किसी चीज का बिना आवश्यकता के संग्रह करना, चोरी–तुल्य माना जाएगा। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।

खान–पान में सम्बन्ध में भी व्यक्ति अस्तेय व्रत का उल्लंघन करता है। जिस चीज की उसे जरूरत नहीं है, फिर भी उसे वह खाता है। वह अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा–चढ़ा कर बताता है और अनजाने में चोर बन जाता है। अस्तेय व्रती को अपनी आवश्यकताएं निरंतर घटाते रहना चाहिये। संसार की अधिकतर दरिद्रता अस्तेय व्रत के भंग से हुई है। बिना परिश्रम किये अर्थप्राप्ति की आशा और किसी तरह अर्थ प्राप्ति करना अस्तेय व्रत के अनुरूप नहीं है। दुनिया की कई विषमताएं और समस्याएं शरीर–श्रम नहीं करने से पैदा

हुई हैं। इसलिए अस्तेय व्रत शरीर–परिश्रम द्वारा सम्पत्ति–निर्माण पर जोर देता है। यह व्रत सम्पन्न घरानों के व्यक्तियों को भी अच्छे कार्यों में निष्काम भाव से सक्रिय रहने की प्रेरणा देता है। जहां श्रम है, वहां सम्मान भी है और आत्म–सम्मान भी है।

कितने ही आजीविका के साधन ऐसे हैं जिनमें शारीरिक श्रम अपेक्षाकृत कम होता है। उसमें बौद्धिक और मानसिक श्रम करना पड़ता है। बुद्धि पर अपनी जीविका चलाने वाले बुद्धिजीवियों को भी शारीरिक श्रम का महत्व समझना चाहिये। अस्तेय व्रत निष्ठापूर्वक कर्त्तव्यपालन पर जोर देता है। कामचोरी की वजह से अनेक कामकाज लम्बित पड़े रहते हैं। सरकारी क्षेत्र से अकर्मण्यता की शिकायतें ज्यादा मिलती है। अस्तेय व्रत की भावनाएं भर कर सरकारी कार्यप्रणाली को चुस्त–दुरुस्त किया जा सकता है। अकर्मण्यता पाप है, अपराध है। भगवान महावीर अपने शिष्य गौतम को बार–बार कहते हैं कि क्षणमात्र का प्रमाद भी नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति प्रमत्त और आराम–पसंद होता है, वह स्वयं को और दूसरों को कष्ट देने वाला होता है। उसे चहुं ओर से भय रहता है। इसलिए जीवन पथ पर आगे बढ़ने वाले धैर्यवान व्यक्तियों को आलस्य और गफलत में अपना समय नहीं गंवाना चाहिये। आचारांग सूत्र उद्घोषणा करता है–उठो, जागो, प्रमाद मत करो। आगम की इन प्रेरक उद्घोषणाओं को समझने वाला सहज ही अस्तेय और अपरिग्रह की आराधना करता है।

किसी भी रूप में चौर्य–कर्म अनार्य–कर्म है। वह अपकीर्ति को बढ़ाता है। चोरी करने से गुण छिप जाते हैं, विद्या निकम्मी हो जाती है और व्यक्ति का विश्वास व यश क्षीण हो जाता है। अचौर्य व्रत की तीन प्रेरणाएं हैं– आर्थिक पारदर्शिता, सच्चरित्रता और जीवन के हर व्यवहार में प्रामाणिकता। अचौर्य व्रत का बाहरी जीवन व्यवहार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह व्यक्ति को परिश्रमी, प्रामाणिक और ईमानदार बनाता है। देश की अर्थव्यवस्था के कुशल संचालन और विकास के लिए अस्तेय व्रत अत्यन्त उपयोगी है। वह भ्रष्टाचार को मिटाने का कारगर माध्यम है। 'काले धन' की समस्या का निराकरण अस्तेय करता है। बड़े–बड़े आर्थिक घोटाले, कर–चोरी, रिश्वतखोरी, तस्करी आदि स्तेय के ही रूप हैं। इसलिए जो व्यक्ति सावधानीपूर्वक अस्तेय व्रत की आराधना करता है, अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का पालन भी उसके लिए आसान हो जाता है।

प्रमाणिकता का अर्थ है अपने प्रति ईमानदार और दूसरों के प्रति भी ईमानदार। प्रामाणिक होने के लिए अपनी मर्यादा करना आवश्यक है। सत्य पालन का अर्थ यह नहीं कि गोपनीयता को उजागर किय जाय। इसका आशय है कि व्यक्ति अपने व्यापार में लाभ–प्रतिषत की मर्यादा करें। मिलावटखोरी नहीं करें। व्यापारिक सीमा के बाहर की वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह नहीं करें। इन बातों का ध्यान रखकर व्यापार करने वाले देश के व्यापार को प्रामाणिक बनाते हैं और आवश्यकता व सामर्थ्य के अनुरूप समृद्ध भी। अस्तेय व्रत का पालन करने से दुकान/दफ्तर और मंदिर में अंतर नहीं रहता है। व्यापार और धर्म एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं। प्रमाणिक व्यक्ति अपने व्यापार को चिर–स्थायी बनाता है। उसके व्यापारिक उत्पादों की हर जगह मांग होती है। उसका व्यापार धर्म–साधना और देश–सेवा का ही एक रूप होता है।

आगम साहित्य में संग्रह को प्राणी मात्र की संज्ञा बताई गई है। इस वृत्ति को एकाएक तोड़ना कठिन होता है। भगवान महावीर सद्गृहस्थ के लिए नित्य अपरिग्रह की भावना के स्मरण का विधान करते हैं। श्रावक नित्य यह मनोरथ करें कि वह दिन धन्य होगा जिस दिन वह परिग्रह से निवृत्त होकर अपरिग्रह के जीवन की ओर बढ़ेगा। उन्होंने दो प्रकार के परिग्रह बताये– अंतरंग और बाहरी। अंतरंग या आभ्यंतर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं– बाहरी परिग्रह दस प्रकार का बताया गया है। उन्हें गृहस्थाचार के चौथे व्रत में बताये भेदों के

अनुसार ही समझना चाहिये। परिग्रह के इन भेदों से स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति भीतर से रिक्त होता है, वह बाहर से उस रिक्तता को भरने का प्रयास करता है। किंतु उसका वह प्रयास मात्र आत्म–वंचना ही सिद्ध होता है। यहां तक भीतरी तौर पर परिग्रही का बाहरी त्याग भी व्यर्थ ही होता है। स्पष्ट है कि अपरिग्रह का व्रत व्यक्ति को आत्म–वैभव, भाव–सम्पदा और वैचारिक–सम्पदा को बढ़ाता है। वह व्यक्ति को आत्मविश्वास से भर देता है। वह धन के पीछे नहीं दौड़ता, अपितु उसके पुरुषार्थी व्यक्तित्व के कारण धन उसका अनुसरण करता है। दूसरी ओर परिग्रह व्यक्ति को अंतरंग रूप से दरिद्र बना देता है। 'हाय धन, हाय धन' की वृत्ति मन की रुग्णता की सूचक है। परिग्रह अनेक रूपी होता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में उसके तीस नाम बताये गये हैं– परिग्रह, संचय, चय, उवचय, विधान, संभार, संकर, आदर, पिण्ड, द्रव्यसार, महेच्छा, प्रतिबंध, लोभात्मा, महर्द्धि, उपकरण, संरक्षण, भार, सम्पादोत्पादक, कलिकरण्ड, प्रविस्तर, अनर्थ, अनर्थक, संस्तव, अगुप्ति, आयास, अविवेक, अमुक्ति, तृष्णा, आसक्ति और असंतोष। इन नामों से पता चलता है कि परिग्रह कितना बहुरूपिया है। वह मानव को सुख से जीने नहीं देता है। होना यह चाहिये कि जो अधिक सद्गुणी हो, वह समाज में अधिक शक्तिशाली हो। किंतु जहां धन–लिप्सा अनियंत्रित छोड़ दी जाती है, वहां धन/परिग्रह शक्ति व सम्मान का मापदण्ड बन जाता है। इसी मापदण्ड से विषमता बढ़ती है।

6- orhku e vifjxg fl)kUr dh mikn;rk

आज मानव भौतिक युग में सांस ले रहा है, पल रहा है, जी रहा है। नैसर्गिक या प्राकृतिक साधन मानवीय सुख सुविधाओं के लिए है। प्राकृतिक साधनों का शोषण, उनके आदि स्वभाव या प्राकृतिक नियमों एवं सत्यों के साथ छेड़खानी, अतिक्रमण, बलात्कार, विदोहन संयोगिक प्रतिकार उत्पन्न कर लेते है जिससे मानवीय क्रियाए–प्रक्रियाएं एवं वृत्ति ही प्रभावित नहीं होती परन्तु मानवीय सुख एवं संतोष भी असंतुलित हो जाता है। सुविधाओं की दासता जब मनुष्य को पंगु बना देती है तो, मनुष्य का आत्मविश्वास, पुरुषार्थ, चैतन्यता आदि खंडित हो जाती है, किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाती है, लड़खड़ा जाती है। जीवन एवं जीवन व्यवहार का संतोष तिरोहित होने लगता है। इसका मूल कारण है प्रकृति के सहयोग तत्त्व सहकार करना छोड़ देते हैं। मनुष्य का आत्मबल टूटने लगता है और आत्मबल का स्थान ले लेते हैं अविश्वास, भय, तृष्णा, स्वार्थ, अनाचरण एवं श्रम विहीन अर्जन के प्रति मोह।

आज हर व्यक्तित्व प्रतिष्ठा चाहता है। मानवीय गुणों को न प्रतिष्ठा की भूख होती है न प्रतिष्ठा की स्मृति। प्रतिष्ठा की चाह धन बल, शक्तिबल, राजनैतिक बल, छल कपट के आधार पर अर्जित कर सकने की प्रतियोगिताओं को आरंभ करती है। धन शक्ति, दल शक्ति आदि के संचय के प्रति मानवीय रूझान या आसक्ति इसी वृत्ति से बलवती होती गई है। सारी जीवन निर्वाह की प्रचुर सुख सुविधाओं से भी मनुष्य संतुष्ट नहीं हो पा रहा है इसके पीछे यही मूर्च्छा बलवती है।वर्तमान मानव जीवन में एक ओर छलावा है। गरीबी और अमीरी के लेखांकन, परिमाण एवं मापदंड के पीछे एक विचित्र वृत्ति ने काम करना शुरू कर दिया है। वह वृत्ति यह है कि मनुष्य को आज यह चिंता नहीं है कि वह गरीब है, साधनहीन है परंतु उसकी पीड़ा यह है कि अन्य या पड़ोसी सम्पन्न क्यों है? इसके पीछे एक ईर्ष्या है जो सम्पन्नता की इस न पूरी होने वाली भूख को जन्म दे देती है।

धर्म शास्त्रों एवं दर्शन शास्त्रों के अनुसार मानवीय शरीर के दो मुख्य कार्य है–1. श्रम करना 2. शरीर को क्रियाशील बनाए रखने के लिए पोषण स्वरूप भोजन–वस्त्र आदि ग्रहण करना है। एक ऐच्छिक

कार्य भी है। (1) संतानोत्पत्ति एवं उनका भरण पोषण। आत्मा का धर्म है शरीर को धारण करना, सत्यान्वेषण करना एवं शरीर की इन्द्रियों को संचालित करना। आत्मा शरीर धारण भी करती है एवं छोड़ती भी है। पुनः पुनः धारण भी करती है जो कैवल्य ज्ञान पर निर्भर है। शरीर मरण धर्मा है। इसी पर आधारित है यह संसार चक्र और जन्म मरण की प्रक्रिया और विभिन्न योनियों में इसका धूम चक्र।

अणु से भी अणु और महान से भी महान आत्म, जीव की हृदय रूप गुहा में स्थित है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है। कठोपनिषद के 2/24 श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि पापकर्म एवं इन्द्रियों की चंचलता से मुक्ति, समाहितचित तथा समाधान के फल से उपशांत मन ही आत्मा के स्वरूप को समझ सकता है। ऐतरेयोपनिषद में व्यक्त है–'परमार्थ विज्ञाने फलादर्शने क्रियानुपततेः' अर्थात् उस परमार्थ आत्म तत्व का ज्ञान हो जाने पर क्रिया का कोई फल नहीं देखा जाता, फल की आसक्ति समाप्त हो जाती है। ईशावास्योउपनिषद में कहा गया है कि ''आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्धत्व, निष्पादत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशीरतत्व और सर्वगतत्व आदिहै।'' परंतु आज इस भौतिक युग में शरीर ही आत्मा और आत्मा ही शरीर की मान्यता इतनी गाढी हो गई है कि यह कारण है वर्तमान की क्लांत मानवता का।

जैनदर्शन में मूल तथ्य यह है कि जब आत्मा पर लेप हो जाता है आसक्तियां मनुष्य में प्रवेश कर जाती है, शरीर व शरीर की पांचों इन्द्रियां आत्मिक अनुशासन की लक्ष्मण रेखा को अमान्य कर स्वच्छाचरण करने लग जाती है तो क्रोध–मान–माया लोभ मनुष्य पर हावी हो जाते हैं। परिग्रह का प्रवेश द्वार खुल जाता है। मनुष्य जब इस चलायमान शरीर को ही आत्मा मान कर गूढ़ आसक्ति के नागपाश में बंध जाता है। वस्तुतः आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है एवं आत्मा ही उसके परिणाम का भोक्ता है।

मनोवैज्ञानिकों की भाषा में दुःख–सुख, संतोष–असंतोष एक मस्तिष्कीय स्थिति है एवं वह मानव के आसक्ति भाव से निर्धारित है। निःस्पृहता या अनासक्ति पर पदार्थों की रूचि को तोड़ देती है, अनावश्यकताओं को सीमित कर देती है। उनकी दृष्टि में शरीर की आवश्यकता मात्र इतनी ही है जिससे वह बना रह सके, स्वस्थ रह सके। उसके शोषण के लिए औषधिरूप भोजन चाहिए स्वादिष्ट या ाट्रस भोजन नहीं। स्वर्ण मंडित पलंग और मखमल के गद्दों की आवश्यकता नहीं आधुनिक साधन सुविधाओं युक्त, गगनचुम्बी महलों की आवश्यकता आत्म निर्भरता की है– नौकर चाकरों की भीड़ की नहीं।

अपरिग्रह वृत्ति की भाषा में निरपेक्ष सुख ही वास्तविक सुखानुभव है। पर–सापेक्ष–तथाकथित सुख भ्रामक सुखानुभूति है। पर–सापेक्ष सुख अस्थिर है छलावा है, मृगतृष्णा है और अगर आकर चला जाता है तो पीड़ा के अंबार छोड़ जाता है। पर–सापेक्ष सुख की अंत परिणीत मात्र दुःख ही है, असंतोष ही है चाहे आप अपनी किस्मत को कोसो या परमात्मा को। पर–सापेक्ष सुख पराधीन सुख है, क्षणिक सुख है और आसक्ति की यह तीव्र स्पृहा स्वर्ण लंका की तरह मानव को जला डालती है। यह सुख नहीं आक्रन्दन है। मानव शरीर की तरह ये पर सापेक्ष सुख विसर्जन धर्मा है। जब मानवीय शरीर ही मरण धर्मा है तो उसे पराधीन सुखों की स्पृहा के निकट लाना ही अलाभ है।

वस्तुतः चिरस्थाई, अनुपम एवं निर्विकार सुख पर स्पृहा की विरति में है। 'निःस्पहत्वं महासुखम'। ''निरवेक्खो तरइेदुत्तरभवो•यम्'' अर्थात् निरपेक्ष आत्मगुण दुष्कर व दुस्तर भवसमुद्र को पार कर लेता है।स्पृहा या

तृष्णा या आसक्ति को आत्मवृत्ति से दूर हटा दो क्योंकि यह आत्मा से भिन्न पुद्गलों में रतिरूप चाँडालनी का संग स्वीकार करती है। तात्पर्य है स्पृहा एवं अनात्म रति का गहरा पारस्परिक जोड़ है अतः विरति आत्मोत्थान का आवश्यक तत्व है। अनात्म रति का स्पष्ट तात्पर्य है– जड़ पदार्थों के प्रति पुनः पुनः आकर्षण एवं पुदगला–नन्द–जड़रति। अनात्मरति यदि विद्यमान है तो तप–त्याग–संयम सभी हेय ही रह जाते हैं। तप–आराधना के पीछे यदि मान सम्मान की आसक्ति बंधी हुई है, ज्ञान ध्यान के पीछे लोक सम्मान की लालसा है, सेवावृत्ति के पीछे सामाजिक प्रतिष्ठा व वाही वाही की आशा है तो ये सब तप साधनाएँ व्यर्थ होकर रह जाती है।

याचना या भीख जैसे नैतिक पतन के काम भी स्पृहा ही करवाती है। किसी एक आकांक्षा जगते ही उसको पूरा करने के लिए भीख–चापलूसी, याचना, प्रार्थना, चोरी, अतिक्रमण, मनुष्य कुछ भी कर लेता है। स्पृहा में आदमी हल्का बन जाता है– नीचा गिर जाता है। उसका पतन हो जाता है। जैनदर्शन में इसे लोक संज्ञा का नाम दिया गया है एवं इससे विरति की देशना दी गई है।अपरिग्रह सिद्धान्त इसकी औषधि है यह भी दर्शन–सिद्धान्तों के संदर्भ में पुनःपुनः बताया गया है क्योंकि विश्व इतिहास में इसी सिद्धान्त ने भूत में त्रृसित मानवता को त्राण समय समय पर त्राण दिया है। अतः वर्तमान मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना में इस सिद्धान्त की उपादेयता सर्व विदित–सर्व स्वीकृत एवं सब दर्शनों एवं समाज शास्त्रों द्वारा मान्य है। वर्तमान युग को वैज्ञानिक चिंतन भी, इसी कारण, आत्म ज्ञान की ओर, अपरिग्रह सिद्धान्त की ओर मुड़ने को आतुर है उत्सुक है क्योंकि सभी शांति और संतोष चाहते हैं। आज की समाजवादी व्यवस्था आसक्ति व ममत्व के धागे को काटना चाहती है, भेद विज्ञान को अपनाना चाहती है, अनेकान्त दृष्टि से निर्णय लेना चाहती है। वर्तमान राजनीति भी लूटेरों, चोरों, आदमखोरों, भ्रष्टाचारों जैसे अपमानित शब्दों से मुक्ति चाहते हैं। विदेशी भारतीय जोगी बन कर एकांत में रहना चाहते हैं, शांति नहीं है तो शांति की आशा में जीना चाहते हैं– इस आशा से बंधना चाहते है। परंतु शांति की इस चाह एवं व्यवहार में प्रयोगित आचरण में सामंजस्य नहीं बैठता है। आशा शांति की है परंतु शांति प्राप्ति के प्रयत्न परिग्रहपूर्ण हैं। विश्व इस असंतुलन में जी रहा है।

आज जगत को जागतिक शांति के लिए अपरिग्रह सिद्धान्त की महती उपादेयता है क्योंकि हर मानव स्वतंत्रता चाहता है, शांति में जीना चाहता है।प्रश्न है– अनुशासन का स्रोत क्या है? स्वरूप क्या है? इसका फल क्या है? आचार्य का उत्तर है– 'दूसरों की स्वतंत्रता का संरक्षण करने वाली स्वतंत्रता अनुशासन का स्रोत है। अनुशासन का स्वरूप है इच्छा–निरोध या अनासक्ति। इसका फल है प्रसाद और समता। इस जग में अनुशासन का प्रतिपालन करने वाला व्यक्ति ही सुस्थिर रह सकता है। आशयतः व्यक्ति स्वतंत्र तभी रह सकता है जब तक कि वह पर या अन्य की स्वतंत्रता में बाधक नहीं है। किसी अन्य की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करते ही मनुष्य परतंत्र हो जाता है। मनमाने तरीके से काम करने वाला व्यक्ति कभी अनुशासित नहीं रह सकता है अतः उसे स्वतः ही गुलामी में जीना पड़ता है।

आज परिग्रह की विकट समस्याओं ने वर्तमान मनुष्य को अपरिग्रह के मूल्यांकन की ओर मुड़ने को मजबूर किया है। लोकतंत्र की चुनावी समस्या के दुर्गतिपूर्ण परिणामों ने मनुष्य को व्यत्सर्ग की दिशा खोजने का संकेत दिया है। शांति की खोज के मार्ग पर आज यह सभी मानने को मजबूर है कि जाति जन्मना नहीं कर्मणा है, सम्पत्ति समाज की है, चिकित्सा विज्ञान काया को चिरजीवी बनाने के लिए है– मृत्यु के द्वार पर असमय पहुंचाने के लिए नहीं है, राष्ट्र हित–मानव हित सर्वोपरि है या पार्टी या पार्टी का अभिमत एवं घोषणा पत्र नहीं,

तत्सम्बन्धित साम्प्रदायिकता नहीं है। समस्या आज की है और स्थायी समाधान छिपा हुआ है महावीर के अपरिग्रह सिद्धान्त में जैन दर्शन के इस अनासक्ति सूत्र में। आज महावीर एक दृष्टिकोण है दिशा दर्शन है क्योंकि अवतारवाद उन्हें मान्य नहीं रहा था।

आज की इस दुर्गति का मुख्य कारण है कि भीतर में जो है उसे देखने की खिड़कियां बंद है, दरवाजे भी बंद है। यदि मनुष्य अपनी इन्द्रियों की मनमानी प्रवृत्ति की दिशा बदल दे, सकी बहिर्मुखता को अंतर्मुखता की ओर मोड़ दे, मन की चंचलता पर अनासक्ति का अंकुश लगा दे, अनुशासनात्मक स्वतंत्रता को प्राप्त कर ले तो ये बंद खिड़कियां धड़ाधड़ खुलनी आरंभ हो जायगी। मानवीय दृष्टि अंदर से ऐसी आबद्ध हो जाएगी कि पूर्ण संतुष्टि की इस अवस्था में उसे बाहर झांक सकने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी।

जैन दर्शन केवल उत्पादन को ही सब कुछ नहीं मानता। उसमें निमित्त का भी अवकाश है। स्वीकृति मूल्यानुसार होती है। अनेकान्त दृष्टि में न किसी का अधिक मूल्य और न किसी की अधिक स्वीकृति। चन्द्रमा आकाश के आंचल को छूता हुआ उदित होता है तो शीतल चांदनी भूमि के तल को, धरा के वक्षस्थल को चांदनीमय व शीतल कर देती है। आज सर्वत्र तमस है। जगत तमसमय हो गया है। तमस चारों ओर है। ऊपर भी है नीचे भी है, बाहर भी है अंदर भी है। सबसे जटिल है विकट है आज भीतर का तमस जिसे मिटाने के लिए आज आवश्यकता है अपरिग्रह व्रत रूपी शीतल चांदनी की। इसी रूप में उपादेयता है जैन दर्शन के अपरिग्रह सिद्धान्त की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में।

वस्तुतः जब तक समस्याएं रहेगी, उलझनें रहेगी, पीड़ा व परवशता रहेगी तब तक प्रश्न रहेंगे, समाधान की ओर दृष्टि रहेगी तब तक अंतर के द्वार खोलने ही पड़ेंगे, खुले रखने के सतत प्रयत्न अविराम करने ही पड़ेंगे और जैन दर्शन का यह अपरिग्रह साधना सूत्र प्रासंगिक रहेगा– उपदेय रहेगा। प्रत्येक प्राणी में इस साधना सूत्र के बीच विद्यमान है परंतु अंकुरित नहीं हो रहे हैं। वर्तमान में यह साधना सूत्र सच्चाई का बिम्ब है आवश्यकता है समस्याओं को पहचानने की, समाधान ढूंढने की– जो इस सिद्धान्त के सम्यक् आचरण बिना संभव नहीं है। इस सिद्धान्त की उपादेयता को जगत की धरती पर बिछा देने के लिए आवश्यक तत्त्व है 'विवेकपूर्ण मस्तिष्क'। विवेकपूर्ण मस्तिष्क इच्छाओं को देखता है, परखता है, तोलता है एवं कांटछांट व संशोधित करता है। यह विवेक उन इच्छाओं की उद्दंडता को संकुचित करता है, दबाता है। इच्छाओं आकांक्षाओं का अंकेक्षण, संशोधन या काट छाट ही वस्तुतः मानवीय अनुशासन का मार्ग है। यह अपरिग्रह साधना का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है।

तीर्थंकर महावीर कहते हैं न अभाव को देखो न उपलब्धि या प्राप्ति को। ध्यान को अभाव एवं अर्जन के मूल्यांकन से हटा दो क्योंकि सुख व दुःख अर्जन और अभाव में नहीं इसका स्रोत इन्द्रिय जनित है एवं दृष्टि में है। अभाव को देखना पीड़ा है भाव को देखना संतुष्टि का सुख है। अभाव पक्ष मे विचलन है परंतु भाव पक्ष स्थिरता का है। विचलन इन्द्रियों को उग्र बनाती है भाव सामान्य व सहज बनाती है। अभाव कृपणता वृत्ति है तो भाव वृत्ति उदारता को परितोष करती है। यदि भाव वृत्ति है तो भीतर आनंद का स्रोत सदैव प्रवाहमान रहता है और बाहर की परिस्थितियां एवं उससे उत्पन्न कष्ट व पीड़ा मनुष्य को विचलित नहीं कर सकती। यह वृत्ति सहिष्णुता की वृत्ति है और मनोबल को कभी हताश या कमजोर नहीं होने देती। कहते हैं आज आदमी मानसिक दबाव में जीता है। यह दशा कमजोर मनोदशा की परिचायक है। मानसिक दबाव तब प्रभावित होता है जब

आदमी का आदर्श अस्पष्ट होता है, क्षमता लुप्त होती है और मनोबल हताश या कुंठित होता है जिससे सामने खड़ी बाधाएं एवं अवरोध विघ्न मजबूत हो जाते हैं।

भाव वृत्ति मन की चेतना है। जन चेतना है। मन चेतना है। मन चेतना से जागृत जनचेतना जब पूर्ण विकसित या अपने चरम पर पहुंचती है तो स्थापित दोश पूर्ण मान्य व्यवस्था को बदल देती है। फिर आरंभ हो जाती है सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक नव संरचना की प्रक्रिया। उन्मूलन कर देती है उन सभी व्यवस्थाओं को जो आम आदमी के सुख दुःख से कोई सरोकार नहीं रखती और अनैतिक प्रयत्नों से स्वार्थसिद्धि करती रहती है। वस्तुतः समाधान समस्या में ही निहित होता है। मात्र अज्ञात लगता है पर वह दूर नहीं होता। वास्तविकता में ही निहित होता है। यदि हम इस बात को समझ ले तो हर मानवीय पीड़ा को हटाने के लिए दूर करने के लिए यह अपरिग्रह का साधना सूत्र है– आज की व्यवस्था के त्राण के लिए उपादेय है औषधि रूप है प्रासंगिक है।

आज वास्तविकता से दूर भागने की वृत्ति है। आंखें बंदकर अंधेरा कर सकने का स्वभाव है। जो अभी है वर्तमान में है वह चिरचिंतन व कालातीत में भी रहा है परंतु अभी इस वर्तमान में मनुष्य नहीं समझ पा रहा है क्योंकि वह आसक्ति के जाल में जकड़ा हुआ है। सत्य विचार को काल से मुक्त करना करने के लिए अनासक्ति कर्म की आवश्यकता है।आज हम अनासक्ति की पूजा चाहते हैं क्योंकि हम दुःखी हैं, सुख से कातर है, हम थक गए हैं, हम अवनत है, क्लांत है परंतु हमें जो ज्ञात है उससे ही अज्ञात की ओर बढ़ रहे हैं–अनवरत बढ़े जा रहे हैं एवं अनभिज्ञ हो रहे हैं मात्र इस साधारण तथ्य से भी की हम क्लांत हैं। मात्र जो ज्ञात है उसे ही मनुष्य समझ ले, मान ले, हृदयगत कर ले तो अद्भुत शांति दूर नहीं है। शांति उसी का वरण करती है जो अभाव से मुक्त व भाव में रत है। आवश्यक यह है कि जो वास्तविकता है उसमें अपना समस्त ध्यान अवध्यान स्थिर कर दे तो अज्ञात स्वतः आपकी समझ में आ जायेगा– आपको ज्ञात हो जायेगा। दूसरे शब्दों में आप अपने आत्मभाव में स्थिर हो जाइए– अज्ञात दूर हो के रहेगा।

आज अज्ञात यह है कि हमारे अंदर वह क्या है जो भ्रांति उत्पन्न कर रहा है, हमें पथच्युत कर रहा है, हमें असमंजस में डाल रहा है वर्ग वैशम्य, मिथ्या, वैभव प्रेम, यश का अनुगमन की ओर खींचे जा रहा है। महत्त्वपूर्ण यह है कि हम अपने सही स्वरूप को पुनःपुनः देखे और वर्तमान विकृत रूप से वास्तविक स्वरूप में लौट जाए। हमारी समस्या आज यह नहीं कि अज्ञात को कैसे प्राप्त किया जाए, हमारी समस्या है मन की संचयी प्रक्रियाओं को समझना जो स्वतः ज्ञात है।

''वर्तमान की उपेक्षा मत करो– महावीर का यह संबोधन गौतम के लिए ही नहीं था। यह शाश्वत स्वर का उद्घोष है। इस सूत्र में मनुष्य की प्रकृति का सजीव चित्रण है। मनुष्य प्राप्त अवसर का लाभ नहीं उठाता किंतु अवसर के चले जाने के बाद उसकी स्मृति करता है। वर्तमान क्षण का सम्यक् उपयोग करना अपने व्यक्तित्व का विकास करना है। वर्तमान का क्षण अनुभूति का क्षण है। अतीत के क्षण स्मृति हो सकती है, वह तर्क का विषय बन सकता है।'' आगे कहा है–

^^vuHkfr oriekuLrhr rdLefr eonA
rdkn xfr iorir] lkuHkrk fojE;rAA**

विकास के दो सोपान माने गए हैं– वर्तमान की अनुभूति और प्राचीन शास्त्र। वर्तमान के अनुभव सर्वोपरि है। जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों में आस्था रखने वाला, आत्मा के कर्त्तव्य में विश्वास रखने वाला ग्रंथ या शास्त्र को अधिक मूल्य नहीं दे सकता। अनुभव मय वर्तमान को अधिक मूल्य देना ही आवश्यक है क्योंकि समस्याएं भी वर्तमान हैं।

वर्तमान में मानवीय जीवन क्रम में रिश्तों में रिसाव है, सम्बन्धों में सिसक है और आदर्शों में खोखलापन है। यह सब व्यक्तिवाद या स्व की हामी के चारों ओर केन्द्रित है। प्रत्येक को अपनी पड़ी है और इस स्वार्थमय वातावरण में हम अपनी ही बात सोच रहे हैं। फलतः मूल्य विहीन या गिरते मूल्यों का वातावरण है। आज एक भाई दूसरे भाई को, एक मानव दूसरे मानव को सहन नहीं कर पाता। एक सम्प्रदाय दूसरी सम्प्रदाय को, एक भाषा दूसरी भाषा को एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को बर्दाश्त नहीं कर पाता।

वर्तमान यह आवश्यकता अनुभव करता है कि हम घर में, समाज में, राष्ट्र में और विश्व में मिलकर रहे परंतु वर्तमान सत्य यह है कि हम एक दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। मानवत्व एवं बंधुत्व दर किनारा हो रहा है। पनप रहा है पृथकतावादी दृष्टिकोण। यही कारण है आज पंजाब में सिक्ख अपने को राष्ट्रीय धारा से पृथक् महसूस कर रहे हैं। अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बीच आज दीवार है। राजनीति में अस्तित्ववाद को नकारने की प्रवृत्ति व प्रक्रिया अलगाववाद को पोषित कर रही है जिससे तथाकथित राजनेता एवं धर्मनेता अपना उल्लू सीधा कर सके। अधिकारों की लड़ाई से उत्पन्न पृथकतावाद ने कभी कर्त्तव्य से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया? क्या हमने कभी भटकावपूर्ण नेतृत्व की ओर देखने की चेष्टा की? क्या राजनैतिक दल के सदस्यों ने कभी अपने दल की अनाचारिता पर चिंतन किया? क्यों हम मौज मस्ती में जीना चाहते हैं एवं इस दिशा में कोई भी प्रतिशोध या सीख या संयम की बात सुनने को तैयार नहीं है? एक असहिष्णुता क्रियाशील है। कर्त्तव्यहीनता के आंदोलन अधिकारों के आवरण में चल रहे है।

इस अवस्थित वर्तमान वृत्ति का समाधान वर्तमान ही है, क्योंकि मात्र भटकाव की दिशा को ढूंढकर उसकी दिशा बदलनी है, बाहर को अमहत्त्वपूर्ण मानकर अंदर झांकना है, मात्र वर्तमान की तह में जड़ में मानवीय आत्मा में, समाज की नींव में, राजनैतिक व्यवस्था की वृत्तियों में। सामाजिक एवं संघीय जीवन के भाव पक्ष को देखना है उसे उजागर करना है जिससे ही वर्तमान फिसलन व विचलन समाप्त हो सकती है। अपरिग्रह सिद्धान्त एक वृत्ति है, एक दृष्टि है, एक सोच है, आत्मान्वेषण की प्रक्रिया है, सहिष्णुता एवं मैत्री की दिशा है, समष्टि के प्रति मौलिक त्याग एवं कर्त्तव्य त्याग एवं कर्त्तव्य की कसौटी है। वर्तमान को देख सकने के लिए, परख सकने के लिए आवश्यक है आत्म सारथी, आत्मा में स्थिर होना। आचार्य उमास्वाति के मत में ''मार्गाच्यवन निर्जरार्थ परिशोढव्या परीशहा।'' अर्थात् मार्गाच्यवन अर्थात् स्थिरता, अविचलन और निर्जरा अर्थात् स्थिर रह सकने के लिए कश्टों को सहन कर सकता क्योंकि यह प्रक्रिया है दुष्कर्मों के धुनन की।

महर्षि पातंजलि ने कहा है आसन सिद्धि जिससे सारे द्वन्द्व ही समाप्त हो जाए, प्रवृत्ति में प्रवेश न कर पाए। एक ऐसी बोध–शून्यता प्राप्त हो जाएगी जिससे सर्दी–गर्मी–भूख प्यास आदि पीड़ाएं कर्त्तव्य पालन में अवरोध नहीं बन सकेगी। कष्ट स्वतः ही सह लिए जाएंगे बिना किसी पीड़ा के अर्थात् समभाव से और स्वीकृत आत्यिक मार्ग प्रशस्त रहेगा। बाहरी परिस्थितियों के कष्ट कभी विचलित नहीं कर पाएंगे जब भीतर में आनंद का स्रोत कहता रहता है। दर्शन जिसका साफ होगा, व्यक्ति की क्षमता जागेगी– परिपुष्ट होगी, आनंद व संतोष जागृत होगा, शक्ति व मनोबल बढ़ेगा और परीशह को झेलना पीड़ा रहित हो जायगा। जैन दर्शन में बाइस

परीषह लेखांकित हैं। कुछ शारीरिक, कुछ मानसिक एवं कुछ भावात्मक। दर्शन साफ है तो परीषह कमजोर हो जाते हैं। न अज्ञान परीषह टिक पाता है न प्रज्ञा परीषह। मार्गान्तरण, एक मार्ग को छोड़कर दूसरा मार्ग अंधकार में खोजने की प्रवृत्ति एक छिपाव है– सम्यक् दर्शन के लिए स्पष्ट आदर्श की आवश्यकता है जिससे परीषह स्वतः नीचे दब जाएंगे।

वर्तमान की सारी समस्याएं आरंभ एवं परिग्रह की धुरी पर केन्द्रित है। यह ठीक है सांसारिक जगत जीवन में इनका सम्पूर्ण त्याग संभव नहीं है परंतु अनारंभ का बोध आवश्यक है, उसका दिशा निर्देशन आवश्यक है जो अनुशासन प्रतिस्थापित करता है। आरंभ व परिग्रह जैसे जैसे छूटते है शांति व संतोष जीवन में उतरती जाती है। आसक्ति और लोभ से ग्रसित मनुष्य के सामने कोई जीवन मूल्यांकन का मापदंड नहीं रह पाया अतः वर्तमान दिशाहीन है।वर्तमान स्पष्टतः दिशाहीन है। आरंभ और परिग्रही मूर्च्छा इतनी विराट हो गई है कि अपरिग्रह एवं अनासक्ति को दर किनार करदिया है कमरे में कैद कर दिया है। ये दोनों आज विद्यमान है अतः महती आवश्यकता द्वारा खोलकर कैद अनासक्ति को मुक्त कर देने की है, वर्तमान में घोल देने की है। इसे चाहे जैन दर्शन के अपरिग्रह की वर्तमान में उपादेयता कह दे या प्रासंगिकता का नाम दे दे।

वस्तुतः हम वर्तमान में है, परंतु वर्तमान में नहीं जी रहे हैं। हम जी रहे हैं भूत के दुराग्रहों में– दुराग्रह वृत्ति में और भविष्य की चिंता में, भविष्य के आसक्ति पूर्ण ताना–बानों की वृत्ति में। यदि हम वर्तमान में जी सकता सीख ले, वर्तमान में ही सुखी एवं संतोषी होना जान ले तो सारी समस्या ही तिरोहित होकर रहेगी। समझ लेना यह है कि वर्तमान क्या है? हमारी वर्तमान वृत्ति क्या है? हम मूल आत्मवृत्ति से सम्बन्ध क्यों नहीं स्थापित कर पा रहे हैं? क्यों क्लांत है? इसका उत्तर वर्तमान में ही निहित है क्योंकि अपरिग्रह सिद्धान्त भी आत्मा की तरह आत्म वृत्ति की तरह वर्तमान है।

इसके लिए आत्म वृत्ति में स्थिर होना होगा। भूत द्वारा जो विसंगतियां बिछाई जा चुकी है, जो भूत के दुराग्रह स्वीकृत किए जा चुके हैं, जिसका सामाजीकरण हो चुका है उन्हें गर्त की ओर मोड़ना होगा– अस्वीकृत करना होगा। उन्हें खंडित करना होगा। भविष्य के प्रति जो आशाएं हैं–चिंताएं हैं उनसे मुक्त होना होगा। वर्तमान को ही पुनःपुनः सवारना होगा। यही उपादेयता है अमूर्च्छा पूर्ण वृत्ति की वर्तमान में।वर्तमान में उपचार की यह संजीवनी उत्पन्न करेगी उपयोगवाद का अनुशासन, पर्यावरण एवं प्रकृति के साथ सामंजस्य एवं प्रकृतियों के नियमों एवं उपनियमों के साथ सहकारिता। प्रकृति का विदोहन शोषण से विकृत है प्राकृतिक पर्यावरण एवं मानवीय पर्यावरण एवं दोनों दुख को बढ़ाती है– वेदना को आमंत्रित करती है चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक एवं अकाल मृत्यु को आमंत्रित करती है।अपरिग्रह सिद्धान्त स्वतः एक आचार संहिता है, एक साधना है जिसे वर्तमान में, वर्तमान के लिए, वर्तमान द्वारा उपादेय बनाना है।

7- vifjxg dk vFk'kkL=

आगमिक अर्थतंत्र की मजबूती का मुख्य आधार अच्छा पर्यावरण और विपुल प्राकृतिक सम्पदा है। भगवान् महावीर के सिद्धान्त उस तंत्र को अधिक मजबूत तथा दीर्घजीवी बना देते हैं। जीवन और जगत् की सारी व्यवस्थाओं के सम्यक् संचालन के लिए आगम आधारित त्रिपदी प्रसिद्ध है–1. आचार में अहिंसा, 2. विचारों में अनेकांत और 3. व्यवहार में अपरिग्रह।

अपरिग्रह आगमिक अर्थशास्त्र का केन्द्रीय सिद्धान्त है। अहिंसा की साधना के बगैर अहिंसा के पथ पर चलना भी अत्यन्त दुष्कर है। अपरिग्रह अहिंसा का सामाजिक और आर्थिक पक्ष है। परिग्रह के कारण से ही व्यक्ति हिंसा करता है, चोरी, असत्य आचरण और अनाचार का सेवन करता है। इसलिए भगवान महावीर कहते हैं–अधिक मिलने पर भी संग्रह–वृत्ति का भाव नहीं रखना चाहिये तथा परिग्रह–वृत्ति से अपने को दूर रखना चाहिये। जो संग्रह–वृत्ति में ही दिन–रात व्यस्त रहते हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर बढ़ाते हैं। सचमुच! संसार में परिगह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल व बंधन नहीं है। अर्थ, अनेक अनर्थों व समस्याओं को पैदा करता है।

प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच परिग्रह इतना खतरनाक है? आगमकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मुच्छा परिग्गहो वुत्तो– वस्तुओं के प्रति ममत्व, मूर्च्छा और आसक्ति ही परिग्रह है। मूच्छा का अर्थ है–जागरूकता का अभाव। मूर्च्छा में व्यक्ति हित–अहित और अच्छे–बुरे का भेद नहीं कर पाता है। इसलिए भगवान महावीर ममत्व–विसर्जन और निरासक्ति पर बहुत जोर देते हैं। जैन परम्परा ऐसे साधकों और महर्षियों की परम्परा है, जिन्होंने ममत्व और राग का विसर्जन कर दिया और वे वीतराग कहलाये। राग परिग्रह का मूल है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि स्वयं की पकड़ होने पर 'पर' की पकड़ स्वतः छूट जाती है, यह स्थिति अपरिग्रह की है।

संसार के अधिकांश झगड़ों अपराधों के मूल में परिग्रह की चेतना काम करती है। परिग्रह होता है तो समस्याएं पैदा होती हैं और परिग्रह नहीं होता है तो समस्याएं पैदा होती है। वस्तुतः समस्याओं का मूल मूर्च्छा का भाव है। एक गरीब व्यक्ति अपनी छोटी–सी कुटिया में सुख की नींद सो सकता है और एक अमीर व्यक्ति उसकी अट्टालिका में भी चैन से नहीं जी पाता है। वस्तुओं के बढ़ जाने से गुणात्मक रूप से सुख नहीं बढ़ता है। उत्तराध्ययन में भगवान महावीर कहते हैं–वित्तेण ताण न लभे पमत्ते। इमम्मि लोए अदुवा परत्थ। धन व्यक्ति की रक्षा नहीं कर सकता, न ही उसे वह स्थायी सुख व तृप्ति देता है। इसलिए परिग्रह कितना ही क्यों न बढ़ जाय, उससे व्यक्ति दुख से मुक्त नहीं हो सकता। आधुनिक अर्थशास्त्र के सारे मापदण्ड धन–सम्पत्ति और बाहरी सुख–सुविधाओं पर आधारित है। इन मापदण्डों के आधार पर वह व्यक्ति में अनावश्यक व्यग्रता और विद्रोह पैदा करता है। इससे समाज में अवांछित होड़ा–होड़ी और संघर्ष का जन्म होता है।

8- vifjxg vkj fodkl

अपरिग्रह और संतोश का अर्थ यह कतई नहीं है कि व्यक्ति अपने जीवन में आलस्य को प्रोत्साहित करें। अपरिग्रह निरंतर उद्यमशील रहने की प्रेरणा देता है। वह उत्पाद और अर्जन को बाधित नहीं करता है। वह सम–वितरण और अनासक्ति पर जोर देता है। अपरिग्रही अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीता है। अपरिग्रह व्रत की चार शर्तें हैं– स्वावलम्बन, श्रमशीलता, अहिंसा और निपुणता। राष्ट्र के विकास में चारों शर्तें सहयोगी बनती हैं। एक तरफ अनाज के भंडार भरे हो और दूसरी ओर बड़ी संख्या में लोग भूख और कुपोषण से मर जाय। ऐसा एक तरफा विकास के कारण होता है। ऐसे विकास में मानव–श्रम और प्राकृतिक संसाधनों का भारी दुरुपयोग होता है। एक तरफ गगनचुम्बी अट्टालिकाएं, दूसरी तरफ खुले आकाश तले सोते लोग। अपरिग्रह सामाजिक समता, आर्थिक समता और राष्ट्रीय विकास का मूल हेतु है। वह मानव के भीतर–बाहर की दरिद्रता मिटाता है और समाज की दरिद्रता का निवारण भी करता है। इस प्रकार भगवान महावीर के अपरिग्रहवादी चिंतन की पांच फलश्रुतियां हैं–इच्छाओं का नियमन, समाजोपयोगी साधनों के स्वामित्व का

विसर्जन, शोषण–मुक्त समाज की स्थापना, निष्काम बुद्धि से अपने साधनों का जनहित में संविभाग और आध्यात्मिक–शुद्धि।

जैसे अहिंसा की साधना के लिए अन्य व्रतों का अनुपालन आवश्यक है, वैसे ही अपरिग्रह के अनुपालन के लिए अन्य व्रतों का अनुपालन आवश्यक है। प्रथम व्रत अहिंसा की पूर्णता पंचम व्रत अपरिग्रह में होती है। इन पांच व्रतों के समुचित पालन के लिए आगम साहित्य में और भी विधि–विधान, त्याग–तप और व्रत–नियम बताये हैं। तीर्थंकर महावीर का आचार दर्शन बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय तक ही सीमित नहीं है, वह सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय से भी आगे बढ़ता है– सर्वजीवहिताय और सर्वजीवसुखाय तक। उनके आचार दर्शन पर आधारित अर्थ–व्यवस्था और समाज–व्यवस्था संसार की सारी अव्यवस्थाओं को समाप्त करने में पूर्ण सक्षम है।

प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों के बीच भी आर्थिक दृष्टि से जिस समय समाज दिशाहीन हो पड़ा था; उस समय भगवान महावीर ने व्रतों की व्यवस्था देकर मानव को परिश्रम, स्वाभिमान, ईमानदारी, त्याग और प्रामाणिकता से जीने की कला सिखाई। जो व्यवस्थाएं भारी–भरकम शासकीय और प्रशासकीय खर्च और ढेर सारे राजकीय कर्मचारियों द्वारा ठीक नहीं हो पा रही थी, भगवान महावीर की व्रत–व्यवस्था से उनमें आमूल–चूल परिवर्तन होने लगे थे। वस्तुतः जिन व्यक्तियों और राजसत्ताओं ने व्यवस्थाओं का जिम्मा ले रखा था, उनका व्यक्तित्व भी निश्पक्ष, निभ्रांत, निष्कपट और प्रामाणिक नहीं था। भगवान महावीर ने व्यक्तित्व–रूपान्तरण के माध्यम से व्यवस्था–परिवर्तन का ऐतिहासिक कार्य किया। जिसका प्रभाव उनके अपने समय में हुआ, बाद में हुआ, आज भी है और युग–युगांतर तक देश–देशांतर में होता रहेगा।

9- vH;kl i'u

fucU/kkRed i'u

1. अपरिग्रह की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए वर्तमान में इसकी उपादेयता सिद्ध कीजिए।

y?kqÙkjkRed i'u

1. अपरिग्रह के विभिन्न आयामों की व्याख्या कीजिए।
2. बौद्ध दर्शन में अपरिग्रह को समझाइये।

vfr y?kqÙkjkRed i'u

1. अपरिग्रह व्रत की अनिवार्य शर्त है–

   (a) स्वावलम्बन (b) श्रम

   (c) अहिंसा (d) उपरोक्त सभी

2. जीव और जगत की व्यवस्थाओं के संचालन के लिए आगम आधारित त्रिपदी सूत्र है–

   (a) आचार में अनेकांत (b) व्यवहार में अनेकांत

   (c) विचार में अपरिग्रह (d) आचार में अहिंसा

3. आसक्ति का रूप है–

(a) इच्छा (b) त्याग

(c) चोरी (d) संग्रह

4. किस तीर्थंकर के समय जैन परम्परा में चातुर्याम की व्यवस्था थी?

(a) भगवान महावीर (b) भगवान अरिष्टनेमि

(c) भगवान पार्श्वनाथ (d) भगवान ऋषभ।

5. निम्न में से कौनसा सिद्धान्त अपरिग्रह का रूप है–

(a) ट्रस्टीशिप (b) स्वदेशी

(c) चरखा (d) खादी।

6. वैदिक दर्शन में अपरिग्रह है–

(a) मोक्ष प्राप्ति का मार्ग (b) शांति प्राप्ति का मार्ग

(c) आत्मा की मुक्ति का मार्ग (d) योग साधना का द्वार।

7. किसी वस्तु या भाव के प्रति ..... परिग्रह है।

8. ..... के आंदोलन अधिकारों के आवरण में चल रहे हैं।

9. निरपेक्ष सुख ही वास्तविक ..... है।

10. ..... की स्मृति भी परिग्रह है।

bdkbZ&3

bPNk ifj.kke vkSj bPNkfoghurk

mís';

1. महावीर के इच्छा परिणाम की अवधारणा का अध्ययन करना।
2. जे.के. मेहता के इच्छाविहीनता के सिद्धान्त को जानना।

lajpuk

1. इच्छा परिणाम
2. इच्छा के दृष्टिकोण
    - 2.1 आर्थिक प्रगति का दृष्टिकोण
    - 2.2 मानवीय एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण
3. इच्छा परिमाण की सीमा–रेखा
4. आवश्यकता–वृद्धि
5. इच्छा–परिमाणतथा उपभोग
6. नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र
7. इच्छा परिमाण के निष्कर्ष
8. इच्छाओं का सिद्धान्त
    - 8.1 इच्छाओं की अवधारणा
    - 8.2 इच्छाओं की प्रकृति
    - 8.3 इच्छाओं के प्रकार
        - 8.3.1 चेतन और अचेतन इच्छाएं
        - 8.3.2 वर्तमान एवं भविष्य की इच्छाएँ
    - 8.4 इच्छा एवम् उपभोग और उत्पादन
9. इच्छाविहीनता का सिद्धान्त
    - 9.1 आवश्यकताविहीनता का स्वरूप
    - 9.2 संतुष्टि, सुख और आनन्द
    - 9.3 आवश्यकताविहीन समाज
    - 9.4 इच्छाविहीनता की स्थिति प्राप्ति के उपाय

9.5 इच्छाओं के चुनाव की समस्या

10. अभ्यास प्रश्न

1- bPNk ifj.kke

भगवान् महावीर ने कहा– 'इच्छा आकाश के समान अनन्त है।' यह धार्मिक दृष्टि से जितना सत्य है उतना ही अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सत्य है। अर्थशास्त्र के अनुसार मांग से आवश्यकता का क्षेत्र बड़ा होता है। आवश्यकता मनुश्य की उस इच्छाको कहते हैं, जिसको पूरा करने के लिए उसके पास पर्याप्त धन हो और साथ ही वह मनुष्य उस धन को खर्च करने के लिए तैयार भी हो। मांग उस आवश्यकता को कहते हैं जिसकी संतुष्टि की जा चुकी है। इच्छा का क्षेत्र आवश्यकता से भी बड़ा होता है। सभी इच्छाएं आवश्यकताएं नहीं हो सकतीं, जबकि सभी आवश्यकताएं इच्छाएं अवश्य होती हैं। इच्छा से आवश्यकता का क्षेत्र संकुचित और मांग का क्षेत्र उससे भी संकुचित होता है। इच्छा नैसर्गिक होती है। आवश्यकताएं भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक रीति–रिवाज, शारीरिक अपेक्षा, परिस्थिति और धार्मिक भावना के द्वारा निर्धारित होती है।

गरीब व्यक्ति की आवश्यकताएं सीमित होती हैं। वह केवल जीवन–रक्षक आवश्यकताओं को ही पूर्ण कर पाता है। धनी व्यक्ति की आवश्यकताएं उससे बहुत अधिक होती हैं। वह केवल जीवन–रक्षक आवश्यकताओं को ही पूर्ण नहीं करता, विलासितायुक्त आवश्यकताओं को भी पूर्ण करता है।धार्मिक व्यक्ति की आवश्यकताएं नैतिक दृष्टि से प्रभावित होती हैं। वह जिन नैतिक आदर्शों को मानता है, उन्हीं के आधार पर अपनी आवश्यकताओं का निर्माण करता है। उसकी आवश्यकताएं बहुत कम और संतुलित होती हैं। किंतु भौतिक मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकताएं उसकी तुलना में बहुत अधिक और बहुत प्रकार की होती हैं।

2- bPNk d: nf"Vdk.k

आवश्यकता का गढ़ा इतना गहरा है कि उसे कभी भरा नहीं जा सकता। इस सत्य की स्वीकृति धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र– दोनों ने की है। भगवान् महावीर ने कहा– 'लाभ से लोभ बढ़ता है। जैसे–जैसे लाभ होता है वैसे–वैसे लोभ बढ़ता जाता है।' एक आवश्यकता पूर्ण होती है तो दूसरी नई आवश्यकता जन्म ले लेती है। आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर अशांति का नियम निश्चित किया गया। आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर अशांति का नियम निश्चित किया गया। आवश्यकता की असीमितता के कारण मनुष्य की शांति भंग होती है।

अर्थशास्त्र में भी आवश्यकता की अपूरणीयता प्रतिपादित है। डॉ. मार्शल ने लिखा है–'मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं असंख्य और अनेक प्रकार की होती हैं।' यदि मनुष्य एक आवश्यकता को पूर्ण करता है तो दूसरी नई आवश्यकता सामने खड़ी हो जाती है। वह जीवन–पर्यन्त अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। अर्थशास्त्रियों ने आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर 'प्रगति का नियम' स्थापित किया। उनका मत है कि असीमित आवश्यकताओं के कारण ही नये–नये आविश्कार होते हैं। फलस्वरूप समाज की आर्थिक प्रगति होती है।

2-1 vkfFkd izxfr dk nf"Vdk.k

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार अर्थ है। इस दृष्टिकोण से आर्थिक प्रगति बहुत आवश्यक है। आवश्यकताओं के सीमित होने पर आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसलिए आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यकताओं का विस्तार जरूरी है। इसी वस्तु–सत्य को ध्यान में रखकर एक प्राचीन अर्थशास्त्री ने कहा था– 'असंतुष्ट संन्यासी नष्ट हो जाता है और संतुष्ट राजा नष्ट हो जाता है।' संन्यासी के लिए आवश्यकताओं को कम करना गुण है और उनका विस्तार करना दोष है। सामाजिक व्यक्ति के लिए आवश्यकताओं को कम करना दोष है और उनका विस्तार करना गुण है।

2-2 ekuoh; ,oa vk/;kfRed nf"Vdk.k

मनुष्य सामाजिक प्राणी है– इस वास्तविकता के संदर्भ में अर्थशास्त्र का आवश्यकताओं को असीमित करने का दृष्टिकोण गलत नहीं है। किंतु मनुष्य क्या केवल सामाजिक प्राणी ही है? क्या वह व्यक्ति नहीं है? क्या उसमें सुख–दुःख का संवेदन नहीं है? क्या असीमित आवश्यकता का दबाव उसमें शारीरिक और मानसिक तनाव पैदा नहीं करता? क्या आवश्यकता के विस्तार के पीछे खड़ा हुआ इच्छा का दैत्य शारीरिक ग्रंथियों के स्राव को अस्त–व्यस्त और मानसिक विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर देता? इन समस्याओं की ओर ध्यान न देकर ही हम आवश्यकताओं के विस्तार का ऐकान्तिक समर्थन कर सकते हैं किंतु जब मनुष्य को मानवीय पहलू से देखते हैं तब हम इच्छाओं की असीमितता का समर्थन नहीं कर सकते। इस मानवीय और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इच्छाओं को सीमित करना जरूरी है।

अर्थशास्त्रीय और धार्मिक– ये दोनों दृष्टिकोण अपने–अपने विषयक्षेत्र की दृष्टि में ही सत्य हैं। धर्मशास्त्र कहता है– 'आवश्यकता को कम करो।' तब हमें इस सत्य की ओर से आंखें मूंद लेनी चाहिए कि यह प्रतिपादन मानसिक अशांति की समस्या को सामने रखकर किया गया है। अर्थशास्त्र कहता है– 'आवश्यकताओं का विस्तार करो।' तब हमें इस वास्तविकता से आंखें नहीं मूंद लेनी चाहिए कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मनुष्य की सुख–सुविधा के विकास को ध्यान में रखकर किया गया है। महावीर ने सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह की बात नहीं कही। वह मुनि के लिए संभव है। सामाजिक प्राणी के लिए उन्होंने इच्छा–परिमाण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सामाजिक मनुष्य इच्छाओं और आवश्यकताओं को समाप्त कर जीवन को नहीं चला सकता और उनका विस्तार कर शांतिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता। इसलिए उन्होंने दोनों के मध्यवर्ती सिद्धान्त– इच्छा–परिमाण का प्रतिपादन किया।

जीवन के प्रति धर्मशास्त्र का जो दृष्टिकोण है, उससे अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न है। धर्मशास्त्र जीवन की व्याख्या आंतरिक चेतना के विकास के पहलू से करता है। अर्थशास्त्र जीवन की व्याख्या आर्थिक क्रियाओं के माध्यम से करता है। दोनों व्याख्याओं की पृष्ठभूमि और दृष्टिकोण एक नहीं है इसलिए धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र का और अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का समर्थन नहीं करता। किंतु धर्म और धन– दोनों का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध होता है, इसलिए जीवन के कुछ बिन्दुओं पर उनका संगम होता है, वे एक–दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। भगवान् महावीर ने कहा– 'इच्छाओं को संतोष से जीतो।' अग्नि में ईंधन डालकर उसे बुझाया नहीं जा सकता, वैसे ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा इच्छाओं को संतुष्ट नहीं किया जा सकता। आवश्यकताओं की वृद्धि, वस्तुओं की वृद्धि, उत्पादन और श्रम की वृद्धि में योग देती है। किंतु सुख और शांति में योग देती है– यह मान्यता भ्रांतिपूर्ण है। आवश्यकताओं की वृद्धि से जीवन का स्तर उन्नत होता है, किंतु सुख और शांति का स्तर उन्नत होता है– यह नहीं माना जा सकता।

3- bPNk ifjek.k dh lhek&j[kk

धार्मिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक होने के कारण वह अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओं को नहीं छोड़ पाता। महावीर ने गृहस्थ को उनके त्याग का निर्देश नहीं दिया। विलासिता कोटि की आवश्यकताएं धार्मिक को छोड़नी चाहिए– इस आधार पर 'इच्छा–परिमाण' की सीमा–रेखा खींची जा सकती है।अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए विलासिता कोटि की आवश्यकताओं और इच्छाओं का संयम करना आवश्यक है। इसमें आर्थिक विकास और उन्नत जीवन–स्तर की संभावनाओं का द्वार बंद भी नहीं है तथा विलासिता के आधार पर होने वाली आर्थिक प्रगति और उन्नत जीवन–स्तर का द्वार खुला भी नहीं है।

अर्थशास्त्र के अनुसार अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की सीमा इस प्रकार है– सुख–दुःख के आधार के अनुसार आवश्यकताओं का वर्गीकरण इस बात से निर्धारित होता है कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को सुख मिलता है या उपभोग न करने से उसे दुःख होता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को थोड़ा–सा सुख मिलता है और उपभोग न करने से बहुत दुःख का अनुभव होता है तब ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेंगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग के मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परंतु उसका उपभोग न करने से थोड़ा–सा दुःख होता है तब ऐसी वस्तु को हम सुविधा कहेंगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परंतु उसका उपभोग न करने से दुःख नहीं होता तब उसको विलासिता की वस्तु कहते हैं। यदि किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख मिलता है तथा उपभोग न करने से बहुत कष्ट होता है तब उसको धनोत्सर्गिक वस्तु कहते हैं।'

सुख–दुःख के आधार पर आवश्यकताओं के इस वर्गीकरण को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

oLrq,a	oLrq dk mi Hkksx dju ij	oLrq dk mi Hkksx u dju ij
अनिवार्यताएं	थोड़ा–सा सुख मिलता है।	बहुत दुःख होता है।
सुखदायक वस्तुएं (सुविधाएं)	कुछ अधिक सुख मिलता है।	थोड़ा दुःख होता है।
विलासिताएं	बहुत सुख मिलता है।	दुःख नहीं होता।

अर्थशास्त्री की दृष्टि में नैतिकता और शांति– ये सब गौण होते हैं। उसके सामने मुख्य प्रष्न आर्थिक प्रगति के द्वारा मानवीय कल्याण का होता है। इस आधार पर वह विलासिता का समर्थन करता है और आर्थिक प्रगति के लिए उसे आवश्यक मानता है। धर्म–गुरु की दृष्टि में आर्थिक प्रगति का प्रश्न गौण होता है, नैतिकता और शांति का प्रश्न मुख्य होता है।

धर्म–गुरु सामाजिक व्यक्ति को धर्म में दीक्षित करता है, इसलिए वह उसकी आर्थिक अपेक्षाओं की सर्वथा अपेक्षा कर उसके लिए अपरिग्रह के नियमों की संरचना नहीं कर सकता। इस आधार पर 'इच्छा–परिमाण' व्रत के परिपार्श्व में महावीर ने इन नैतिक नियमों का निर्देश दिया–

- झूठा तोल–माप न करना।

- मिलावट न करना।
- असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न बेचना।

समाज के संदर्भ में इच्छा–परिमाण के नियामक तत्त्व दो हैं– प्रामाणिकता और करुणा। व्यक्ति के संदर्भ में उसका नियामक तत्त्व है– संयम। झूठा तोल–माप आदि न करने के पीछे प्रामाणिकता और करुणा है। व्यक्तिगत उपभोग कम करने के पीछे संयम की प्रेरणा है। महावीर के व्रती श्रावक अर्थार्जन में अप्रमाणिक साधनों का प्रयोग नहीं करते थे और व्यक्तिगत जीवन की सीमा रखते थे। धन के अर्जन में प्रामाणिक साधनों का उपयोग न करना, संग्रह की निश्चित सीमा करना और व्यक्तिगत उपभोग का संयम करना– ये तीनों मिलकर 'इच्छा–परिमाण' व्रत का निर्माण करते हैं।

4- vko';drk&of)

अर्थशास्त्र में आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकता बढ़ाने का सिद्धान्त है। कुछ अर्थशास्त्री इसका मुक्त समर्थन करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री इसके मुक्त समर्थन के पक्ष में नहीं हैं। आवश्यकताओं को बढ़ाने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं–

- आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य को अधिकतम सुख या संतोष प्राप्त होता है।
- आवश्यकताओं की वृद्धि सभ्यता के विकास और जीवन स्तर की उन्नति में सहायक होती है।
- आवश्यकताओं की वृद्धि से, धन से उत्पादन में वृद्धि होती है।
- आवश्यकताओं की वृद्धि से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है फलतः वह राज्य सैनिक दृष्टिकोण से सशक्त और अपनी रक्षा में आत्मनिर्भर हो जाता है।

आवश्यकता को बढ़ाने के विपक्ष में तर्क–

- आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य दुःख–क्लेश का अनुभव करता है।
- आवश्यकताओं की वृद्धि और फिर उसकी संतुष्टि के लिए निरंतर प्रयत्न मनुष्य को भौतिकवादी बनाता है।
- आवश्यकताओं की वृद्धि से समाज में वर्ग–संघर्ष हो जाता है।
- आवश्यकताओं की वृद्धि से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है और वह अधिक धन कमाने के लिए अप्रामाणिक साधनों का प्रयोग करता है।

अनेकान्त की दृष्टि से मीमांसा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यांश दोनों के मध्य में है। आवश्यकताओं की अत्यन्त कमी में सामाजिक उन्नति नहीं होती– यह अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मिथ्या नहीं है तो आवश्यकताओं की अत्यन्त वृद्धि होने पर दुःख या क्लेश बढ़ता है, यह दृष्टिकोण भी मिथ्या नहीं है। इस दूसरे दृष्टिकोण को धर्म का समर्थन भी प्राप्त है। अर्थशास्त्र का समर्थन इसलिए प्राप्त है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण का शास्त्र है और इसका मुख्य उद्देश्य मानवीय कल्याण में वृद्धि करना है। सीमित साधनों में असीमित आवश्यकताओं की संतुष्टि का पथ प्रदर्शित करना अर्थशास्त्र का कार्य है किंतु जिस अनुपात में आवश्यकताओं की वृद्धि की जा सकती है उसी अनुपात में उनकी संतुष्टि नहीं की जा सकती। अधिकांश लोग अपनी तीव्र आवश्यकताओं की संतुष्टि कर पाते हैं। मध्यम आवश्यकताओं की संतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते हैं। मंद आवश्यकताओं की संतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते हैं।

इस क्रम के साथ महावीर के दृष्टिकोण– 'लाभ से लोभ बढ़ता है'– का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओं की वृद्धि के क्रम में कुछ आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है, किंतु उनकी वृद्धि के साथ उभरने वाले मानसिक असंतोष और अशांति की चिकित्सा नहीं की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शांति की आहुति नहीं दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य समाज को मानसिक तनाव, पागलपन, क्रूरता, शोषण, आक्रमण और उच्छृंखल प्रवृत्तियों से बचाना इष्ट है तो यह अनिवार्यता और अधिक तीव्र हो जाती है। इसी अनिवार्यता की अनुभूति करके ही महावीर ने समाज के सामने 'इच्छा–परिमाण' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस आदर्श में अनिवार्यताओं और सुविधाओं को छोड़ने की शर्त हीं है और विलासितापूर्ण आवश्यकताओं की परम्परा को चालू रखने की स्वीकृति भी नहीं है।

5- bPNk&ifjek.k rFkk mi Hkkx

'इच्छा–परिमाण' के सिद्धान्त की अर्थशास्त्रीय आवश्यकता–वृद्धि के सिद्धान्त से मौलिक भिन्नता दो विषयों की है। पहली भिन्नता यह है– अर्थशास्त्र विलासिताओं के उपभोग का समर्थन करता है। उसके समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं–

- विलासिताओं के उपभोग से सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।
- कर्मशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।
- जीवन–स्तर ऊंचा होता है।
- धन संग्रह होता है। संकट के समय वह सहायक सिद्ध होता है।
- कला–कौशल, कारीगरी तथा उद्योग–धंधों को प्रोत्साहन मिलता है।

सब अर्थशास्त्री इन विलासिताओं के उपभोग के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। उनका दृष्टिकोण यह है कि विलासिताओं के उपभोग से–

- वर्ग–विषमता बढ़ती है।
- उत्पादन–कार्यों के लिए पूंजी की कमी हो जाती है।
- निर्धन वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, द्वेष तथा घृणा की वृद्धि होती है।

विलासिता के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण के भिन्न नहीं है, किंतु विलासिता के समर्थन का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है।दूसरी भिन्नता यह है कि अर्थशास्त्र के नैतिक नियमों की अनिवार्यता स्वीकृत नहीं है। नैतिक नियमों की अवहेलना उसका उद्देश्य नहीं है, किंतु यह उसकी प्रकृति का प्रश्न है। उसकी प्रकृति उपयोगिता है। उपयोगिता का अर्थ है– आवश्यकता को संतुष्ट करने की क्षमता। नैतिक नियम के अनुसार शराब मनुष्य के लिए लाभदायी नहीं है, इसलिए वह उपयोगी भी नहीं है। वही वस्तु उपयोगी हो सकती है, जो लाभदायी हो। जो प्रवृत्तिकाल और परिणाम–काल– दोनों में सुखद न हो, वह लाभदायक नहीं हो सकती और जो लाभदायक नहीं हो सकती, वह उपयोगी नहीं हो सकती।

अर्थशास्त्र में उपयोगिता की परिभाषा नैतिकता की परिभाषा से भिन्न है। उसमें उपयोगिता के साथ लाभदायिकता का अनुबंध नहीं है। आवश्यकता को संतुष्ट करने वाली वस्तु लाभदायी न होने पर भी उपयोगी हो सकत है। मद्यपान मद्य रूप में हानिकारक है किंतु मद्य में मद्यप के लिए एक उपयोगिता है। मद्यप मद्य की

आवश्यकता का अनुभव करता है और मद्य उसकी आवश्यकता को संतुष्ट करता है। प्रो. रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक विषयों का अध्ययन किया जाता है, जिसका मानवीय कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। मद्य पीने से मनुष्य के कल्याण अथवा सुख में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती, प्रत्युत कमी होने की संभावना है। फिर भी मद्य–उद्योग का अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है, क्योंकि मद्य–निर्माण एक आर्थिक कार्य है और अनेक व्यक्ति इस उद्योग से अपनी आजीविका कमाते हैं।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण का यह अंतर उसकी प्रकृति का अंतर है। दोनों की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है–

- नैतिक नियम मनुष्य के सामने जीवन का आदर्श प्रसतुत करते हैं। आर्थिक नियम मानवीय आचरण के आर्थिक पहलुओं का अध्ययन करते हैं।
- नैतिक नियमों की अवहेलना करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि नहीं होती है। आर्थिक नियमों का अतिक्रमण करने पर आत्मग्लानि नहीं होती।
- नैतिक नियमों का पालन करने पर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्थिक नियमों का पालन करने पर आर्थिक उन्नति होती है।

6- uhfr'kkL= vkj vFk'kkL=

अर्थशास्त्र में नैतिकता के लिए सर्वथा अवकाश नहीं है ऐसी बात नहीं है। ईमानदारी, निष्कपटता आदि गुणों को कार्य–कुशलता का निर्धारण करने वाले तत्त्वों के रूप में स्वीकार करने वाले अर्थशास्त्री नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र– ये दोनों समाजशास्त्र के ही अंग हैं। इन दोनों में मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र में मानवीय व्यवहार के आर्थिक पहलू का और नीतिशास्त्र में उसके आदर्शात्मक पहलू का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र आदर्श प्रस्तुत करता है। वह हमें बताता है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। नीतिशास्त्र उचित और अनुचित में भेद करने का आदेश देता है और हमें बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्री आर्थिक निर्णय सुनाते तथा व्यवस्था देते समय नीतिशास्त्र के निर्देशों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ डॉ. मार्शल ने सदाचार के आधार पर अपनी 'उत्पादक श्रम' की धारणा से वेश्यावृत्ति को बाहर निकाल दिया। जैसा कि प्रो. सैलिगमैन ने कहा है– 'सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामतः सदाचारिक होनी चाहिए।' इस प्रकार अर्थशास्त्री आर्थिक नीति के निर्माण में नीतिशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर पाता।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक परिस्थितियां मनुश्य के चरित्र तथा आचार–विचार पर गहरा प्रभाव डालती है। अमुक व्यक्ति का आचार कैसा होगा, यह इस बात से निश्चित होता है कि वह अपनी आजीविका कैसे कमाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में घनिश्ठ सम्बन्ध है।

7- bPNk ifjek.k dk fu"d"k

'इच्छा–परिमाण' के निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

- न गरीबी और न विलासिता का जीवन।

- धन आवश्यकता–पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नहीं है।
- आवश्यकता की संतुष्टि के लिए धन का अर्जन किंतु दूसरों को हानि पहुंचाकर अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न।
- आवश्यकताओं, सुख–सुविधाओं और उनकी संतुष्टि के साधनभूत धन–संग्रह की सीमा का निर्धारण।
- धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर संगृहीत धन में अनासक्ति का विकास।
- धन के संतुष्टि–गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिन्तन।
- विसर्जन की क्षमता का विकास।

8- bPNkvh dk fl)kUr

प्रो. जे.के. मेहता ने अर्थशास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र के संबंध में एक दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक Studies in Advance Economic Theory में अपने इच्छाविहीनता अथवा आवश्यकविहीनता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मेहता ने इस सिद्धान्त को पाश्चात्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के विरोध में विकसित किया। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मानना था– अधिकतम संतुष्टि ही मानवीय व्यवहार का अन्तिम लक्ष्य है तथा इस अन्तिम लक्ष्य को मानवीय इच्छाओं के साधन से प्राप्त किया जा सकता है। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि अधिकतम संतुष्टि केवल तभी संभव है जब दिए गये संसाधनों के माध्यम से अधिकतम इच्छाओं की संतुष्टि की जा सके। प्रो. मेहता ने इस मान्यता को चुनौती देते हुए कहा– अधिकतम संतुष्टि की स्थिति का मांगों अथवा इच्छाओं के साथ निश्चित रूप से कोई सुसंगत संबंध नहीं है। उनका मानना था– मांगों या इच्छाओं के अधिकतम होने पर ही अधिकतम संतुष्टि प्राप्त होती है, यह आवश्यक नहीं मेहता ने इच्छाओं की प्रकृति एवम् इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाली संतुष्टि को विश्लेषित कर पाश्चात्यअर्थशास्त्र की इस धारणा का खण्डन किया कि अधिक मांगों से अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है। मेहता ने इच्छाओं के न्यूनीकरण पर बल दिया है।

प्रो. मेहता के अनुसार उपयोगिता की अधिकतम अवस्था में होने का तात्पर्य है– दुःख और भावनाओं का न्यूनतम होना। चूँकि सभी इच्छाओं की पूर्ति नहीं की जा सकती, अतः कुछ त्वरित इच्छाओं या आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए चुनना पड़ता है। विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाली संतुष्टि उन इच्छाओं या आवश्यकताओं की प्रकृति एवं उनकी बारम्बारता पर निर्भर करती है। इच्छाओं का चुनाव संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर किया जाता है। इच्छाओं के क्रम में किसी इच्छा का निर्धारण इस आशा पर निर्भर करता है कि उनसे कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है। इस विचार को ध्यान में रखते हुए मेहता ने अर्थशास्त्र को मानवीय व्यवहार के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया। यह भी तथ्य है कि इच्छाओं के विलोपन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता प्रत्येक स्थिति में इच्छाओं की जागरूकता के कारण उत्पन्न होने वाले दुःख के बराबर होती है। मेहता के अनुसार उपयोगिता केवल दुःख के विलोपन पर ही निर्भर करती है। चूँकि इच्छाओं की संतुष्टि स्थायी रूप से संभव नहीं है अतएव दुःख का न्यूनतम अवस्था में शून्य तक पहुँचना सम्भव नहीं है।

प्रो. मेहता ने कहा– अन्य इच्छाओं की संतुष्टि की प्रक्रिया के दौरान ही नयी इच्छाओं का जन्म हो जाता है। अतः उपयोगिता या संतुष्टि का अन्तिम उद्देश्य यही है कि बढ़ी हुई भावनाओं को कम करने के

प्रयास किये जाएं। यदि कोई व्यक्ति भावनाओं से मुक्ति पाना चाहता है तो मात्र इच्छाओं की संतुष्टि कर लेना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे यह भी निर्धारित करना होगा कि भविष्य में कोई नयी इच्छा उत्पन्न न हो। अतः एक अदूरदर्शी व्यक्ति के लिए अर्थशास्त्र उस प्रकार के मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है जो निश्चित परिस्थितियों में अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सके तथा एक दूरदर्शी व्यक्ति के लिए अर्थशास्त्र उस मानवीय व्यवहार का अध्ययन है जिनका सम्बन्ध दुःख को न्यूनतम करने अथवा इच्छाओं से मुक्त होने में हो। दूसरे शब्दों में अर्थशास्त्र की प्रकृति एवम् क्षेत्र व्यक्ति दर व्यक्ति बदलता रहता है। यह परिवर्तन विभिन्न व्यक्तियों के मानवीय व्यवहार के उद्देश्यों या लक्ष्यो की भिन्नता के कारण होता है, यद्यपि इनमें कोई आधारभूत अन्तर नहीं होता। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कुछ व्यक्ति त्वरित परिणामों पर ज्यादा ध्यान देते हैं, जबकि कुछ अन्य व्यक्ति अन्तिम परिणाम पर ध्यान देते हैं। प्रोफेसर मेहता के अनुसार– मानवीय गतिविधियों का वास्तविक अन्त इच्छाविहीनता की स्थिति में पहुँचने में ही निहित है। किसी अन्य प्रकार से इच्छाओं से पूर्ण मुक्ति अथवा दुःख के पूर्ण अभाव की स्थिति पाना संभव नहीं है। यह तथ्य अर्थशास्त्र को एक ऐसा विज्ञान बना देता है जो मानवीय व्यवहार का अध्ययन इच्छाविहीनता की अवस्था में पहुँचने के प्रयास के रूप में करता है।मेहता के इस कथन से स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्र, परम सुख की प्राप्ति के लिए सभी विवेकी मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करता है। यह परम सुख आत्मा को इच्छाओं की दासता से मुक्त कराने पर ही प्राप्त हो सकता है। मेहता के अनुसार यही अर्थशास्त्र का क्षेत्र है। यह स्पष्ट है कि प्रोफेसर मेहता के आर्थिक चिन्तन में इच्छाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।अतः उनके द्वारा इच्छाओं के सम्बन्ध में किया गया विविध विश्लेषण जानना समीचीन होगा।

यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक है कि प्रोफेसर मेहता ने अपने आर्थिक विचारों में ''इच्छा'' और ''आवश्यकता'' को समानार्थक माना है इसलिए उनके महत्वपूर्ण आर्थिक सिद्धान्त ''इच्छाविहीनता'' के सिद्धान्त को ''आवश्यकविहीनता'' का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

8-1 bPNkv¨ dh voèkkj.kk

इच्छाएं मानवीय व्यवहार का एक अभिन्न अंग हैं जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य साधनोंके प्रयोग का सहारा लेता है। कुण्डू एवं टूटू (Kundu and Tutoo) ने इच्छाओं को परिभाषित करते हुए लिखा है– इच्छा आवश्यकता से घनिष्ठतः सम्बन्धित है तथा वह किसी प्रकार की आवश्यकता होने की परिचायक है। व्यक्ति की आवश्यकताएं उसके व्यवहार के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं।एच. डब्ल्यू. बरनार्ड के अनुसार– मानवीय आवश्यकताएं ठीक वही हैं जैसा कि शब्दकोश में लिखा गया है, वे अत्यन्त आवश्यक हैं और उनकी पूर्ति भी अतिशीघ्र आवश्यक होती है। स्पष्ट है कि इच्छा और आवश्यकता अन्तःसंबंधित हैं। वे एक–दूसरे से पृथक नहीं हैं बल्कि अन्तर्निर्भर हैं क्योंकि वे गतिशील शक्तियाँ हैं। इस संदर्भ में मुरे का यह कथन उल्लेखनीय है कि आवश्यकता एक परिकल्पित शक्ति (Hyphothetical Force) है जोव्यक्ति के प्रत्यक्षरण (Perception), बुद्धि (Intelligence) तथा क्रिया (Action) को संगठितकरने का कार्य करती है। अतृप्त आवश्यकताएँ व्यक्ति को कार्य करने हेतु प्रेरित करती हैं जोसंतुष्टि की उपलब्धि तक बनी रहती हैं। अर्थशास्त्र के संदर्भ में इच्छाओं को क्षमता अथवा कुशलता प्रदान करने वाली शक्ति (Efficiency, Yeilding Power) के रूप में सामान्यतः जाना जाता है। इच्छाओं का यह स्वरूप एक आर्थिक व्यक्ति की सम्पूर्ण गतिविधियों को अपने में समाहित कर लेता है। इच्छाओं से प्रेरित होकर ही व्यक्ति अपने कार्यों और प्रयासों को कुशलता प्रदान करता है, धन–सम्पदा का अर्जन करता है तथा इच्छाओं को और आगे बढ़ाता है। यह प्रक्रिया अधिक उत्पादन को अधिक उपभोग के द्वारा बढ़ावा देती

है। निस्संदेह रूप से उत्पादन इच्छाओं को बढ़ाता है और बढ़ी हुई इच्छाओं की पूर्ति उपभोग के द्वारा की जाती है।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार– इच्छा, इच्छा करने वाले व्यक्ति में किसी वस्तु की भौतिक अनुपस्थिति प्रदर्षित करती है तथा इच्छा करने वाले व्यक्ति के मन में उस वस्तु के प्रति मनोवैज्ञानिक लगाव व्यक्ति की अपूर्णता से जन्म लेता है।'इच्छा एक दुःखदायी अनुभव है'– इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति इसे संतुष्ट करना चाहता है तथा जितना जल्दी हो सके इससे मुक्ति पाना चाहता है। जब तक इच्छाएं असंतुष्ट रहती हैं, तब तक दुःख का अनुभव होता रहता है, अतः इच्छाओं के विलोपन का अर्थ दर्द का विलोपन कर सुख की प्राप्ति करना है। और यह सुख वैसा ही है जैसे की संतुष्टि या उपयोगिता होती है।

कभी–कभी व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा को तब तक अनुभव नहीं कर पाता जब तक कि वह उसे देख न ले, उस वस्तु का अनुभव न कर ले अथवा उसे प्राप्त न कर ले। यदि किसी वस्तु की प्राप्ति से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है तो यह सिद्ध हो जाता है कि उस वस्तु की इच्छा निश्चित रूप से विद्यमान थी। यद्यपि यह इच्छा चेतन रूप से व्यक्ति द्वारा अनुभव नहीं की जाती है। एक व्यक्ति किसी इच्छा के प्रति चेतना का अनुभव तभी करता है जब उसे कुछ दुःख की अनुभूति होती है। ऐसा होने पर व्यक्ति अपनी असंतुष्ट इच्छाओं के लिए दुःख को झेलता है। यद्यपि यह आवश्यक है कि वस्तु की प्राप्ति, उस व्यक्ति को भौतिक सुख अवश्य देती है, जो व्यक्ति उस वस्तु की इच्छा करता है लेकिन यह जरूरी नहीं है कि उस वस्तु की अनुपस्थिति सदैव दुःखदायी हो।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार– जब मस्तिष्क किसी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करता है तब तुरन्त किसी इच्छा का अनुभव होता है और इसके बाद इच्छा ही संतुष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। लेकिन किसी उत्तेजना विशेष के प्रति व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर की प्रतिक्रिया, परिस्थितियों की भिन्नता के कारण अलग–अलग होती है और इन पर व्यक्ति का नियंत्रण आंशिक होता है।प्रतिक्रिया के तीव्र होने पर उत्तेजना के फलस्वरूप जिस इच्छा की उत्पत्ति होती है तब सामान्यतः संसाधनों का प्रयोग व्यापक रूप में होता है। जिस क्रम में इच्छाओं या आवश्यकताओं की संतुष्टि की जाती है, वह इच्छाओं की तीव्रता एवम् समय विशेष पर उसकी जरूरत के आधार पर निर्धारित होता है। अतः यह कहा जाता है कि व्यक्ति की इच्छाएँ उसके स्वयं के द्वारा नियंत्रित होती हैं और उसकी समय विशेष पर जरूरत का स्तर आंशिक रूप से बाह्य ताकतों पर निर्भर करता है। व्यक्ति की इच्छा जब अत्यधिक तीव्रता से अनुभव की जाती है तब अत्यधिक दुःख का अनुभव होता है और वह दुःख इच्छाओं के संतुष्ट होने पर प्राप्त होने वाले सुख के बराबर होता है। किसी इच्छा का दुःख पूर्व में किसी ऐसी ही इच्छा की संतुष्टि से प्राप्त हुए सुख के बराबर होता है। अतः यह कहा जाता है कि इच्छाओं से प्राप्त होने वाली अपेक्षित संतुष्टि अथवा उपयोगिता उस इच्छा के दुःख को निर्धारित करती है और यही दुःख की स्थिति इच्छाओं की तीव्रता और अत्यावश्यकता को निर्धारित करती है।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार व्यक्ति को यह प्रयास करते रहना चाहिए कि वह स्वयं को इच्छाओं की दासता से मुक्त करे। जब व्यक्ति विशेष इच्छा का अनुभव करता है तो वह उसे अच्छे या बुरे किसी भी तरीके से संतुष्ट करना चाहता है, जो कि उचित नहीं है। इससे उस व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह अन्य किसी इच्छा को अनुभव नहीं कर पाता। कभी–कभी यह तर्क दिया जाता है कि एक गरीब व्यक्ति उतनी ही इच्छाएँ रखता है जितनी की एक अमीर व्यक्ति और तथ्य यह है कि गरीब व्यक्ति के निम्न जीवन

स्तर की स्थिति यह संकेत नहीं करती कि वह व्यक्ति एक अच्छे जीवन स्तर की कामना नहीं करता। मेहता के अनुसार यह सही नहीं है। एक अमीर व्यक्ति के मन में भी गरीब व्यक्ति की तरह अपना जीवन स्तर और ऊँचा उठाने की इच्छा होती है।

8-2 bPNkv¨ dh çÑfr

प्रोफेसर मेहता के अनुसार अर्थशास्त्र में जिस मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है वह मानव मस्तिष्क की असाम्यवस्था का प्रकटीकरण है। जब भी मानवीय मस्तिष्क बाहरी ताकतों से अस्त व्यस्त हो जाता है तो मस्तिष्क में असंतोश की स्थिति उत्पन्न होती है। जब मस्तिष्क किसी बाह्य उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया नहीं करता, तब वह मस्तिष्क की पूर्ण संतोष और साम्यावस्था की स्थिति कही जाती है और मानवीय मस्तिष्क सदैव इसी संतोष की स्थिति प्राप्त करना चाहता है। यदि मस्तिष्क असंतोष की स्थिति में है अथवा असाम्यवस्था है तो यह दुःख की स्थिति है। जब व्यक्ति धीरे–धीरे साम्यवस्था की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो वह सुख की स्थिति होती है। अतः आर्थिक व्यवहार का उद्देश्य एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करना होता है जहाँ कोई इच्छा ना हो। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मानवीय मस्तिष्क असंतोष की स्थिति में क्यों होता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को बहुत सी वस्तुओं की इच्छा होती है। व्यक्ति वस्तुओं को इसलिए प्राप्त करना चाहता है क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाएं (वस्तुएं नहीं) व्यक्ति को सुख प्रदान करती हैं और दुःख को समाप्त करती हैं। अतः जब कभी कोई व्यक्ति किसी वस्तु के उपलब्ध होने पर संतुष्टि प्राप्त करता है, तो यह कहा जाता है उसे उस वस्तु या पदार्थ की आवश्यकता थी। इच्छाओं की संतुष्टि का तात्पर्य इच्छाओं की समाप्ति से है।

यहां यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इच्छाओं की संतुष्टि अन्य और इच्छाओं को जन्म देती हैं। ये अन्य इच्छाएँ या तो अचेतन इच्छाओं के चेतन इच्छाओं में परिवर्तित होने पर या अन्य उत्तेजनाओं की परिस्थितियों में जहाँ वे नए तरीके से प्रतिक्रिया करती हैं, वहां उत्पन्न होती हैं। निश्चित ही यह सत्य है कि इच्छाएं गतिविधियों को जन्म देती हैं तथा जितनी अधिक इच्छाएँ होती हैं, उतनी ही ज्यादा व्यक्ति आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करता है। इच्छाओं की अधिकता आर्थिक गतिविधियों को अधिकतम कर देती है जिससे पूँजी का उत्पादन बहुतायत में होता है। लेकिन यह भी सत्य है कि एक इच्छा की पूर्ति से जो परिणाम प्राप्त होता है वह अन्य इच्छाओं को बढ़ा देता है। उदाहरण के लिए इच्छाओं की संतुष्टि से प्राप्त होने वाला प्रतिफल की दर से बढ़ता है तो उस स्थिति में इच्छाओं की यह वृद्धि kx होगी (यहां k एक पूर्ण संख्या है)। इच्छाओं की यह वृद्धि उनकी अपूर्ति से होने वाले दुःख और इच्छाओं की पूर्ण समाप्ति के अन्तर को बढ़ा देती है।

अतः सतही दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि दुःख का पूर्ण उन्मूलन असंभव है किन्तु वास्तविकता में ऐसा नहीं होता है। यद्यपि यह सही है कि जिस व्यक्ति की बहुत सी इच्छाएं संतुष्ट करने के लिए होती हैं तो उसका दुःख भी बहुत होता है तथा जिस व्यक्ति की इच्छाएँ कम होती हैं तो उसका दुःख भी कम होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन दोनों ही स्थितियों में दुःख का पूर्ण विलोपन नहीं किया जा सकता। चूँकि इच्छाओं से ही दुःख उत्पन्न होता है और जितनी कम इच्छाएँ होती हैं, उतना ही कम दुःख होता है। साथ ही यह भी सत्य है कि एक इच्छा की पूर्ति से अन्य इच्छाओं की वृद्धि होती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयास करे कि उसकी इच्छाएँ कम से कम हों, ताकि दुःख कम हो और संतुष्टि का स्तर बढ़ता रहे।

8-3 bPNkvªk dk çdkj

इच्छाओं के स्वरूप को समझने के लिए उसके विभिन्न प्रकारों को जानना समीचीन होगा। अनेक आधारों पर विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने इच्छाओं को वर्गीकृत किया है। स्टीफन्स के अनुसार इच्छाओं के निम्न प्रकार है–

(i) शारीरिक आवश्यकताएं– जैसे श्वास में ऑक्सीजन, भोजन, जल, विश्राम, निद्रा, यौन सुख, मल–मूत्र त्याग क्रिया करने आदि की शारीरिक इच्छा या आवश्यकता।

(ii) सामाजिक आवश्यकताएं– ये व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों की सूचक है। जैसे व्यक्तियों की मिल–बैठने की, अपने प्रति अन्य लोगों के उत्तम मत की, दूसरों पर प्रभुत्व जमाने या प्रभाव डालने की, कष्ट पीड़ित लोगों की सहायता करने की, प्रतिकार करने की आदि इच्छाएं।

(iii) हस्तादि प्रयोग अथवा अन्वेषण की आवश्यकता अर्थात् रोचक परिणाम की आशा में जानवरों व मनुष्यों पर प्रयोग करने की इच्छा।

(iv) अहम् की इच्छा अर्थात् व्यक्ति यथार्थ में किस प्रकार का है अथवा वह कैसा बन सकता है – इस प्रकार अपने यथार्थ अहम् की आदर्शात्मक कल्पना करने की इच्छा।

(v) उपलब्धि की आवश्यकता – यह अहम् की इच्छा से ही सम्बन्धित है जिसका अर्थ है उपलब्धि द्वारा संतुष्टि की इच्छा।

(vi) सुरक्षा की आवश्यकता– जो आवश्यकताएं भय या संकट के साथ सम्बद्ध होती है वे प्रायः सुरक्षा की आवश्यकता के साथ सहचरी होती है। यह भयावह स्थिति से बचने की इच्छा है।

स्टीफन्स का कहना है कि इच्छाओं की सूचियाँ केवल उदाहरणार्थ ही होती हैं, वस्तुतः इनकी संख्या सदैव अपूर्ण रहेगी तथा इनमें परस्पर सम्बद्धता रहेगी। प्रत्येक इच्छा की कोई सहचरी इच्छा अवश्य होती है।

सोरेन्स ने इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है–

(i) शारीरिक आवश्यकताएं – इसके अन्तर्गत पूर्वोल्लिखित सभी दैनिक आवश्यकताएं होती हैं तथा जिसकी सहचरी इच्छा जीवित रहना है। यह आत्म सुरक्षा की मूल प्रवृत्ति है जो अनेक क्रियाओं की अभिप्रेरक बनती है।

(ii) व्यक्तिगत महत्व की भावना – आत्म महत्व, या व्यक्तिगत महत्व की आवश्यकता तथा इसके नकारात्मक पक्ष 'अयोग्यता व हीनता की भावना' से बचने की इच्छा इसे प्रेरित करती है। इस आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति से आत्म संतुष्टि, गौरव व प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है।

(iii) सामाजिक सम्पर्क की इच्छा के अन्तर्गत मित्रता, विवाह, सामाजिक, क्रियाकलाप, व्यवसायिक क्रियाएं आदि होती हैं।

(iv) क्रियाशीलता व उत्तेजना की इच्छा सभी बौद्धिक, साहित्यिक, कलात्मक एवम् अनुरंजनात्मक मानव क्रिया कलापों की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

(v) स्वतंत्रता की इच्छा पूर्ति अपरिहार्य है किन्तु यह स्वतंत्रता अनियन्त्रित नहीं होती। स्वनिर्मित नियमों के अन्तर्गत स्वानुशासन द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति होती है।

(vi) यौन भावना की इच्छा किशोरावस्था में परिपक्वता आने पर प्रकट होती है।

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त भी अन्य कई आधारों पर इच्छाओं को वर्गीकृत कर उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

8-3-1 pru voj vpru bPNk,

प्रोफेसर मेहता ने आर्थिक संदर्भ में इच्छाओं को कई आधारों पर वर्गीकृत किया है। उनके अनुसार एक व्यक्ति की इच्छा को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है–चेतन अथवा जागृत इच्छा तथा अचेतन अथवा अजागृत इच्छा।चेतन इच्छा को व्यक्ति अनुभव करता है तथा अचेतन इच्छाओं के प्रति व्यक्ति की कोई अनुभूति नहीं होती है। अचेतन इच्छाओं की उत्पत्ति चेतन अवस्था में किसी निश्चित उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करने के परिणामस्वरूप होती है। अचेतन इच्छाएं एक निश्चित दिशा में अग्रसर होकर चेतन इच्छाओं में परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए किसी हास्यास्पद स्थिति के उत्पन्न होने पर व्यक्ति हंसता है क्योंकि इससे उसकी हंसने की इच्छा की पूर्ति होती है। लेकिन जब तक हास्यास्पद स्थिति व्यक्ति के सम्मुख नहीं आती तब तक वह ऐसी इच्छा के प्रति जागृत नहीं होता। मेहता के अनुसार अचेतन इच्छाएँ सीधे रूप में व्यक्ति को किसी भी गतिविधि के लिए प्रेरित नहीं करती है। लेकिन उपभोग की गतिविधि में इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि अचेतन इच्छाओं की संतुष्टि के समय अन्य अचेतन इच्छाएँ चेतन इच्छाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। अतः यदि जागृत मांगों को ही अध्ययन विषय के लिए पहचाना जाए तो जागृत मांगें अजागृत इच्छाओं को भी अपने साथ ले आती है जिससे अध्ययन की विषय सामग्री पूर्ण हो जाती है। इच्छाएँ अन्य उत्पादक इच्छाओं को जन्म देती हैं, जिन्हें व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक और नैतिक योग्यताएं सहारा देती हैं। आधुनिक बाजार में व्यक्ति की इच्छाएं असीमित हो गयी जो पूंजी निर्माण में सहायक भी बनती है। अतः आर्थिक संतुष्टि एवम् विकास का अन्तिम लक्ष्य सीमाविहीन हो गया है।

8-3-2 orheku ,oa Òfo"; dh bPNk,

प्रोफेसर मेहता ने समय तत्व के आधार पर इच्छाओं को वर्तमान और भविष्य में भी वर्गीकृत किया है। वर्तमान इच्छाएं वे होती हैं, जो संसाधनों की उपलब्धता एवं इच्छाओं को संतुष्ट करने की तत्परता के कारण स्वयं ही संतुष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार की इच्छाओं की संतुष्टि के लिए किसी भी प्रकार के सामूहिक प्रयासों की आवश्यता नहीं होती है। भविष्य की इच्छाओं का सम्बन्ध उन इच्छाओं से होता है जिनका अनुभव व्यक्ति अपने आगामी जीवन के लिए वर्तमान में ही कर लेता है। ऐसी इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति पूर्वयोजना करता है। प्रोफेसर मेहता का मत है– व्यक्ति अपनी भविष्य की इच्छाओं की पूर्ति के लिए पूर्वयोजना बनाता है किन्तु यह भी इच्छाओं को संतुष्ट करने की तत्परता और संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर करती है। अतः वे भविष्य की मांगों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में राज्य की भूमिका का उल्लेख करते हैं। प्रोफेसर मेहता के अनुसार, भविष्य अपने स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले गुण के कारण मानव मस्तिष्क को अपनी ओर खींच लेता है। भविष्यगत इच्छाओं को पहचानने के लिए व्यक्ति में भविष्य को जानने की योग्यता होनी चाहिए, जिसे की बौद्धिक योग्यता कहा जाता है। मेहता का मानना है– व्यक्ति भविष्य के लिए कोई व्यवस्था तभी करता है जब

वह व्यक्ति दूरदर्शी हो अथवा उसमें वर्तमान से परे देखने की क्षमता हो। इस परिस्थिति में यदि दूरदर्शिता का अभाव हो तो उसकी योजनाएं वर्तमान स्थितियों से ही सम्बन्धित होती हैं। अतः ऐसी स्थिति में प्रोफेसर मेहता बाह्य सहायक के रूप में राज्य की उपस्थिति को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार–इच्छाओं का संघर्ष, व्यक्ति की कमजोर दूरदर्शिता, वर्तमान आधारित व्यक्ति का चिन्तन आदि कारण है जो राज्य की भूमिका को और महत्वपूर्ण बना देते हैं।

अतः यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि राज्य स्वयं किन्हीं इच्छाओं को जन्म नहीं देता अपितु यह व्यक्तियों को उनकी भविष्य की इच्छाओं की संतुष्टि के लिए योजना बनाने में सहायता करता है। यदि एक बार राज्य, संसाधनों का आबंटन और प्रयोग व्यक्तियों की अधिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर दे तो व्यक्ति स्वयं यह महसूस करेंगे कि वे स्वस्थ मानसिक अवस्था में है जहाँ उन्हें आराम करने और अपनी संस्कृति व समाज के लिए पर्याप्त समय है। वर्तमान इच्छाओं की संतुष्टि व्यक्ति को नैतिकता के विकास, संस्कृति और विचारों के विकास से मुक्त कर देती है। इससे राज्य विकास की प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब भविष्य की इच्छाएं स्पष्ट रूप से पहले ही देख ली जाती हैं तो व्यक्तियों के व्यक्तिगत प्रयासों को संगठित करके ही भविष्य के लिए उचित योजना बनायी जा सकती है। लेकिन यदि व्यक्ति की दूरदृष्टि कमजोर है तो राज्य सार्वजनिक गतिविधियों को अपने नियंत्रण में लेकर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

8-4 bPNk ,oe miÒ¨x vkj mRiknu

मनुष्य सदैव असाम्यावस्था और असंतुलन की स्थिति को अनुभव करता है। जैविक अस्थिरता एक नियम है। व्यक्ति की आकांक्षाए अधिक से अधिक प्राप्त करने की होती है जो इच्छाओं को द्विगुणित कर उसे उत्तेजना प्रदान करती है। इच्छाओं की द्विगुणिता और उनका विरोधी सम्बन्ध उन पर्याप्त और आवश्यक परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है जिनका सम्बन्ध उपभोग, लागत आदि से होता है।

उत्पादन और उपभोग मानवीय व्यवहार के ऐसे दो गुण हैं जो सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियों पर अपना असर दिखाते हैं। मनुष्य जहां रहता है वह वहां के संसाधनों और पर्यावरण से प्रभावित होता है। उसे बाह्य ताकतों और पर्यावरण का सामना करना होता है जो मनुष्य के अनुकूल भी हो सकते हैं और प्रतिकूल भी। जब व्यक्ति बाह्य ताकतों और परिस्थितियों के प्रति स्वयं को समर्पित कर देता है तो वे अनुकूल रहती हैं और जब वह उनके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो वे प्रतिकूल हो जाती हैं। मानवीय व्यवहार जब बाह्य ताकतों का विरोध करता है तो उसे उत्पादन कहा जाता है क्योंकि यहां इच्छाओं की उपस्थिति रहती है। एक इच्छा को पूर्णतः संतुष्ट किया जा सकता है अथवा इच्छा पर पूर्णतः विजय प्राप्त की जा सकती है। अतः इन दोनों ही स्थितियों में मनुष्य दोप्रकार से व्यवहार करता है जिससे उत्पादन व्यवहार भी दो प्रकार का हो जाता है। अधिकाधिक इच्छाओं को रखने और उन्हें संतुष्ट करने की प्रवृत्ति ने अनावश्यक रूपसे उपभोक्तावाद को जन्म दिया। इससे नवीकृत और अनवीकृत संसाधनों का हनन हुआ है। इस स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए मेहता कहते हैं– बड़ी विपत्तियां वर्तमान के तथाकथित जीवन–स्तर के चमक–धमक के पीछे स्थित होती हैं लेकिन ऐसा कौन है जो इस तथाकथित चमक के पीछे झांककर उसकी बुराइयों को देख सकता है। औद्योगिक तकनीक का अंधाधुध प्रयोग एक सामाजिक बुराई है जिसके खिलाफ पूरी दृढ़ता और संकल्प के साथ लड़ना होगा। जिस गति से मनुष्य के ज्ञान केभण्डार का विकास हो रहा है और जिस तरीके से वह प्रकृति के उपहारों

का दोहन कर रहा है उसने धन के प्रति लगाव को और अधिक बढ़ा दिया है। जब तक विकास की पागल दौड़ का अन्त नहीं होता, जिसमें धन एवम् आरामदेह जीवनशैली सम्मिलित है, तब तक सामाजिक बुराइयों का अन्त किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता। प्रो. मेहता का यह चिन्तन अहिंसा, सत्य एवम् इच्छाविहीनता की स्थिति का द्योतक है।

9- bPNkfoghurk dk fl)kUr

गांधी ने कहा था– The human mind is like a restless bird, the more it gets, themore it wants and still remains unsatisfied. इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य की बढ़ती हुई इच्छाओं और आवश्यकताओं की संतुष्टि संभव नहीं है। प्रोफेसर जे.के. मेहता ने इसी विचार को अपने आर्थिक सिद्धान्तों को आधार बनाया और इच्छाविहीनता अथवा आवश्यकताविहीनता के सिद्धान्त का प्रतिपादित किया। उन्होंने बताया कि वास्तविक सुख इच्छाओं की अधिकता में नहीं वरन् उनके अल्पीकरण में है। मेहता ने इच्छाओं की समस्या को ही आर्थिक समस्या बताया क्योंकि इच्छाओं को कम करने से ही सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए मेहता ने लिखा– अर्थशास्त्र उन मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करता है जो आवश्यकता अथवा इच्छाविहीनता की स्थिति कोप्राप्तकरने के लिए किए जाते हैं।उन्होंने कहा कि मनुष्य उस समय अधिकतम संतुष्टि अथवा सुख प्राप्त कर सकता है जब एक तरफ तो वह संसाधनों का उपयोग सीमान्त उपयोगिता के आधार पर करे तथा दूसरी ओर वह आवश्यकताविहीनता अथवा इच्छाविहीनता की स्थिति में पहुँचने का प्रयास करे। यह भी कहा जा सकता है कि मानवीय व्यवहारों का उद्देश्य साम्यावस्था को प्राप्त करना है। इससे मनुष्य को को यह अनुभव होता है कि इच्छाविहीनताही वह लक्ष्य है जिसे सभी को प्राप्त करना है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार– मनुष्य का जीवन एक प्रयास है, उसे इच्छाओं की दासता से मुक्त कराने का और मोक्ष के अन्तिम सत्य कोप्राप्त करने का। सभी मानवीय व्यवहारों का उद्देश्य इसे समझना ही है।

9-1 vko';drkfoghurk dk Lo:i

प्रोफेसर मेहता ने इच्छाविहीनता के सिद्धान्त का प्रतिपादन पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त के विरोध में किया। उनका मत था कि सुख की प्राप्ति इच्छाओं से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर ही की जा सकती है। इसके लिए मस्तिष्क और शरीर पर पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता होती है। प्रोफेसर मेहता ने इच्छाविहीनता के मूल को स्पष्ट करते हुए लिखा–जब बहुत सारे बाह्य उत्प्रेरक अपना प्रभाव डालते हैं तो कई मामलों में मानवीय मस्तिष्क केलिए यह असंभव हो जाता है कि मस्तिष्क तुरन्त उन उत्प्रेरक तत्वों के अनुरूप कार्य करे या नहीं अथवा उसके आदेशों का पालन करे या नहीं। कुछ उत्प्रेरक मस्तिष्क से किसी विशेष प्रकार के कार्य की इच्छा करते हैं और कुछ ठीक उसके विपरीत कार्य की इच्छा मस्तिष्क से करते हैं। चूँकि इच्छाविहीनता की अवस्था बाह्य उत्प्रेरकों की शक्ति केप्रति समर्पण में निहित होती है अतः विभिन्न विरोधी उत्प्रेरकों के आदेशों के शुद्ध परिणामों को जानना आवश्यक है। ऐसा करना एक महत्वपूर्ण किन्तु दुष्कर कार्य है। ऐसी स्थिति में एक इच्छारहित व्यक्ति को भी निर्णय लेने पड़ते हैं अथवा अपनी पसन्द के चयन को काम में लेना होता है।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार उपरोक्त स्थिति में जब इच्छाओं की संतुष्टि के समय व्यक्ति के चयन या पसंद को ध्यान में न रखा जाए तो उसे अपने अन्तःकरण अथवा आदेशों का पालन करना होता है। मेहता ने यह स्पष्ट किया है कि जब व्यक्ति अपने अंतःकरण अथवा अर्न्तात्मा के अनुसार कार्य करता है तो वह अपनी

इच्छा की संतुष्टि नहीं करता अपितु पर्यावरण की इच्छा को संतुष्ट करता है। जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पर्यावरण के प्रति समर्पित कर देता है अथवा अपनी अर्न्तआत्मा के आदेशों की अनुपालना करता है तो उसे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता और वह सुख की अनुभूति करता है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार यही इच्छाविहीनता अथवा आवश्यकताविहीनता की अवस्था है। संक्षेप में मेहता ने लिखा– जब व्यक्ति कड़ाई से अपने अर्न्तात्मा के आदेशों की अनुपालना करता है तो वह इच्छाविहीनता की अवस्था है। व्यक्ति उस काम को न करे जिसे वह करना चाहता हो अपितु उस काम को करे जिसे उसकी अर्न्तात्मा करने को कहे। स्वयं के द्वारा व्यक्ति संचालित नहो अपितु ब्रह्माण्डीय ताकत के द्वारा संचालित हो। स्वार्थी नहीं, अपितु निःस्वार्थी बने। जब व्यक्ति स्वयं को अपनी अर्न्तात्मा के अनुसार संचालित करता है तो यह कहा जाता है कि वह ब्रह्माण्डीय ताकतों द्वारा संचालित होता है। ये ब्रम्हाण्डीय ताकतें उस परम विशि्ष्ट शक्ति से निकलती हैं जो अपने आप में पूर्ण एवम् सर्वोच्च शक्ति है, जिसका नाम ईश्वर है।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार इच्छाएं मानवीय मस्तिष्क में उत्पन्न होती हैं तथा संतुष्ट न होने के कारण दुःख का कारण बनती हैं। साथ ही उसी समय नयी इच्छाओं का जन्म हो जाता है जो नए दुःख का कारण बनती हैं। इच्छाओं की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सेम्युअलनसन ने लिखा है– प्रत्येक इच्छा आस्तीन के साँप की तरह होती है, जब तक वह शांत रहती हैं तब तक कोई नुकसान नहीं पहुँचाती लेकिन जब ये उत्तेजित हो जाती हैं तो वह व्यक्ति को बेचैन कर देती है।प्रोफेसर मेहता ने कहा– जब एक इच्छा की पूर्ति अथवा संतुष्टि हो जाती है तो वह अपना आकर्षण खो देती है लेकिन और नई इच्छाओं का जन्म होता रहता है। इच्छाएं दर्द का अनुभव है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि व्यक्ति जल्दी से जल्दी इच्छाओं को संतुष्ट कर उनसे मुक्ति पाना चाहता है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यदि इच्छाएं इतनी दर्ददायक न होती तो व्यक्ति उनकी संतुष्टि अथवा निराकरण के लिएबिल्कुल भी चिन्तित नहीं होता। अतः इच्छाओं के निराकरण का तात्पर्य है– दुःख का निराकरण और आनन्द की प्राप्ति और यह आनन्द, संतुष्टि अथवा उपयोगिता एक ही है।

यदि एक व्यक्ति अधिकतम संतुष्टि अथवा अधिकतम उपयोगिता अथवा अधिकतम आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो उसे यह देखना चाहिए कि सारे दर्द का निराकरण हो गया है और भविष्य में किसी भी प्रकार की इच्छा के दर्द का अनुभव नहीं होगा। वस्तुतः इच्छाओं की पूर्ति से अल्पकालीन संतुष्टि प्राप्त होती है क्योंकि नई इच्छाओं के जन्म से नयी चुनौतियाँ तथा नयी अस्थितरता प्राप्त होती है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार अधिकतम संतुष्टि की अवस्था अधिकतम इच्छाओं की अवस्था से पूर्णतः असंगत है तथा वास्तव में इच्छाएं सुख में वृद्धि करने की बजाय उसे कम ही करती है। एल्फ्रेड मार्शल ने आर्थिक गतिविधियों को इच्छाओं की संतुष्टि से सम्बन्धित किया है। मार्शल ने यह भी स्पष्ट किया कि समाज भौतिक पदार्थों से ही विकसित होता है और नई गतिविधियां ही नयी इच्छाओं को जन्म देती हैं। अतः इस दृष्टि से आरम्भिक अवस्था में मार्शल के सिद्धान्त में इच्छाएं गतिविधियों को जन्म देती है और बाद की अवस्था में गतिविधि इच्छाओं को बढ़ाती है। प्रोफेसर मेहता की विचारधारा इससे भिन्नता रखती है। उनके अनुसार अधिकतम संतुष्टि की अवस्था इच्छाओं के न्यूनतम होने पर ही प्राप्त की जा सकता ही है। जब इच्छाओं की पूर्ति के साधन सीमित मात्रा में होते हैं तो ऐसी स्थिति में एक इच्छाअन्य इच्छाओं को बढ़ाती जाती है तो इच्छाओं की संतुष्टि की प्रक्रिया इस स्थिति में किसी अन्य के संसाधनों का अतिक्रमण करने लगती है। यहाँ आर्थिक व्यवहारों की सम्पूर्ण प्रक्रिया का मतलब दूसरे के संसाधनों पर आधिपत्य करने से हो जाता है।

इच्छाविहीनता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर मेहता ने कहा– इच्छाविहीनता न तो न खाने में है, न ही न पीने में है और न ही न कमाने में है। जो कुछ भी आवश्यक है वह यह कि व्यक्ति को अपनी स्वार्थपरता को त्यागना है। जो कुछ भी कमाना है वह स्वयं के प्रयोग के लिए नहीं अपितु उन लोगों के लिए जिसके लिए व्यक्ति की अर्न्तात्मा चाहती है। जीवन में ऐसा इच्छाविहीन दृष्टिकोण न केवल व्यक्ति के स्वयं के सुख को सुरक्षित करता है अपितु व्यक्ति को सामाजिक कल्याण में योगदान देने के योग्य भी बनाती है। इच्छाविहीनता की अवस्था का वर्णन करना जितना आसान होता है, मानव जीवन के लिए उसका व्यवहारिक प्रयोग उतना ही कठिन होता है। मनुष्य को अपने को जीवित रखने केलिए कई चीजों की आवश्यकता होती है। प्रोफेसर मेहता के विचारों का दार्शनिक आधार परदतर्क की दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है। एक सामान्य मनुष्य इच्छाओं का पुलिंदा होता है जो सदैव आनन्द की कामना करता है लेकिन यह आनंद अनेक तत्वों के द्वारा नियंत्रित होता है। अतः तार्किक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छाओं को कम करने केप्रयास करने चाहिए अन्यथा वह भौतिक जगत की अंतहीन दौड़ में दौड़ता ही रहेगा। मेहता का यह तर्क सिद्ध करता है कि यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओं को सीमित नहीं करता तो वे इच्छाएं, संघर्ष और तनाव को बढ़ा देती हैं। अतः इच्छाविहीनता की अवस्था का तात्पर्य इच्छाओं को और न पनपने देना और उन्हें कम करना है।

9-2 lrf"V] l[k vkj vkuUn

प्रोफेसर मेहता के 'अधिकतम संतुष्टि के लक्ष्य' की पूर्ति आवश्यकताओं को न्यूनतम करने से ही प्राप्त की जा सकती है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य संतुष्टि को अधिकतम करना नहीं अपितु वास्तविक सुख को प्राप्त करना है। प्रोफेसर मेहता के विचारों को ठीक प्रकार से समझने के लिए संतुष्टि, सुख आनन्द के बीच के अन्तर को स्पष्ट करना समीचीन होगा। प्रोफेसर मेहता के अनुसार आवश्यकताविहीनता की स्थिति वह है जहाँ किसी प्रकार का दुःख न हो परिणामतः आनन्द प्राप्ति की भी कोई संभावना नहीं रहती हो। यदि कोई व्यक्ति मस्तिष्क की इस स्थिति का अनुभव करता है तो वह सुख के उच्चतम स्तर को प्राप्त करता है। मेहता ने 'संतुष्टि' अथवा 'आनन्द' तथा 'सुख' में अन्तर स्पष्ट किया है। संतुष्टि अथवा 'आनन्द' भौतिक शब्द हैं जबकि 'सुख' एक नैतिक व दार्शनिक विचारधारा है। 'संतुष्टि' एक प्रकार का वह अनुभव है जो किसी इच्छा विशेष या आवश्यकता विशेष की पूर्ति पर मिलता है। इस प्रकार संतुष्टि का संबंध इच्छा से है तथा इच्छा की तीव्रता और मंदता के आधार पर ही संतुष्टि की मात्रा अधिक या कम हो सकती है। स्पष्ट है कि जितनी इच्छा या आवश्यकता तीव्र होगी, उसकी पूर्ति पर उतनी ही संतुष्टि का अनुभव होगा, क्योंकि इच्छा होने पर दुःख अथवा पीड़ा का अनुभव होता है और पीड़ा जितनी तीव्र होती है उतनी ही इच्छा की पूर्ति पर संतुष्टि मिलती है। प्रोफेसर मेहता ने इस संतुष्टि के लिए आनन्द शब्द का भी प्रयोग किया है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार आनन्द पीड़ा अथवा दुःख की निवृत्ति है। जितनी अधिक पीड़ा होगी उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होगा। जब अधिकतम स्तर पर आनन्द की प्राप्ति हो जाती है तो पीड़ा का स्तर न्यूनतम हो जाता है। इच्छा और पीड़ा दोनों साथ–साथ चलने वाले तत्व हैं। पीड़ा अथवा दुःख तब तक अस्तित्व में रहते हैं जब तक की इच्छाएं असंतुष्ट रहती हैं। इच्छाओं के विलोपन अथवा संतुष्टि की प्रक्रिया से आनन्द की प्राप्ति होती है और जब इच्छाओं को पूर्णतः समाप्त कर दिया जाता है, दुःखों से पूर्ण मुक्ति पा ली जाती है, तो भविष्य में किसी अन्य आनन्द प्राप्ति की संभावना नहीं रहती है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार सुख संतुष्टि से भिन्न है। सुख वह अनुभव है, जब कोई इच्छा न हो। उनके अनुसार सुख संतुष्टि अथवा आनंद से भिन्न है। यह मात्र दुःख की

समाप्ति नहीं वरन् वह अवस्था है जहाँ दुःख होता ही नहीं है। प्रोफेसर मेहता के मत में इच्छाओं के बने रहने के कारण मस्तिष्क संतुलन की अवस्था में नहीं रहता क्योंकि किसी इच्छा के उत्पन्न होते ही मनुष्य के मस्तिष्क का संतुलन भंग हो जाता है और वह अपने मस्तिष्क को पुनः संतुलन की अवस्था में स्थापित करने के लिए इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न करेगा क्योंकि संतुलन भंग होने से कष्ट का अनुभव होगा। इच्छा की पूर्ति होने पर संतुलन पुनः स्थापित हो जाएगा और उसे कुछ आनन्द की प्राप्ति होगी। इस इच्छा की संतुष्टि पर सुख की स्थिति नहीं प्राप्त होती क्योंकि एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को जन्म देती है। अतः प्रोफेसर मेहता के अनुसार इच्छारहित अवस्था में जबकि मस्तिष्क पूर्ण संतुलन में होता है, तब जो अनुभव प्राप्त होता है उसे सुख कहा जाता है। उनके अनुसार सुख उस समय अधिकतम अवस्था में प्राप्त होगा (जो मानवीय व्यवहार का उद्देश्य है) जब दुःख की मात्रा न्यून अथवा शून्य के स्तर पर हो। यह सुख की उच्चतम अवस्था है, इच्छाविहीनता की अवस्था है, जो दुःख और संतुष्टि से परे होती है। निष्कर्षतः प्रोफेसर मेहता के अनुसार मानवीय व्यवहार का अन्तिम उद्देश्य सुख की प्राप्ति है। आनन्द जो सरलता से प्राप्त किया जाता है, वह लक्ष्य प्राप्ति का एक साधन है। आनन्द की अधिकतमता (संतुष्टि अथवा उपयोगिता की अधिकतमता) को मानवीय गतिविधियों के सह–उद्देश्य के रूप में तब तक न्यायोचित ठहराया जा सकता है जब तक वह वास्तविक सुख की प्राप्ति के साधन के रूप में काम करे। जब अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् इच्छाविहीनता की अवस्था प्राप्त कर ली जाती है तब व्यक्ति अपनी उत्तेजना जनित सामान्य प्रतिक्रिया को बंद कर देता है, तब किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती है और न ही किसी भी प्रकार की पीड़ा का अनुभव होता है। इस अवस्था में व्यक्ति सभी बाहरी ताकतों एवम् शक्तियों से मुक्त हो जाता है और आन्तरिक सुख की प्राप्ति करता है। प्रोफेसर मेहताके अनुसार इसलिए अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय व्यवहार का अध्ययन उन प्रयासों के रूप में करता है जो लम्बे समय तक दुःख अथवा पीड़ा को न्यूनतम स्तर पर रख सके। अन्य शब्दों में यह एक ऐसा प्रयास है जिससे इच्छाओं से स्वतंत्रता प्राप्त कर सुख की स्थिति को प्राप्त किया जाता है।

9-3 vko';drkfoghu lekt

प्रोफेसर मेहता के समाजवादी समाज की अवधारणा कार्ल मार्क्स की अवधारणा सेबिल्कुल भिन्न है। वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया का मेहता के प्रतिमान में कोई स्थान नहीं है। उनकेअनुसार एक आदर्श समाज तब अस्तित्व में आता है जबकि समाज के व्यक्तियों का अपनी इच्छाओं पर पूर्ण नियंत्रण हो। इस स्थिति में एक इच्छापूरित समाज को इच्छाविहीन समाज में परिवर्तन इच्छाओं के पदानुक्रम में संतुष्टि के द्वारा आसानी से हो सकता है। प्रोफेसर मेहता का विश्वास था कि समाज के सभी संसाधनों का प्रयोग उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में किया जा सकता है जिससे कि लोगों की इच्छाओं की संतुष्टि की जा सके। सैद्धान्तिक रूप से अर्थव्यवस्था उस समय स्थिर अवस्था में आ जाती है जब लोगों की सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और भविष्य में किसी इच्छा के उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती है। पी. आरब्रम्हनंदा ने इस स्थिति को साधारण भाषा में व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार तकनीकी परिवर्तन के कारण उत्पादन की स्थिति में सुधार होता है जिससे दो संभावनाएं उत्पन्न होती हैं। प्रथम जब समाज का उत्पादन बढ़ता है तो उत्पादन की पूर्व स्थिति निम्न आय वर्ग के बहुत लोगों की इच्छाओं को संतुष्ट करती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उच्च वर्ग केलोगों की आय का आधिक्य निम्न वर्ग को हस्तान्तरित होता है। यदि यह प्रक्रिया निरन्तर चालू रहती है तो धीरे–धीरे दोनों ही वर्गों की आय का स्तर बराबर हो जाएगा तथा इच्छाओं की प्रकृति भी समान हो जायेगी जिन्हें समान रूप से

संतुष्ट किया जा सकेगा। दूसरी संभावना यह होगी कि आरामदायक वस्तुओं का उत्पादन और काम का समय बढ़ता चलाजाएगा जिससे समाजवादी समाज की स्थापना होगी। यहाँ पर मेहता के विचार गांधी के विचारों से समानता रखते हैं। मेहता अपने आवश्यकताविहीन समाज में भौतिकता और वास्तविक सुख का सामंजस्य स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं।यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि इच्छाविहीनता और क्रियाविहीनता समानार्थक नहीं है। अतः इच्छाविहीनता की अवस्था में पहुँच जाने पर गतिविधियाँ अथवा क्रियाकलाप रूकते नहीं हैं। कोई भी समाज अपने उत्पादन के सामान्य तरीके में परिवर्तन किए बिना भी अपनी आर्थिक नीतियों का उद्देश्य आवश्यकताविहीनता की स्थिति को निर्धारित कर सकता है। वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन और उपभोग समरूपता में आवश्यकविहीनता केसिद्धान्त के अनुसार परिवर्तित हो सकते हैं किन्तु एकाएक एक साथ बंद नहीं हो सकते। इसका तात्पर्य यह है कि इच्छाविहीनता की अवस्था में गतिविधियाँ अर्न्तात्मा द्वारा निर्देशित होती हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति गतिविधियों का संचालन स्वयं को सर्वोच्च सत्ताका प्रतिनिधि मानकर करता है। प्रोफेसर मेहता ने लिखा है– मानवीय व्यवहार का सम्बन्ध उसके अन्तःकरण के आदेशों की अनुपालना से होता है। अर्न्तात्मा के आदेशों के प्रति इसी आज्ञाकारिता में सुख निर्भर करता है। व्यक्ति की सभी इच्छाएं पर्यावरण के प्रति चुनौतीपूर्ण व्यवहार के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि व्यक्ति वास्तव में सुखी रहना चाहता है तो इस चुनौतीपूर्ण व्यवहार को त्यागना पड़ेगा। जब पर्यावरण के प्रति व्यक्ति का समर्पण भाव जागृत हो जाता है तो उसकी वस्तुओं को अधीन करने की तथा भौतिक पदार्थों को संग्रह करने की प्रवृत्ति खत्म हो जाती है।

प्रोफेसर मेहता ने इस संबंध में आगे लिखा है– यदि सभी व्यक्ति सुख प्राप्ति के वास्तविक और सही रास्ते का अनुसरण कर लें तो राज्य का बहुत सारा काम कम होद जाएगा। एक सहनशील समाज की रचना आवश्यकताविहीनता के आधार पर ही की जा सकती है। अतः जब तक इच्छाविहीनता को समझा नहीं जाता, उसकी व्याख्या नहीं की जाती है तथा व्यवहार में नहीं लाया जाता तब तक कोई भी समाज जनता को सामान्य भलाईके लिए उत्तप्रेरित करने वाले प्रयासों से आराम नहीं पा सकता है। सर्वश्रेष्ठ परिणाम तभीप्राप्त किए जा सकते हैं जब व्यक्ति सच्चे सुख के खोजकर्ता के रूप में आवश्यकताविहीनताअथवा इच्छाविहीनता की नीति को अपना ले।

9-4 bPNkfoghurk dh fLFkfr çkfIr dh mik;

आावश्यकता विहीनता की अवस्था तब प्राप्त होती है जब मस्तिष्क पूर्ण साम्यावस्था में पहुँच जाता है और किसी भी प्रकार की इच्छा का अस्तित्व नहीं रहता है। किन्तु मेहता यह भी स्पष्ट करते हैं कि किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व बिना इच्छा अथवा आवश्यकता के नहीं रह सकता है क्योंकि आवश्यकताएं असीमित है और एक इच्छा की संतुष्टि दूसरी इच्छा कोजन्म देती है। अतः प्रोफेसर मेहता आवश्यकताओं को कम करने का सुझाव देते हैं। वास्तविक सुख की प्राप्ति आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं की वृद्धि में नहीं अपितु उन्हें कम करने में है। आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए साधनों की आवश्यकता होती है और आवश्यकताएं असीमित होती हैं तथा उन्हें संतुष्ट करने के साधन सीमित। परिणामस्वरूप सभी इच्छाओं की संतुष्टि नहीं हो पाती और जो इच्छाएँ असंतुष्ट रहती हैं उनसे कष्ट उत्पन्न होता है। अतः वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए आवश्यकताओं को कम करना चाहिए। आवश्यकताओं को कम करते–करते आवश्यकताविहीनता की स्थिति प्राप्त करनी चाहिए जोसुख एवम् संतुलन की अवस्था होती है। प्रोफेसर मेहता ने सुख अथवा संतुलन की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए दो उपाय सुझाए हैं–

- बाह्य शक्तियों अथवा पर्यावरण को परिवर्तित करना अर्थात् बाह्य पर्यावरण का मस्तिष्क से सामंजस्य स्थापित किया जाए जिससे वे मस्तिष्क के अनुकूल हो जाएं।
- मस्तिष्क को ऐसी स्थिति में रखा जाए कि वह बाह्य शक्तियों एवम् बाह्य पर्यावरण से अप्रभावित रहे। इसके लिए मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार सुख प्राप्ति का प्रथम तरीका संसाधनों के प्रयोग के संबंध में व्याख्या करता है। मानवीय मस्तिष्क शरीर के माध्यम से प्रतिक्रिया करता है। जब मस्तिष्क असाम्यावस्था में होता है तब शरीर में कुछ परिवर्तन होते हैं और परिवर्तन संसाधनों के प्रयोगमें परिवर्तित हो जाते हैं।

सुख प्राप्ति का दूसरा तरीका व्यक्ति के स्वयं के परिवर्तन से सम्बन्धित है, जिसमें मस्तिष्क किसी भी स्थिति में पर्यावरण से अप्रभावित रहता है। ऐसी अवस्था में मस्तिष्क बाहरी शक्तियों के प्रति किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करता और पूर्ण साम्यावस्था में रहता है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार अर्थशास्त्री सामान्यतः एक नियम के रूप में पहले उपाय को ही स्वीकारते हैं। किन्तु मेहता के अनुसार इस उपाय के द्वारा थोड़े समय के लिए भी पूर्ण साम्यावस्था की प्राप्ति नहीं की जा सकती है क्योंकि कोई भी वह प्रयत्न जो वर्तमान आवश्यकता की संतुष्टि के लिए किया जाता है वह किसी नयी आवश्यकता को उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए भूख शांत करने के लिए कुछ कार्य किया जाता है जो इससे विश्राम करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। अतः प्रोफेसर मेहता के अनुसार बाह्य दशाओं को परिवर्तित करके सुख की प्राप्ति नहीं की जा सकती है इसके लिए मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की भी आवश्यकता पड़ती है।

9-5 bPNkvh dh puko dh leL;k

मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं को एक साथ कम नहीं कर सकता इसलिए उसके सामने चुनाव की समस्या आती है कि इन इच्छाओं में से किन इच्छाओं को कम किया जाए और किन इच्छाओं को संतुष्ट किया जाए। आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जो व्यक्ति को मार्गदर्शित करते हैं। ये सिद्धान्त अथवा नियम ही आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। इच्छाओं के चुनाव से संसाधनों के उचित प्रयोग की समस्या सामने आती है। संसाधनों के प्रयोग से तथा इच्छा की संतुष्टि से अन्य इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतः अर्थशास्त्रियों को इच्छाओं की संतुष्टि के सम्बन्ध में अनेक विकल्पों में से किसी एक का चयन करना होता है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार यह चयन व्यक्ति के उद्देश्य पर निर्भर करता है कि क्या वह सभी इच्छाओं से हमेशा के लिए मुक्ति पाना चाहता है या इच्छाओं को कम करके आवश्यकताविहीनता की अवस्था को प्राप्त करना चाहता है या एक इच्छा को समाप्त करके दूसरी इच्छा को समाप्त करना चाहता है।

एक चतुर एवम कुशल अर्थशास्त्री सर्वप्रथम यह अवलोकन करता है कि वर्तमान में उपस्थित इच्छाओं की संख्या क्या है। ऐसी परिस्थिति में उसका मुख्य उद्देश्य सर्वप्रथम तोउन आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा जिनकी पूर्ति संभव है तथा बाद में बार–बार उत्पन्न होने वाली इच्छाओं से बचने का प्रयास किया जाना चाहिए। प्रोफेसर मेहता ने इच्छाओं के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया है कि व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को धीरे–धीरे कम करना चाहिए। प्रथम तो उन आवश्यकताओं को त्याग देना चाहिए, जिनकी संतुष्टि करने में व्यक्ति असमर्थ है। तत्पश्चात् केवल वे ही आवश्यकताएँ शेष रह जाएंगी जिनकी संतुष्टि करने में व्यक्ति सक्षम

है। चूँकि ये आवश्यकताएं संतुष्ट हो जाएंगी इसलिए किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होगा। चूँकि आवश्यकताएँ अधिक होती हैं और उन्हें संतुष्ट करने के साधन सीमित। अतः प्रोफेसर मेहता के अनुसार आवश्यकताओं को संसाधनों की सीमा तक घटाया जाना चाहिए और यह प्रयास आवश्यकताविहीनता की स्थिति तक पहुँचने की दिशा में प्रथम कदम हो जाता है। अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को धीरे–धीरे प्रयास करते रहना चाहिए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आवश्यकताविहीनता का सिद्धान्त प्रोफेसर मेहता की मौलिक देन है। यद्यपि इस अवस्था की प्राप्ति संभव नहीं है। किन्तु मेहता जी इसे मानवीय व्यवहार का लक्ष्य निर्धारित करते हैं और व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए इस दिशा में बढ़ने का सुझाव देते हैं।

10- vH;kl i'u

fucU/kkRed i'u

1. जे.के. मेहता के आवश्यकताविहीनता के सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना करें।

y?kqÙkjkRed i'u

1. अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।
2. ''इच्छा परिमाण'' को समझाइये।

vfr y?kqÙkjkRed i'u

1. धर्मशास्त्र जीवन की व्याख्या किस पहलू से करता है–

   (a) मोक्ष (b) इच्छा

   (c) आंतरिक चेतना (d) आर्थिक क्रिया।

2. किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख मिलता है तथा उपभोग न करने से बहुत कश्ट होता है तब वह वस्तु कहलाती है–

   (a) अनिवार्यता की वस्तु (b) विलासिता की वस्तु

   (c) धनोत्सर्गिक वस्तु (d) आराम की वस्तु

3. व्यक्ति के संदर्भ में इच्छा परिमाण का नियामक तत्त्व है–

   (a) प्रामाणिकता (b) करुणा

   (c) संयम (d) उपरोक्त सभी।

4. अर्थशास्त्र में उपयोगिता के साथ सम्बन्ध है–

   (a) लाभदायकता (b) सेवा भावना

   (c) कल्याण (d) उपरोक्त सभी।

5. नैतिक व दार्शनिक विचारधारा का पोषक शब्द है–

(a) सुख (b) संतुष्टि

(c) आनन्द (d) पूर्णता।

6. 'वर्ग संघर्ष' की अवधारणा के समर्थ थे–

(a) जे.के. मेहता (b) महात्मा गांधी

(c) कार्ल मार्क्स (d) महावीर।

7. अर्थशास्त्र में भी ..... की अपूरणीयता प्रतिपादित है।

8. सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामतः ..... होनी चाहिए।

9. ..... और ..... दोनों साथ–साथ चलने वाले तत्त्व हैं।

10. सामाजिक जीवन का मुख्य आधार ..... है।

bdkbZ&4

lkis{k vFkZ'kkL=

mís';

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा को जानना।
2. सापेक्ष अर्थशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सूत्रों की जानकारी प्राप्त करना।

lajpuk

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र की अवधारणा
2. आधुनिक अर्थव्यवस्था की समस्याएं
3. सापेक्ष अर्थशास्त्र– एक सशक्त विकल्प
4. सुखवाद की अवधारणा
5. श्रम, अर्थ और संयम
6. उपभोग का सीमाकरण
   - 6.1 भोग की प्रकृति
   - 6.2 भूख और आवश्यकता
7. स्वामित्व का सीमाकरण
8. साधन–शुद्धि के सूत्र
9. सापेक्ष अर्थशास्त्र की आवश्यकता
10. अभ्यास प्रश्न

1- lkis{k vFkZ'kkL= dh vo/kkj.kk

आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक एडमस्मिथ ने लगभग 250 वर्ष पूर्व कहा था– धन की उत्पत्ति के मूल में श्रम तथा श्रम–विभाजन निहित है। 19वीं शताब्दी के अंत में अल्फ्रेड मार्शल ने स्मिथ का समर्थन करते हुए कहा– मानव कल्याण का स्तर धन के उपार्जन के साथ इसके उपयोग पर भी निर्भर करता है। स्मिथ और मार्शल के कथनों की संवादिता जैन अर्थशास्त्र में भी उपलब्ध है। ऋषभ ने लाखों वर्षों पूर्व तत्कालीन लोगों को कृषि की महत्ता से अवगत करवाकर समाज के अलग–अलग वर्णों की क्षमता के अनुरूप कार्य करने का संदेश दिया। श्रम के महत्त्व एवं श्रम विभाजन के इस संदेश को यूरोप के अर्थशास्त्रियों ने गत तीन दशकों में ही लिखा है।

यह एक आम धारणा है कि जैन अर्थशास्त्र जो मुख्यतः निवृत्तिमूलक है : अर्थ के उपार्जन और उपभोग पर शायद ही कोई विवेचना हुई हो। यह एक सीमा तक ठीक है किंतु अनेकान्त दृष्टिकोण से देखें तो जैन

आचारशास्त्र में अर्थ की स्वीकृति भी है बशर्ते उसका उपार्जन सात्विक हो, संरक्षण और संवर्द्धन सामुदायिक हो और उपभोग संयमित हो। जैन आचारशास्त्र का उपभोग व्यक्तिगत एवं सामुदायिक हितचिन्तन के उच्चतर प्रतिमान दर्शाता है, इसलिये इसे सार्वकालिक कहें तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। कीन्स ने 1936 में रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना और आर्थिक विषमता को असह्य बनने से रोकना आज के समुदाय की दो मुख्य चुनौतियां मानी थी। सापेक्ष अर्थशास्त्र के दो सिद्धान्त– आजीविका विच्छेद न करना और उपार्जन में साधन शुद्धि का प्रयोग इन दोनों समस्याओं का समाधान है। वर्तमान इच्छाओं और भविष्य की आकांक्षाओं का समन्वय तथा सुरक्षित पर्यावरण की दृष्टि से निर्बाध विकास जिसमें निहित है, ऐसे अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह और इच्छा परिमाण के सिद्धान्त विकास की सही अवधारणा को व्यक्त करते हैं।

अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का शास्त्र है और अर्थ का सीमाकरण (सापेक्ष अर्थशास्त्र) शांति का शास्त्र है। असीम आकांक्षा और शांति में कभी समझौता नहीं हो सकता। मनुष्य के लिए आर्थिक संसाधन जरूरी है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा कि सापेक्ष अर्थशास्त्र आवश्यकता की सम्पूर्ति के साथ–साथ सुखानुभूति भी देता है इसलिये इसे एक समग्र अर्थशास्त्र की व्यंजना दी जा सकती है। पूंजीवाद, समाजवाद जैसी कई अर्थव्यवस्थाओं के प्रयोग में आने के बावजूद भी आम आदमी को कोई राहत मिली हो ऐसा अनुभव नहीं होता। इसे हम निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं–

- वर्तमान अर्थ व्यवस्था में अर्थ हिंसा के विकास का साधन बन रहा है। इसका उपयोग जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक विध्वंस की प्रवृत्तियों में हो रहा है।
- आर्थिक विकास में नैतिकता के अभाव के कारण व्यवसाय एवं उद्योगों में अप्रामाणिक व्यवहार और प्रवंचना बढ़ रही है साथ ही अर्थ लोलुपता व भ्रष्टाचार भी बढ़ा है।
- वर्तमान व्यवस्था में बड़े उद्योगों एवं व्यवसायों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया गया है जबकि लघु उद्योगों, गृह उद्योगों एवं छोटे व्यवसाय उपेक्षित किये गये हैं। परिणामस्वरूप धनी और गरीब के बीच विषमता बढ़ती जा रही है।
- यंत्र का मूल्य बढ़ रहा है, श्रम का मूल्य घट रहा है परिणामस्वरूप बेरोजगारी बढ़ रही है।
- अर्थ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है, वह साध्य बन रहा है।
- संग्रह के प्रति दृष्टिकोण सही नहीं है। पदार्थ का उपभोग एवं संग्रह व्यक्तिगत बन गया है। जबकि उसकी अनिवार्यता, आवश्यकता और उपयोगिता गौण हो गई है।
- अर्थ का असीम उपभोग प्रतिक्रियात्मक हिंसा पैदा कर रहा है।
- औद्योगिक विकास व्यक्तिवाद को बढ़ावा दे रहा है, फलस्वरूप समाज की उपेक्षा हो रही है, सामुदायिक चेतना का पक्ष दुर्बल हो रहा है।
- स्वार्थ एवं सुविधावादी मनोवृत्ति के कारण क्रूरता एवं शोषण बढ़ रहा है, करुणा कम हो रही है।
- अर्थ के विनियोग के प्रति दृष्टिकोण सही नहीं बन रहा है।

पारम्परिक अर्थव्यवस्थाओं के दोषों को दूर करना सापेक्ष अर्थशास्त्र का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। उसका एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है–हिंसा, तनाव, अशांति, पर्यावरणीय असंतुलन जैसी समस्याओं का समाधान भी करना। अब एक जागतिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकता है। शक्तिशाली एवं समृद्ध राष्ट्रों ने संसाधनों पर कब्जा किया, मानव कल्याण के नाम पर पर्यावरणीय असंतुलन सौगात में दिया। अतीत के सत्ता विस्तार और

साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का नवीन संस्करण बाजार पर अधिकार के द्वारा आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करना है। ऐसी अर्थ व्यवस्था की आवश्यकता है जिससे शक्तिशाली राष्ट्र छोटे राष्ट्रों का शोषण न कर सके, उनकी स्वतंत्रता न छीन सके, उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सके और पर्यावरण को प्रदूषित भी न कर सके। अनेक विचारक इस ओर अग्रसर हैं। टु हेव एण्ड टु बी, थर्ड वेव, द न्यू वर्ल्ड ऑर्डर, अर्थ इन बेलेंस, आदि–आदि पुस्तकों के लेखक इस बात से चिन्तित हैं कि अगर जागतिक अर्थ नीति का विकास नहीं किया गया तो भविष्य की भयावह स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। केनिज ने इस तथ्य पर विचार नहीं किया कि जो संसाधन सीमित हैं उनका उपभोग असीमित कैसे हो सकता है? इस दृष्टि से उपभोग के संयम पर चिन्तन आवश्यक है।

सापेक्ष अर्थशास्त्र में इस बात पर बल दिया गया है कि आवश्यकता पूर्ति हेतु अर्थार्जन आवश्यक है किंतु साथ ही औरों की आवश्यकता पूर्ति के साधन छीनकर आर्थिक सम्पन्नता काम्य नहीं हो सकती। मानव श्रम के उपयोग के कार्यों में वृद्धि के साथ श्रम के मूल्य में भी आवश्यकतानुरूप वृद्धि आवश्यक है। रोजगार के अवसर बढ़ाने के साथ श्रम का शोषण रुकना चाहिए। निवेश उन वस्तुओं के उत्पादन में हो जिनका उपभोग आम व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। वर्तमान और भावी पीढ़ी के उपभोग एवं उपलब्ध संसाधनों के बीच समन्वय भी आवश्यक है। अतिशय अर्थार्जन मनुष्य को सुख से जीने नहीं देगा इसलिये अल्पेक्षा, अल्पारंभ और अल्प परिग्रह के सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण होंगे, जो केन्द्रीकरण, प्रदर्शन एवं विनाश की मानवीय गतिविधियों पर अंकुश लगायेंगे।

आर्थिक विकास, प्रौद्योगिकी विकास, तकनीकी विकास, प्रतिव्यक्ति आय और जीवन स्तर ये आधुनिक अर्थशास्त्र के मापदण्ड हैं। ये व्यक्ति को अर्थ सम्पन्न बनाते हैं, सुखी नहीं। आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ शांति और सुख की उपलब्धि जिस आर्थिक चिन्तन में मिल सके, ऐसा अर्थशास्त्र अपेक्षित है। अर्थशास्त्रीय अभिमत है– अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। सापेक्ष अर्थशास्त्र का स्वर है पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो। समाज विकास का आधार रागात्मक प्रवृत्ति है– इस सत्यांश को पूर्ण सत्य मान लेने के कारण हिंसा और आंतक को फैलने का अवसर मिलता है। विरागात्मक प्रवृत्ति इस पर अंकुश का कार्य करेगी। इस दृष्टि से इच्छा परिमाण का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था के समक्ष चार महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं–

- गरीबी मिटाना।
- जनसंख्या वृद्धि रोकना।
- पर्यावरण संरक्षण।
- बेरोजगारी का उन्मूलन।

इन चारों प्रश्नों का समाधान सापेक्ष अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में अंतर्निहित हैं। सापेक्ष अर्थशास्त्र के मापदण्ड यह सुनिश्चित करेंगे कि आर्थिक व्यवस्था विश्व शांति के लिये खतरा न बने, हिंसा को प्रोत्साहित न करे, पदार्थ में अनासक्ति और अत्राण की अनुभूति जगाए, साधन शुद्धि को महत्त्व दे, अर्थाजन में मूल्यों के ह्रास को रोके, इच्छा और व्यक्तिगत संग्रह के परिमाण को प्रोत्साहित करे जिससे व्यक्ति प्रेय और श्रेय का समन्वय कर व्यक्ति एवं समाज के बीच की खाई को पाट सके।

2- vk/kfud vFk0;oLFkk dh leL;k,a

साधन–शुद्धि का विचार न होना आधुनिक अर्थशास्त्र की सबसे बड़ी समस्या है। इसके बिना हम अहिंसा और शांति की बात नहीं सोच सकते। वर्तमान में हो रहे युद्धों के पीछे क्या यह असीम वाली बात नहीं है? कारण खोजें तो निश्चित ही इस सचाई का पता चलेगा। अस्त्र–शस्त्रों के बड़े–बड़े कारखाने हैं। शस्त्र–उद्योग अब समूचे संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित किए हुए हैं। जब युद्ध थमते हैं, शांति स्थापित होती है शस्त्रों के निर्माता शक्तिशाली राष्ट्र विश्व के किसी न किसी कोने में युद्ध की चिनगारी सुलगा ही देते हैं। उद्देश्य है सिर्फ अपने हथियारों की खपत। तबाही मचाने वाला यह उद्योग शांतिकाल में खुद तबाह हो जाता है। शस्त्र का उद्योग एक प्रकार से चालू करने का आधार है। अरबों–खरबों डालर से चल रहे ये उद्योग हिंसा की बुनियाद पर खड़े हैं।

हम पूरे विश्व की आर्थिक मीमांसा करें। सारे संसार में शस्त्र–निर्माण पर हो रहे खर्च को देखकर दंग रह जाएंगे। हिन्दुस्तान की सबसे अनिवार्य आवश्यकता है शिक्षा, जिससे व्यक्तित्व का, जीवन का निर्माण होता है। शिक्षा और सुरक्षा पर हो रहे खर्च की तुलना करें तो आकाश–पाताल का अंतर दिखाई देगा। शिक्षा पर मुश्किल से दो–तीन प्रतिशत व्यय होता है और सुरक्षा पर भारी–भरकम बजट बनते हैं। पूरे विश्व के संदर्भ में देखें तो आधी से भी ज्यादा पूंजी सुरक्षा पर खर्च हो रही है। यदि यह पूंजी गरीबी के उन्मूलन और शांति की स्थापना में लगे तो समाधान प्राप्त हो जाए। लेकिन ऐसा वे नहीं होने देंगे, जो शस्त्र–उद्योग के स्वामी बने हुए हैं।

अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण में एक विरोधाभास आ गया। उत्पादन किसका होना चाहिए, यह विवेक ही समाप्त हो गया। मादक वस्तुओं का कितना उत्पादन होता है। शराब का कितना बड़ा उद्योग है। अफीम, चरस, हेरोइन, ड्रग्स की बात जाने दें। पाउच पैक में उपलब्ध जर्दे और पान मसाले का ही करोड़ों का कारोबार हो रहा है। यह सब क्यों हो रहा है? तम्बाकू न हो तो जर्दा कहां से आए, अफीम न हो तो हेरोइन कहां से आए? उत्पादन की एक सीमा होनी चाहिए, एक विवेक होना चाहिए। किस वस्तु का उत्पादन बढ़े? जो जीवन की प्राथमिक अनिवार्यताएं नहीं हैं, उनका उत्पादन या तो विलासिता की ओर ले जाता है या मादकता की ओर। आखिर उन वस्तुओं का उत्पादन क्यों हो, जो मनुष्य के लिए हर दृष्टि से हानिकर हैं?

मनुष्य के सामने सदा से दो मार्ग रहे हैं–

- इन्द्रिय संयम का
- इन्द्रिय–तृप्ति का

प्राचीन अर्थशास्त्र ने भी इन्द्रिय–तृप्ति की बात सामने रखी। किंतु यह निर्देश भी दिया– इन्द्रिय–तृप्ति करो, साथ–साथ इन्द्रिय–संयम भी करो। चाणक्य ने राजा और शासक के लिए कहा– राजा को इन्द्रियजयी होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या– ये जो छह शत्रु हैं, राजा को इनका विजेता होना चाहिए। एक सामाजिक प्राणी के लिए इन्द्रिय–तृप्ति आवश्यक है तो इन्द्रियों का संयम भी आवश्यक है। यह सीमा–विवेक का सूत्र है–इन्द्रिय–तृप्ति करो, किंतु एक सीमा में। उपभोग करो, किंतु एक सीमा के साथ।

उसके बाद संयम करो। यदि ऐसा हो तो यह संयम का अर्थशास्त्र बनेगा और जो संयम का अर्थशास्त्र बनेगा, वह अहिंसा का अर्थशास्त्र बनेगा, शांति का अर्थशास्त्र होगा।

वर्तमान का एक दृष्टिकोण रहा– हम नैतिकता पर अभी विचार नहीं करेंगे, संयम पर विचार नहीं करेंगे, अहिंसा और शांति पर विचार नहीं करेंगे, जब समय आएगा तब करेंगे। इसका अर्थ है–जब तक वह समय न आए, तब तक समाज असंयम के परिणाम भोगता चला जाए। आज परिणाम हमारे सामने मुखर हो रहे हैं। उत्पादन के विषय में महावीर ने हमें जो विवेक दिया, जो आचार संहिता दी, उससे अर्थशास्त्र के भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त फलित होते हैं। यदि इनका अनुशीलन किया जाए, प्रयोग किया जाए तो वर्तमान समाज अनेक विकृतियों से बच सकता है।

- आधुनिक अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास की नीति अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए अर्थ हिंसा के विकास में बाधक बन रहा है। उसका उपयोग जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक विध्वंस की प्रवृत्तियों में हो रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है तथा नैतिकता सापेक्ष नहीं है, इसलिए व्यवसाय और उद्योग में अप्रामाणिक व्यवहार तथा प्रवंचना के अवसर बढ़ रहे हैं।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं हैं, इसलिए अर्थालोलुपता बढ़ रही है, भ्रष्टाचार बढ़ रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए बड़े–बड़े व्यवसायों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया जा रहा है। लघु उद्योगों, गृह उद्योगों तथा छोटे व्यवसायों की उपेक्षा की जा रही है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि धनिक अधिक धनी बन रहे हैं और गरीब अधिक गरीब बन रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं हैं, इसलिए यंत्र का मूल्य बढ़ रहा है, श्रम का मूल्य घट रहा है। परिणामस्वरूप बेरोजगारी बढ़ रही है, भूख बढ़ रही है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए अर्थ के प्रति दृष्टिकोण सही नहीं है। अर्थ जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है, वह साध्य बन रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए संग्रह के प्रति दृष्टिकोण सही नहीं है। संग्रह की अनिवार्यता, आवश्यकता और उपयोगिता गौण है। उसका उपभोग व्यक्तिगत बन गया है और आज वह प्रदर्शन का विषय भी बन गया है। संग्रह की मौलिक मनोवृत्ति संग्रह को आधार दे रही है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए अर्थ का उपभोग असीम हो रहा है, वह प्रतिक्रियात्मक हिंसा को पैदा कर रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए अर्थ का उपभोग असीम हो रहा है, वह प्रतिक्रियात्मक हिंसा को पैदा कर रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए औद्योगिक विकास व्यक्तिवाद को बढ़ावा दे रहा है। फलस्वरूप हितों की उपेक्षा हो रही है, सामुदायिक चेतना का पक्ष दुर्बल हो रहा है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए व्यक्तिगत स्वार्थ और सुविधावादी मनोवृत्ति बढ़ रही है।
- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए करुणा कम हो रही है, क्रूरता और शोषण को मुक्त आकाश मिल रहा है।

- आर्थिक विकास अहिंसा सापेक्ष नहीं है, इसलिए भूख की समस्या को मिटाने को प्राथमिकता नहीं दी जा रही है।

3- lkis{k vFk'kkL=& ,d l'kä fodYi

आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त कुछ विशेष सूत्रों को सापेक्ष अर्थशास्त्र के रूप में व्याख्यायित कियज्ञं महावीर ने अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय किया। उनके अनुसार अध्यात्म के साथ आर्थिक–विकास भी एक विकास है। लेकिन साथ–साथ उन्होंने यह भी कहा कि धन का अतिसंग्रह भी नहीं होना चाहिए। आवश्यकता पूर्ति जरूरी है लेकिन जहां औरों के स्वार्थ की बलि हो, ऐसी आर्थिक सम्पन्नता कभी काम्य नहीं होगी और न होनी चाहिए। आचार्य महाप्रज्ञ महावीर के अर्थशास्त्र को सूत्रात्मक रूप में इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं–

- सापेक्ष अर्थव्यवस्था का पहला सूत्र है– मानव–श्रम एवं यंत्रों में समन्वय। न केवल मानव श्रम के उपयोग के कार्यों में वृद्धि हो, श्रम का मूल्य भी उसकी आवश्यकता के अनुरूप हो। शोषण मुक्त समाज की अवधारणा में श्रम के उचित मूल्य का प्रमुख योगदान है। रोजगार के अवसरों को बढ़ाने के साथ–साथ श्रम के शोषण का भी अंत होना चाहिए।
- सापेक्ष अर्थशास्त्र का दूसरा सूत्र है– विनिवेश में सामुदायिक प्राथमिकताओं का महत्त्व। निवेश उन वस्तुओं के उत्पादन में ज्यादा हो जिनका उपभोग आम व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुरूप हो। वैभव की वस्तुओं के उत्पादन में निवेश की अपेक्षा उन वस्तुओं के उत्पादन में निवेश बढ़ाना आवश्यक है, जिनका उपभोग आवश्यकता के दायरे में आ सके।
- सापेक्ष अर्थव्यवस्था का तीसरा सूत्र है– आज और भविष्य का समन्वय। आज और भावी पीढ़ियों के उपभोग अथवा आवश्यकता पूर्ति के लिए उपलब्ध संसाधनों में समन्वय इसकी मुख्य शर्त है। इसके लिए आवश्यक है पर्यावरण की सुरक्षा। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इस गति से नहीं होना चाहिए कि भावी पीढ़ियों को संसाधनों की कमी महसूस हो।
- सापेक्ष अर्थव्यवस्था का चौथा सूत्र है– विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का पोषण। केन्द्रीकरण, प्रदर्शन और विनाश की मानवीय प्रवृत्तियों पर अंकुश।

प्रख्यात अर्थशास्त्री कीन्स ने 1931 में कहा था कि पूंजीवाद अगले 100 वर्षों में मानव की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम हो जायेगा। तब तक के लिए नैतिक और अनैतिक के भेद को भुला देना चाहिए। किंतु आज इन 100 वर्षों की अवधि के 75 वर्ष पूर्ण हो गए हैं। अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्याएं– आर्थिक विषमता, भूख और बेरोजगारी अभी भी यथावत है। अब यह आवश्यक हो गया है कि एक वैकल्पिक अर्थव्यवस्था पर चिंतन हो। सापेक्ष अर्थव्यवस्था का सिद्धांत इस चिंतन का पहला पड़ाव बन सकता है।

4- lq[kokn dh vo/kkj.kk

जहां संयम और शांति है, वहां अहिंसा है। अर्थशास्त्र में मुख्य प्रश्न रहता है संतुष्टि का। जनता को आवश्यकताओं की संतुष्टि मिले। संतुष्टि और सुख– यह अर्थशास्त्र का मुख्य ध्येय रहा। सुखवाद एक दार्शनिक अवधारणा रही है। पश्चिम में सुखवादी दृष्टिकोण पर काफी विचार हुआ है। भारत में भी यह दृष्टिकोण रहा है

किंतु उसके साथ एक और भी दृष्टिकोण रहा है, वह है दुःखवाद का। सुख प्राप्य है, किंतु जैसे–तैसे प्राप्य नहीं है।

महावीर के सामने संतुष्टि और सुख का प्रश्न गौण था, शांति का प्रश्न मुख्य था। जब शांति का प्रश्न मुख्य होता है, दृष्टिकोण बदल जाता है। जहां शांति का प्रश्न है, वहां, साधन–शुद्धि का विचार मुख्य होगा। महावीर ने एक गृहस्थ के लिए अर्थार्जन का निषेध नहीं किया। वे स्वयं अपरिग्रही थे, किंतु उन्होंने गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का विधान नहीं किया। यह संभव भी नहीं था। एक धर्माचार्य असंभव बात कैसे कर सकते थे? उन्होंने अनेकांतवाद की दृष्टि से मध्यममार्ग बतलाया– एक गृहस्थ अपरिग्रही नहीं हो सकता, फिर भी उसे इच्छा का परिमाण करना चाहिए, अर्थार्जन में साधन–शुद्धि का विचार करना चाहिए।

5- Je] vFkZ vkj l;e

उत्पादन का सारा श्रम अर्थ के साथ चलता है। श्रम का मूल्य क्या है? एक व्यक्ति श्रम करता है, उसके प्रतिफल में उसे क्या मिलता है? महावीर के समय से लेकर साम्यवाद् और गांधीजी के समय तक इस पर काफी विचार चला है– कितना श्रम और कितना अर्थ इस संदर्भ में साम्यवाद का सिद्धान्त रहा– योग्यता के अनुरूप कार्य और कार्य के अनुरूप आजीविका या दाम। गांधीजी ने इसमें कुछ संशोधन किया। उन्होंने कहा– 'आवश्यकता की कोई एक परिभाषा नहीं हो सकती इसलिए उसका एक यांत्रिक रूप नहीं होना चाहिए। यह विवेक पर निर्भर होना चाहिए। जितना काम, उतना दाम।'

महावीर ने सूत्र दिया– श्रम और अर्थ के बीच में संयम को जोड़ो। केवल श्रम और अर्थ ही नहीं, बीच में संयम भी रहे। श्रम का भी शोषण न हो, आजीविका का भी विच्छेद न हो। कल्पना करें–एक आदमी समर्थ है, वह ज्यादा काम कर लेता है। एक आदमी कमजोर है, उतना काम नहीं कर पाता। किंतु रोटी तो दोनों को चाहिए। यदि श्रम के आधार पर ही उन्हें मूल्य दिया जाएगा तो आजीविका का विच्छेद हो जाएगा, शोषण हो जाएगा। जो प्राथमिक अनिवार्यताएं, आवश्यकताएं हैं, उनकी पूर्ति होनी चाहिए। महावीर ने बड़े महत्त्वपूर्ण शब्द का चुनाव किया– भक्तपान विच्छेद– रोटी–पानी की कमी न हो, उसका विच्छेद न हो।

उत्पादन में बहुत सारी वस्तुएं आती हैं। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन से कुछ कारकों को हटाया है। डॉ. सेठ और मार्शल ने वेश्यावृत्ति को उत्पादन से अलग कर दिया। इसे उत्पादक श्रम नहीं माना। उन्होंने इस पर नैतिकता की दृष्टि से विचार किया। महावीर और गांधीजी की दृष्टि से विचार करें तो और भी बहुत सारी बातें उत्पादन से हट जाएंगी। महावीर ने उत्पादन के संदर्भ में तीन निर्देश दिए–

- अहिंसप्पयाणे– हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करना
- असंजुत्ताहिकरणे–शस्त्रों का संयोजन न करना
- अपावकम्मोवदेसे– पाप कर्म का, हिंसा का प्रशिक्षण न देना।

ये तीन निर्देश अर्थशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहला निर्देश है हिंसक अस्त्रों का निर्माण उत्पादन की सूची से हटना चाहिए। व्रती समाज के लिए तो यह अनिवार्य था कि वह शस्त्रोत्पादन नहीं कर सकता। वह केवल निर्माण ही नहीं, हिंसक शस्त्र का विक्रय भी नहीं कर सकता था। आज तो यह बहुत बड़ा व्यवसाय बन चुका है। अरबो–खरबों डालर के अस्त्र–शस्त्रों का क्रय–विक्रय हो रहा है। इनके निर्माण में जोरदार प्रतिस्पर्धा चल रही है। आधुनिक अर्थशास्त्र में शोषण की जो बात कही जाती है, उसका एक बड़ा रूप

है खुला बाजार। यह फ्री मार्केट आज शोषण का अड्डा बन गया है। शस्त्रों का भी खुला बाजार है। जहां चाहें, शस्त्र खरीद लें। लाइसेंस प्रणाली कारगर सिद्ध नहीं हो रही है। कुछ राष्ट्रों में तो लाइसेंस की जरूरत भी नहीं है। यह शस्त्र–निर्माण और शस्त्र–विक्रय व्रती समाज का सदस्य नहीं कर सकता। दूसरा निर्देश है शस्त्र के पुर्जों का संयोजन न करना। व्रती समाज का सदस्य शस्त्रों के पुर्जों का आयात–निर्यात न करे, उन्हें जोड़कर तैयार भी न करे। तीसरा निर्देश है– पाप कर्म का उपदेश न देना। हिंसा का, युद्ध का प्रशिक्षण देना भी एक व्रती के लिए वर्जित था। आज की स्थिति देखें। हिंसा का प्रशिक्षण देने के लिए ऐसे स्कूल खोले गए हैं, जहां आतंकवाद का प्रशिक्षण दिया जाता है, उसकी सूक्ष्म तकनीक सिखाई जाती है। कैसे आतंक के द्वारा पूरे समाज और राष्ट्र को भयभीत किया जा सकता है, इसकी ट्रेनिंग दी जाती है।इस संदर्भ में महावीर ने व्रती समाज के लिए जो विधान किए, वे अहिंसा और शांति के अर्थशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

6- miHkksx dk lhekdj.k

हमारे सामने समाज के दो चित्र हैं, दो प्रारूप हैं–

- अनियंत्रित इच्छा, अनियंत्रित आवश्यकता और अनियंत्रित उपभोग वाला समाज।
- नियंत्रित इच्छा, नियंत्रित आवश्यकता और नियंत्रित उपभोग वाला समाज।

इन दोनों की समीक्षा करें। जिस समाज की इच्छा अनियंत्रित है, आवश्यकता भी अनियंत्रित है, उपभोग भी अनियंत्रित है, वह समाज कैसा होगा? जिस समाज की इच्छा, आवश्यकता और उपभोग नियंत्रित है, वह समाज कैसा होगा? हमारी दुनिया में प्रत्येक पदार्थ सीमायुक्त है। उपभोक्ता अधिक और पदार्थ कम। पदार्थ सीमित और इच्छा असीम, दोनों में संगति कैसे हो? एक व्यक्ति की इच्छा इतनी अधिक होती है कि उसे पूरा नहीं किया जा सकता। राजस्थानी का एक मार्मिक पद्य है–

ru dh r"kk vYi g] rhu ko ;k lsjA
eu dh r"kk vfeV g] xyk esj dk esjAA

तन की तृष्णा तो तनिक–सी है। पाव–दो–पाव या बहुत ज्यादा सेर भर खाया जा सकता है। किंतु मन की तृष्णा इतनी अधिक है कि मेरु पर्वत को भी निगल सकती है। अनियंत्रित इच्छा मनुष्य को सुख देने के लिए नहीं, उसे सताने के लिए, दुःख देने के लिए होती है। दुःख का पहला बिन्दु है अमित तृष्णा। वह पूरी होती नहीं है, भीतर ही भीतर शल्य की तरह पीड़ा देती रहती है।

दूसरा तत्त्व है आवश्यकता। आवश्यकता भी अनियंत्रित है। आवश्यकता आगे चलकर कृत्रिम आवश्यकता का रूप ले लेती है और बढ़ती चली जाती है। इसे भी कभी पूरा नहीं किया जा सकता। तीसरा तत्त्व है उपभोग। वर्तमान की उपभोक्तावादी संस्कृति ने उपभोग को अनियंत्रित कर दिया है। उपभोग आवश्यक है, किंतु जब से उपभोक्तावाद आया है, तब से इसकी इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि इससे स्वास्थ्य, मन और चेतना–तीनों प्रभावित हुए हैं। इच्छापूर्ति के लिए, आवश्यकता को बढ़ाने और उसे पूरा करने के लिए हिंसा अनिवार्य हो जाती है। नया उपभोक्तावाद एक प्रकार से नई हिंसा का उपक्रम है। हिंसा को इससे नया आयाम मिला है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक लालसा है कि इतना उपभोग तो आवश्यक है। वह पूरा नहीं होता है तो फिर उसे येन–केन प्रकारेण पूरा करने का प्रयत्न होता है। अपहरण, चोरी या हत्या करके भी उसे प्राप्त किया जाता है क्योंकि वह लक्ष्य बन जाता है। आज के अर्थशास्त्र में नैतिक विचार के लिए अवकाश कम है या

बिल्कुल नहीं है। नैतिक, मानवीय और जीवन मूल्यों की इसमें कोई आवश्यकता नहीं मानी जाती। इस स्थिति में जैसे–जैसे प्राप्त करना ही एक मात्र लक्ष्य बन जाता है।

समाज का दूसरा चित्र है– नियंत्रित इच्छा, आवश्यकता और उपभोग वाला समाज। जिसने इच्छा को सीमित किया है, वह कभी दुःखी नहीं बनेगा। वह इस सचाई को जानता है– इच्छा को कभी पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए वह पहले ही उस पर नियंत्रण कर दुःख का एक दरवाजा बंद कर देता है। जीवन की प्राथमिक आवश्यकता व्यक्ति को सताती नहीं है। वह सताती है, जो काल्पनिक और कृत्रिम रूप से पैदा की गई है। वह पदार्थ के प्रति एक आकर्षण या सम्मोहन पैदा करती है। एक दिन आकर्षण मुख्य हो जाता है, आवश्यकता गौण हो जाती है।

6-1 Hkkx dh i:Ñfr

आचार्य पूज्यपाद ने बहुत मार्मिक लिखा है–

ikjHkk rkidku: ikIrk vrfIrifrikndkuA
vrr lnq%[k tku dkeku] dke dq] lor l/kh%AA

काम की तीन स्थितियां बनती हैं– ताप, अतृप्ति अैर दुश्त्याज्यता। प्रारंभ में पदार्थ ताप देता है। भोगकाल में उसका परिणाम होता है अतृप्ति। इस अतृप्ति का ही निदर्शन है वर्तमान के विकसित राष्ट्र। जो विकसित राष्ट्र कहलाते हैं, उन्होंने बहुत अर्जित किया है और यह सोचकर अर्जित किया है कि मानसिक तृप्ति होगी। किंतु आज वहां इतनी अतृप्ति बढ़ गई है कि मानसिक शांति के लिए एक भटकाव शुरू हो गया है। विकसित देशों में लोग इधर–उधर दौड़ लगा रहे हैं कि कहीं से मानसिक शांति मिले। अतृप्ति पुनः सेवन के लिए विवश करती है। फिर वह एक आदत बन जाती है। उसे छोड़ना मुश्किल हो जाता है। आदमी जानता है– आइसक्रीम खाना आवश्यक नहीं है किंतु उसके प्रति आकर्षण होता है। व्यक्ति उसके लिए प्रयत्न करता है। गरीब आदमी भी पैसा जुटाता है। एक बार खाने पर तृप्ति नहीं मिलती, फिर दूसरी बार खाता है और अंत में छोड़ना कठिन हो जाता है। टान्सिल बढ़ जाए, दांत खराब हो जाए या कुछ भी हो जाए, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। यही बात शराब की है। पहले–पहले शौकिया तौर पर शराब का सेवन शुरू करता है। फिर यही अतृप्ति उसे इसका गुलाम बना देती है, एक स्नायविक आदत बन जाती है और उसका परिणाम भोगना ही पड़ता है।

आदत छोड़ पाना बहुत मुश्किल होता है। जो सुधी हैं, विद्वान् हैं चिन्तनशील हैं, वे प्रारंभ में ही अपनी आवश्यकता को सीमित कर देते हैं। संतुलित भोजन जीवन के लिए आवश्यक है, किंतु असंतुलित भोजन या ज्यादा खाना आवश्यक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की आवश्यकता के संदर्भ में यही नियम है। वर्तमान स्थिति यह है– नियंत्रण या सीमाकरण को महत्त्व कम दिया जा रहा है।

6-2 Hk[k vkj vko';drk

पहले भूख के लिए आवश्यकता बनती है, फिर आवश्यकता भूख बन जाती है। भूख के लिए आवश्यकता को तो पूरा किया जा सकता है, किंतु आवश्यकता की भूख को पूरा करने के लिए इस दुनिया में न कोई साधन है और न कोई शक्ति है। न आज का अर्थशास्त्री इसे पूरा कर सकेगा, न कोई शासन या

उसका वित्त मंत्रालय आवश्यकता की भूख को मिटा सकेगा। जिसके आवश्यकता की भूख जग जाती है, वह कभी दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। नियंत्रित आवश्यकता वाला समाज कभी दुःखी नहीं होता। न तो कोई इतना अमीर बनता है कि दौलत का पहाड़ खड़ा कर ले, न इतना बड़ा गढ़ा बनाता है, जो खाली पड़ा रहे। जिस समाज में आवश्यकता, इच्छा और उपभोग का सीमाकरण है, वह समाज कभी भूखा नहीं रहता। वह भूखा रहता है, जिसमें इच्छा, आवश्यकता और उपभोग का अनियंत्रण होता है, ज्यादा ऊँचाई और निचाई होती है।

7- LokfeRo dk lhekdj.k

भगवान महावीर ने जिस व्रती समाज का निर्माण किया था, उसमें स्वामित्व और उपभोग– दोनों का सीमाकरण था। स्वामित्व एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान के संदर्भ में हम स्वामित्व की मीमांसा कर सकते हैं। मैक्डूगल आदि मानसशास्त्रियों ने मौलिक मनोवृत्तियों का एक वर्गीकरण किया। महावीर ने मनोवृत्ति का स्वरूप बताते हुए कहा– मनुष्य की एक ही मनोवृत्ति है वह है अधिकार की भावना, परिग्रह या संग्रह की भावना। सब कुछ अधिकार की मनोवृत्ति मनुष्य में ही नहीं, छोटे से छोटे जीव–जन्तुओं और पेड़–पौधों में भी होती है। आचार्य मलयगिरि ने इस ममत्व और अधिकार की भावना को समझाने के लिए अमरबेल का उदाहरण दिया। अमरबेल प्रारंभ में किसी पेड़ का सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है। फिर वह समूचे पेड़ पर अपना आधिपत्य जमा लेती है, उस पर छा जाती है और धीरे–धीरे उसे खा जाती है। अधिकार की भावना मधुमक्खी में भी होती है, एक चींटी में भी होती है और छोटे–बड़े सभी प्राणियों में होती है। छोटे से छोटा प्राणी भी अपने लिए संग्रह करता है। अधिकार की उसमें मौलिक मनोवृत्ति होती है।

वर्तमान में साम्यवाद और पूंजीवाद के संदर्भ में स्वामित्व के अनेक रूप बन गए हैं– निजी स्वामित्व, सार्वजनिक स्वामित्व और सामूहिक स्वामित्व। व्रती समाज का पहला सूत्र बना– स्वामित्व का सीमाकरण हो। व्यक्तिगत स्वामित्व सीमित होना चाहिए। व्रती समाज के दस प्रमुख लोग थे, सबके सब सम्पन्न थे। उन सबने व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण किया। अर्थ प्राप्ति की लालसा असीम है, आदमी कहां तक जाएगा? सीमा का विवेक तो होना ही चाहिए।अर्थ की अभीप्सा को हम तीन अवस्थाओं में देखें–

- न्यूनतम
- अधिकतम
- असीम

जीवन चलाने के लिए जितना अपेक्षित होता है, वह न्यूनतम आवश्यकता कही जा सकती है। यह न्यूनतम स्वामित्व की सीमा है। रोटी, कपड़ा, मकान– ये न्यूनतम स्वामित्व के अंतर्गत आते हैं। अधिकतम को अच्छा नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसकी एक सीमा है। खादी की एक धोती या साड़ी से भी काम चल सकता है। दो हजार, दस हजार और पचास हजार की साड़ी से भी काम नहीं चलता। समाचार पत्रों में पढ़ा– करोड़ों रुपए की ड्रेस लोग रखते हैं। न्यूनतम खादी का एक कुर्ता, धोती और टोपी– जीवन इतने से चला जाता है। गांधी का उदाहरण सामने है। उन्होंने तो मात्र एक धोती से ही काम चला लिया। आज के लोग इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि इन सादे और सीमित वस्त्रों में कितनी शांति और हूलियत रहती है। कीमती वस्त्र पहनते ही सबसे पहले भय लगना शुरू हो जाता है। शरीर पर पोशाक सवार होते ही भय भी सवार हो

जाता है। गंदे हो जाने का भय, कट–फट जाने का भय, सिमट–सिकुड़ जाने का भय, चमक–दमक कम हो जाने का भय– ऐसे अनेक भय सताने लगते हैं।

महावीर द्वारा निर्मित समाज सम्पनन समाज था। वह गरीब और दरिद्र समाज नहीं था पर सीमाकरण के विवेक से समृद्ध था। उस समय कौटुम्बिक व्यवस्था में एक परिवार में सैंकड़ों–सैंकड़ों लोग होते थे। आनन्द श्रावक का परिवार भी एक ऐसा ही परिवार था। उसने सीमाकरण किया– चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएं ब्याज में लगी रहें, चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएं निधान (भूमिगत) में रहें। इससे अधिक रखने का उसे त्याग था। इतनी भूमि, इतना भवन, इतना व्रज (गौशाला) रखूंगा। इससे अधिक कुछ नहीं रखूंगा। संग्रह की एक निश्चित सीमा बन गई।

महावीर ने कहा– अर्जन का, संग्रह का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, अधिकतम का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। हो सकता है– एक व्यक्ति उससे अधिक सीमा कर ले। महावीर ने अधिकतम को दो ओर से नियंत्रित कर दिया।

- पहला नियंत्रण था– अर्जन में साधन–शुद्धि का विचार।
- दूसरा नियंत्रण था– व्यक्तिगत उपभोग का सीमाकरण।

महावीर ने उपभोग की एक सूची बना दी। ऐसी सूची, जो आज तक किसी अर्थशास्त्री ने नहीं बनाई। उपासक–दशा सूत्र में दस सूत्र हैं, जिसमें उस समय के दस प्रमुख लोगों का वर्णन है। उसमें दी गई उपभोग सूची का अगर आज अनुपालन हो तो गरीबी की समस्या का अपने आप समाधान हो जाएगा। उस सूची के कुछ सूत्र ये हैं–

- वस्त्र परिमाण
- दंतवन–परिमाण
- द्रव्य–परिमाण
- जल–परिमाण
- वाहन–परिमाण आदि–आदि

एक व्रती यह संकल्प करता है– इतने से ज्यादा वस्त्र मैं अपने पास नहीं रखूंगा। एक धोती और एक उत्तरीय– इससे ज्यादा वस्त्र का एक साथ उपभोग नहीं करूंगा। शरीर के प्रक्षालन हेतु मात्र एक तौलिए से ज्यादा नहीं रखूंगा। यह सीमाकरण है उस समय के करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं में स्वामी का।वह जल का भी परिमाण करता है– इतने से ज्यादा पानी का उपयोग मैं नहीं करूंगा। पर्यावरण की समस्या उस समय नहीं थी, न ही उसके लिए कोई उपक्रम था किंतु इस बात का भान था कि पर्यावरण की समस्या आगे चलकर कभी भी पैदा हो सकती है। आज जो यह समस्या विकट रूप धारण कर चुकी है और भविष्य में इसके विकटतम रूप धारण करने की संभावना व्यक्त की जा रही है। इससे निपटने का कोई भी उपाय विशेष कारगर नहीं हो रहा है। पानी का जितना दुरुपयोग आज हो रहा है, शायद पहले कभी नहीं हुआ होगा। भविष्य में यह जल संकट कितना त्रासद सिद्ध होगा, कहा नहीं जा सकता। एक व्रती व्यक्ति जल का सीमाकरण करता है– इतने घड़ों से ज्यादा जल का उपयोग स्नान हेतु नहीं करूंगा। दतौन के भी सीमित उपयोग की बात कही गई।

आज स्थिति यह है– दतौन के लिए छोटी–सी टहनी की जरूरत है तो नीम के पेड़ की पूरी डाल ही काट ली जाएगी।

आश्रम में ठहरी एक विदेशी महिला से गांधीजी ने कहा– नीम की लकड़ी लाओ, दतौन करना है। महिला गई और पूरी डाल तोड़कर ले आई। गांधीजी ने उसके इतना कड़ा उपालम्भ दिया, जैसे उसने लाख रुपये खो दिए हों। वहां बैठे लोग बोले– बापू! इतनी छोटी–सी बात के लिए आपने इस महिला को इतना लताड़ दिया। इतने सारे नीम के पेड़ यहां खड़े हैं, दतौन समाप्त तो नहीं हो गया? गांधीजी ने कहा– 'अकेला गांधी ही नहीं है, सारी दुनिया है दतौन करने वाली। इस तरह सब करने लगेंगे तो नीम के पेड़ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।'

8- lk/ku&'kf) d lw=

महावीर ने उत्पादन में साधन–शुद्धि के लिए पांच सूत्र दिए–

- बंध न करना
- वध न करना
- छविच्छेद न करना
- अतिभार न लादना
- भक्तपान का विच्छेद न करना

उन्होंने जिस व्रती समाज का निर्माण किया, उसके लिए ये पांच विधान किए–

- कृषि का व्यवसाय करते हो तो बंध का प्रयोग मत करो। बांध कर मत रखो, न पशुओं को बांधों, मनुष्यों को बांधो।
- वध न करो। पीटो मत, मारो मत, सताओ मत।
- छविच्छेद मत करो। उस युग में अंभभंग करने का दण्ड भी विधान में था। दास प्रथा का युग था। अंगभंग करने की सजा भी दी जाती थी। दण्ड स्वरूप हाथ काट देते थे, पैर काट देते थे, शरीर के दूसरे अवयव काट देते थे। महावीर ने कहा– अंग–भंग मत करो।
- अतिभार मत लादो, मनुष्यों पर भी नहीं और पशुओं पर भी नहीं।
- आजीविका का विच्छेद मत करो, किसी का शोषण मत करो। यह न हो कि श्रम अधिक हो पारिश्रमिक कम मिले।

महावीर ने व्यवसाय के लिए साधन–शुद्धि के अनेक सूत्र दिए–

- कूट तोल–माप मत करो।
- वस्तु दिखाओ कुछ और दो कुछ, यह मत करो।
- किसी की धरोहर का गबन मत करो।

उपासकदशा सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने लिखा– 'उस समय मिलावट बहुत चलती थी, रिश्वत भी बहुत चलती थी।' मानव की यह प्रकृति सदा रही है, धन के प्रति उसकी लालसा हर युग में हर समय में रही है। मिलावट भी उस समय विभिन्न प्रकार से चलती थी रिश्वत भी बहुत चलती थी। चाणक्य ने लिखा–

'पानी में तैरने वाली मछली संभव है आकाश में उड़ने लगे, किंतु राज्य कर्मचारी रिश्वत न ले, यह संभव नहीं।' मनुष्य की प्रकृति का सदा एक रूप रहा है। अर्थ के प्रति लालसा, सुविधा और इन्द्रियों का सुख– ये सदा काम्य रहे हैं और जब से इन्हें बौद्धिकवादी समर्थन मिला, तब से और भी ज्यादा उच्छृंखलता आ गई। समाजवाद का आधार भी भौतिकवाद है पूंजीवाद का आधार भी भौतिकवाद है। जहां केवल भौतिकवाद है, वहां अर्थ, सुविधा और इन्द्रियसुख को ही प्रधानता मिलेगी, इसीलिए इस उच्छृंखलता से हमें कोई आश्चर्य नहीं है।

9- lkjka'k vFkZ'kkL= dh vko';drk

सामाजिक जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है शांतिपूर्ण–सहअस्तित्व तथा समस्या को सुलझाने का समीचीन दृष्टिकोण। अनेकांत समीचीन दृष्टिकोण है। उसमें पक्ष और प्रतिपक्ष का आग्रह नहीं होता, किंतु दोनों का समन्वय किया जा सकता है।

अनेकांत के तीन सूत्र समस्या को सुलझाने के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हैं–

- सापेक्षता
- संतुलन
- समन्वय

अर्थव्यवस्था में परिवर्तन की अपेक्षा है क्योंकि वर्तमान अर्थव्यवस्था में सापेक्षता नहीं है। व्यक्ति की सम्पत्ति समाज–सापेक्ष नहीं है। गरीबी और अमीरी की रेखा में संतुलन नहीं है। उसकी दूरी को पाटने के लिए समन्वय का प्रयोग नहीं है। सापेक्ष अर्थव्यवस्था का विकल्प इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि अर्थव्यवस्था भूखमरी, गरीबी और अमीरी तीनों के बीच सापेक्ष संतुलन और समन्वय की दृष्टि से नई योजना प्रस्तुत कर सके। शिक्षा, व्यवस्था और हृदय–परिवर्तन– इन तीनों में सामंजस्य स्थापित हो सके।

10- vH;kl i`'u

fuca/kkRed i`'u

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र पर एक निबंध लिखिए।

y?kwÙkjkRed i`'u

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र के विभिन्न सूत्रों की व्याख्या करें।
2. आधुनिक अर्थव्यवस्था की क्या समस्याएं हैं?

vfr y?kwÙkjkRed i`'u

1. सापेक्ष अर्थशास्त्र के प्रणेता कौन थे?

   (a) भगवान महावीर (b) आचार्य महाप्रज्ञ

   (c) आचार्य तुलसी (d) भगवान ऋषभ।

2. आधुनिक अर्थशास्त्र के मापदण्ड हैं–

   (a) प्रति व्यक्ति आय (b) औद्योगिक विकास

(c) आर्थिक विकास (d) जीवन स्तर।

3. ''योग्यता के अनुरूप कार्य और कार्य के अनुरूप आजीविका'' यह किस व्यवस्था का सिद्धान्त है?

(a) पूंजीवाद (b) समाजवाद

(c) साम्यवाद (d) गांधीवाद

4. हिंसा का एक उपक्रम है–

(a) उपभोक्तावाद (b) समाजवाद

(c) अपरिग्रह (d) भोग।

5. अनेकान्त का सूत्र है–

(a) सापेक्षता (b) समन्वय

(c) संतुलन (d) उपरोक्त सभी।

6. महावीर ने ..... और ..... का समन्वय किया।

7. अर्थ का असीम उपभोग ..... हिंसा पैदा कर रहा है।

8. ..... अर्थार्जन मनुष्य को सुख से जीने नहीं देगा।

9. ..... एक मौलिक मनोवृत्ति है।

10. व्यक्ति की ..... समाज सापेक्ष नहीं है।

bdkbZ&5

xk/khoknh vFkZ'kkL=

mís';

1. अहिंसात्मक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में गांधी के आर्थिक विचारों का अध्ययन करना।
2. गांधीवादी अर्थशास्त्र के मूलभूत आधारों–ट्रस्टीशिप, ग्रामोद्योग, शरीर श्रम आदि के बारे में जानना।

lajpuk

1. गांधी के आर्थिक चिंतन की आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि
    - 1.1 जीवन के प्रति समग्रता का दृष्टिकोण
        - 1.1.1 व्यक्तित्व का विभाजन असंभव और अवांछनीय
        - 1.1.2 जीवन के आधारभूत सिद्धान्त समग्र व्यक्ति और समग्र समाज पर लागू
    - 1.2. अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु : मानव
2. इच्छाविहीनता का सिद्धान्त
3. साधन साध्य का सिद्धान्त
    - 3.1 अशुद्ध साधन का परिणाम भी अशुद्ध
    - 3.2 साध्य और साधन में अन्योन्याश्रय संबंध
    - 3.3 साधनों की पवित्रता
4. ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त
    - 4.1 ट्रस्टीशिप का अर्थ व स्वरूप
    - 4.2 ट्रस्टीशिप के उद्देश्य
    - 4.3 ट्रस्टीशिप–थातेदारी उत्तरदायित्व
5. श्रम मीमांसा
    - 5.1 श्रम की मानवीय विशिष्टताओं का संरक्षण
    - 5.2 शारीरिक और बौद्धिक श्रम का पुरस्कार
    - 5.3 गांधी की कर्ममीमांसा में श्रम का महत्व
6. ग्रामोद्योग एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था
    - 6.1 ग्रामोद्योग

6.2 ग्रामोद्योग का महत्व

6.3 खादी : ग्रामोद्योगों उद्योगों की धुरी

6.4 गांधीवाद और ग्रामीण विकास

7. ई.एफ. शुमाकर (1911 से 1977) का आर्थिक चिन्तन

7.1 शांति के साथ समृद्धि

7.2 विकास के मापदण्ड

7.3 मध्यम मार्ग

8. जे.सी कुमारप्पा (1892–1960) का आर्थिक चिन्तन

8.1 स्थायित्व की अर्थव्यवस्था

9. भूदान आन्दोलन

9.1 भूदान आन्दोलन के उद्देश्य

9.1.1 व्यक्तिगत स्वामित्व का निराकण

9.1.2 प्रेम और अहिंसा की शक्ति का निर्माण

9.1.3 जोतने वाले की जमीन

9.1.4 हृदय परिवर्तन द्वारा शासन मुक्त तथा शोषण मुक्त अहिंसक समाज रचना

9.1.5 समाज परिवर्तन हेतु

9.1.6 अर्थ रचना में क्रांति हेतु

9.1.7 जीवन का आधार भूमि

9.2 भूदान यज्ञ का प्रारंभ

10. ग्रामदान

10.1 ग्रामदान के उद्देश्य

10.1.1 सहयोगशील एवं संतुलित समाज का निर्माण

10.1.2 सामाजिक मूल्यों और विचारों में परिवर्तन

10.1.3 समाज में नैतिकता की प्रतिस्थापना

10.1.4 संसारिक और आध्यात्मिक मुक्ति का विचार

10.1.5 ग्राम स्वराज्य का द्योतक

10.1.6 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था एवं वर्ग निराकरण का द्योतक

11. अभ्यास प्रश्न

सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों पर आधारित समाज का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक संगठन निश्चय ही पूंजीवादी की भांति कुछ व्यक्तियों को वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम पर अत्यधिक अधिकार और धन प्रदान कर देने तथा साम्यवाद की भांति इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों को समाज हित के नाम पर अत्यधिक शक्ति और सत्ता प्रदान कर देने और इस प्रकार हिंसा, संघर्ष, विनाश और अवनति की ओर बढ़ने का मौका नहीं देगा, बल्कि मानव और समाज दोनों का स्वतंत्र और सही समन्वय करके दोनों को एक दूसरे के हित में बढ़ने और समृद्ध होने का मौका देगा। इस प्रकार की व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिये होगी, वह सबके हित में होगी; किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों या अधिकांश व्यक्तियों के ही हित में नहीं होगी बल्कि बिना अपवाद सबके हित, सब के उत्कर्ष, सबके उदय के लिये होगी। इस व्यवस्था को गांधीजी ने सर्वोदय व्यवस्था का नाम दिया है।

इस व्यवस्था की मूलभूत कल्पना मानव के जितनी ही पुरानी है, क्योंकि वह बीज रूप से विश्व के पुराने से पुराने ग्रंथों से होकर, आज तक के संतों, पैगम्बरों और विचारकों की रचनाओं में मौजूद है। उसका तार ऋग्वेद के मंत्रदृष्टा महर्षियों से लेकर लाओत्जे और कन्फूशियस, सुकरात और अफलातून, टालस्टॉय और क्रोपाटकिन, गांधी और विनोबा के विचारों में अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। इसके प्रयोग भी प्रत्येक युग और देश की परिस्थितियों में हुये, लेकिन गांधीजी ने इसका सबसे बड़ा सामूहिक प्रयोग अपने जीवन में किया और सत्य तथा अहिंसा के सामूहिक, सामाजिक और सार्वजनिक व्यवहार की कुछ साकार–सी कल्पना हमारे सामने रखी और इस संबंध में किस तरफ और किस तरह बढ़ा जा सकता है, इसका अधिक स्पष्ट संकेत उन्होंने अपने विचारों, अपनी संस्थाओं और अपने व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक व्यवहार द्वारा दिया।

1- xk/kh dk vkfFkd fparu dh vk/;kfRed vkj unfrd nf"V

गांधी का सर्वोदय अर्थशास्त्र विभिन्न आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं पर आधारित है जिससे यह अर्थशास्त्र मानवीय अर्थशास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। गांधी का आर्थिक चिंतन निम्न नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं पर आधारित है।

1-1 thou dk ifr lexrk dk nf"Vdk.k

मानव के व्यक्तित्व के असंख्य पहलू हैं। वह राजनैतिक दृष्टि से राज्य का, प्रांत का, नगर या गांव का सदस्य होता है। इन अलग–अलग संस्थाओं के प्रति कुछ उत्तरदायित्व होते हैं, जिनका वह वहन करता है, और उन पर कुछ अधिकार होते हैं, जिनका वह उपयोग करता है सामाजिक दृष्टि से वह परिवार का तथा अन्य अनेक सामाजिक संगठनों का सदस्य होता है और उनमें कुछ अधिकार तथा कर्त्तव्य रहते हैं। धार्मिक और नैतिक दृष्टि से वह कुछ अन्य संस्थाओं का अंग होता है, कुछ विशेष विचारों और कार्यों का वह पक्षपाती होता है और उनमें अपनी शक्ति का अंश लगाता है और उनसे वह कुछ प्राप्त भी करता है। इसी प्रकार वह व्यावसायिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न संस्थाओं से संबंध होता है और यों उसके व्यक्तित्व के अनेक पहलू हो जाते हैं, जिनमें उसके व्यक्तित्व का कुछ न कुछ अंश अवश्य शामिल होता है। ज्ञान की दृष्टि से, मानव जीवन की दृष्टि से इन्हें अलग–अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि मानव के प्रत्येक विचार और कर्म

में इन सारे पहलुओं का, मानव के सारे व्यक्तित्व का, उसके सारे विचारों और शक्तियों का, उसकी सभी कमजोरियों और विशेषताओं का एक साथ समावेश होता है।

मान लीजिये एक व्यक्ति कपड़े का व्यसाय करता है। इस व्यवसाय में वह केवल व्यवसाय की दृष्टि से काम नहीं कर सकता। उसे राजनैतिक पहलू पर भी विचार करना होगा– राज्य, प्रांत, नगर या गांव के के संकट का, राजनैतिक स्थिति का असर उस पर पड़ेगा ही, उसकी पारिवारिक स्थिति या अन्य सामाजिक स्थितियों का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहेगा, उससे धार्मिक विचारों से उसका व्यवसाय प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता; उससे नैतिक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक धरातल के असर से भी व्यवसाय बिल्कुल खाली नहीं रह सकता। इसी प्रकार उसके सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन पर उसके व्यवसाय का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ेगा। केवल विश्लेषण की दृष्टि से या अध्ययन और ज्ञान की सुविधा के ख्याल से भले ही हम व्यक्ति के विभिन्न पहलुओं को अलग–अलग करें किन्तु मानव के व्यक्तित्व और जीवन की दृष्टि से ऐसा कर सकना स्वाभाविक नहीं है।

1-1-1 0;fDrRo dk foHkktu vlHko vkj vokNuh;

आधुनिक पश्चिमी अर्थशास्त्र में आर्थिक मनुष्य की कल्पना की गई है, जो अर्थशास्त्र से संबंधित प्रश्नों और मामलों पर केवल अर्थशास्त्र की दृष्टि से ही विचार करता है, अर्थात् केवल आर्थिक लाभ–हानि के विचार से इनका निर्णय करता है, ग्रहण तथा इन्कार करता है। ऐसा काल्पनिक व्यक्ति चाहे आर्थिक हानियों से बचने और आर्थिक लाभों को गुणित करने में सफल भी हो, लेकिन अगर ऐसा व्यक्ति संभव होगा तो वह व्यक्ति अर्थ–संचय के लिये राष्ट्र के साथ धोखा करने वाला, समाज को हानि पहुंचाने वाला, धर्म और नैतिकता का सर्वनाश कर देने वाला, और संस्कृति का विनाश कर देने वाला होगा। वह देशद्रोही होगा, परिवार और समाज–द्रोही होगा, धर्म और नीति–द्रोही होगा और संस्कृति–द्रोही होगा। ऐसा विशुद्ध वैज्ञानिक की, विशुद्ध राजनीतिज्ञ की, विशुद्ध धार्मिक या नीतिज्ञ की या विशुद्ध संस्कृतिनिष्ठ की कल्पना भी ऐसी ही भयानक होगी। यूरोप के व्यापारवादियों द्वारा आरम्भ किया गया पश्चिमी अर्थशास्त्र भी इसी गलत कल्पना का दानव है।

जिस प्रकार मानव के व्यक्तित्व को एकांगी दृष्टि से ही देख रखने या उसके एक पहलू को ही पूरा मनुष्य मान लेने की गलती से वैयक्तिक दानव की सृष्टि होती है, उसी प्रकार समाज के एक पहलू को ही पूरा समाज मान लेने और बाकी सारी दृष्टियों को भुला देने से सामाजिक दानवता का निर्माण होता है। परिवार समाज का एक अंग है, परिवार का भरण–पोषण परिवार के वयस्क व्यक्ति का कर्त्तव्य है, लेकिन यदि वह व्यक्ति अपने प्रति या समाज के अन्य अंगों के प्रति अपने सारे कर्त्तव्यों को भूल कर इसी तरफ सारी शक्ति और समय लगा देता है तो उसकें पारिवारिकता की वह दूषित वृत्ति पैदा हो जाती है, जो उसे अपने व्यक्तिगत और सामाजिक कर्त्तव्य से च्युत कर देती है और उसका व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। इसी प्रकार समाज संगठन में भी संस्थाओं के संतुलित विकास के बजाय किसी एक संस्था पर अत्यधिक बल दे दिया जाता है, और एक को ही अत्यधिक कमी है। अब, यदि शासन केवल शिक्षा विभाग पर ही बहुत ज्यादा शक्ति और श्रम का व्यय करे या केवल उच्च कोटि के अनुसंधान पर ही अत्यधिक व्यय करे, या केवल सैन्य विभाग पर ही अत्यधिक जोर दे और अन्य विभागों को अपेक्षाकृत भुला दे तो उसका परिणाम अनुचित होगा। उसे हमारी समाज की समग्र आवश्यकता का अनुमान लगाना होगा और उनका तरतम्य देखकर फिर अपनी आय और

साधनों के अनुरूप सब की पूर्ति का प्रयत्न करना होगा अर्थात् समग्र दृष्टि से काम लेना होगा, अन्यथा हमारे साधनों का अपव्यय भी होगा और उनका कोई सुपरिणाम भी न आ सकेगा।

इसी प्रकार जब किसी एक प्रकार की भावना अत्यधिक प्रबल होने दी जाती है तो वह विकृति की सीमा तक पहुंच जाती है और समाज के लिए लाभदायक न रहकर हानिकारक हो जाती है। देशभक्ति की अतिरजित भावना सत्य और न्याय और कुण्ठित करके समाज की संकुचित द्वेष–भावनायुक्त और अप्रगतिशील बना देती है। इसी प्रकार स्वदेशी की भावना, धार्मिकता या धर्म–प्रचार की भावना, सैनिकता की भावना विकृत होकर प्रान्तीयता, कट्टरता और सैन्यवाद की पशुता की परिणित हो जाती है।

1-1-2 thou d vk/kkjHkr fl)kUr lex 0;fDr vkj lex lekt ij ykx

वास्तविक बात यह है कि यदि सत्य और न्याय, मानवता और लोकतंत्र, अहिंसा और प्रेम मानव जीवन के आधारभूत सिद्धान्त या मापदंड हैं तो उनका एक सा स्थान व्यक्ति और समाज के सभी शास्त्रों में होगा और जीवन के सभी व्यवहारों में उनका एकसा उपयोग होगा। किसी में वह बहुत अधिक और किसी में वह बिल्कुल न हो, बल्कि उसके विपरीत किसी में असत्य और अन्याय, द्वेष और हिंसा ही मापदण्ड बन जाय– ऐसा नहीं हो सकता। आज के विकृत अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में यही हो गया है। आज का अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक मानव जीवन के शाश्वत मापदण्डों को छोड़ बैठा है, उन्हें यह नीतिशास्त्रियों और धर्मशास्त्रियों की चीज मान बैठा है। परिणाम यह हुआ कि आज के अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में से मानवता और बहिष्कार होकर दानवता का आधिपत्य जम गया है और जो ज्ञान और व्यवहार सत्य, न्याय और मानवता के विकास और सेवा में काम आने चाहिये थे, वे असत्य, अन्याय और दानवता को बलवान बनाने में काम आ रहे हैं। अतः यदि मानवता की, व्यक्ति और समाज की रक्षा करना और उनका उत्कर्ष हमें अभीष्ट है तो हमें इनमें से दानवता को निकाल बाहर करना होगा, मानवता की प्रतिष्ठा करनी होगी, और जीवन के समग्र दृष्टिकोण को अपनाना ही होगा।

मानव जीवन का समग्र दृष्टिकोण ही अध्ययन और व्यवहार दोनों को संतुलित और सही रख सकता है, उसमें भ्रम और गलती की संभावनाओं को कम से कम रख सकता है। अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग नहीं कर सकते, विज्ञान को जीवन से या नीति–शास्त्र से अलग नहीं कर सकते, विज्ञान को जीवन से या नीति–शास्त्र से दूर नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र समाज–शास्त्र से किस प्रकार संबंध–विच्छेद करेगा। ये सभी शास्त्र राजनीति से किस प्रकार अलग हो सकते हैं।

यह विचार ही भ्रामक है कि सत्य और न्याय का विचार नीतिशास्त्र या आचार–शास्त्र के विवेचन में ही करना चाहिये। अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान में इनका विचार आवश्यक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों का सत्य और न्याय से कोई सरोकार नहीं होगां यदि ऐसा हुआ तो उन व्यक्तियों की समाज के प्रति क्या जिम्मेदारी होगी और ऐसे लोग क्या समाज के विनाशक नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञान मानव शास्त्र न रहकर दानव शास्त्र क्यों नहीं बन जायेंगे।

1-2- vFk'kkL= dk dUnz fcUnq % ekuo

सच्चे अर्थशास्त्र में सारे विवेचन और विचार का केन्द्र बिन्दु मानव होगा–अधूरा, अल्प शक्तियुक्त या जैसा भी वह जिस क्षेत्र में विद्यमान है, अपनी सारी निर्बलताओं औन विशेषताओं, अपनी आदतों, भावनाओं, अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उसे विशेषताओं, अच्छाइयों की ओर प्रेरित करना, उसे अधिक सबल और अधिक विवेकयुक्त बनाना आयोजकों का आदर्श हो सकता है, लेकिन उसकी वास्तविक स्थिति को भुला करके कभी सही निर्णयों पर नहीं पहुंच सकते और कभी सही आयोजन नहीं कर सकते। उन्हें मानव को ही केन्द्र बिन्दु मानना होगा और सारे भौतिक साधनों को केवल उसके उपयोग और कल्याण के हथियार मात्र। उसी से उन्हें अपने सारे अध्ययनों, योजनाओं और निर्णयों को सम्बद्ध करना होगा और जो निर्णय उनके क्षेत्र के मानवों की वास्तविकता के साथ मेल खाने वाले नहीं होंगे, उनका उन्हें संशोधन करना होगा या छोड़ देना होगा। कोई भी सिद्धांत और धारणा, कोई भी नहीं मानी जा सकती, बल्कि वही उनका वास्तविक मापदंड है। सही दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि हमारी सारी योजनाएं संबंधित गांव, शहर, जिले, प्रान्त, राष्ट्र या भूखंड के मानवों को अधिक शिक्षित, अधिक सुखी और समृद्ध बनाने की होनी चाहिये। पहले यह तय करना है कि हमारे क्षेत्र के मानवों की क्या स्थिति इस समय है–भौतिक साधनों की दृष्टि से भी और सांस्कृतिक स्थिति की दृष्टि से भी–और हम उनके लिए क्या स्थिति चाहते हैं, उस स्थिति तक पहुंचाने के लिए हमें उन्हें क्या–क्या सांस्कृतिक और भौतिक साधन प्रदान करने चाहियें और वे साधन किस प्रकार हमारे क्षेत्र की सारी जनता को प्राप्त हो सकते हैं। इस दृष्टि से सारी आर्थिक समस्याओं और योजनाओं पर विचार करना चाहिये। साधनों के शिकंजे में ठोक पीट कर आदमी को उसमें जमाने के बदले साधनों को मानवों की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि हमें भौतिक साधनों के उत्पादन और व्यय का आंकड़ा और लेखा–जोखा तैयार करने के पूर्व मानव शक्ति के उपयोग का बजट बनाना होगा और उसके अनुसार साधनों का बंटवारा करना होगा।

यहां इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि जो भौतिक साधन मानव के लिये अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं, उनके उपयोग में मानव की वर्तमान पीढ़ी का ही नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों के हित का भी विचार करना चाहिये। इस दृष्टि से प्रकाश, हवा और जल मानव जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक और बहुमूल्य साधन हैं, जो असीम मात्रा में प्राप्त है; उन्हें अगर कोई भी दूसरा राष्ट्र या मानव समूह किसी भी तरह जैसे अणु समग्र मानव जाति का भयंकर आपराधी माना जाना चाहिये। इसके बाद भोजन, आवरण और आवास के भौतिक साधन है, जिनका सर्व–प्रथम उपयोग मानव के लिये होना चाहिये ओर वह इस प्रकार हो कि सबको एक निश्चित न्यूनतम स्तर पर तो प्राप्त हो ही सकें। इसी प्रकार खनिजों और जंगलों के उपयोग में केवल वर्तमान मानव जाति के उपयोग का ही नहीं, बल्कि भावी मानव जाति का भी ध्यान रखा जाना चाहिये। कुछ भी हो, मुद्दे की बात यह है कि जहां भौतिक साधन सम्पत्ति और मानव में तुलना का प्रश्न हो, वहां बिना किसी हिचक के मानव को भौतिक साधन सम्पत्ति से अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। जहां भौतिक सम्पत्ति का अधिक महत्त्व है और मानव को एक घृणित कीड़े से अधिक नहीं माना जाता, वहीं एक ओर ''समृद्धि का अम्बार और दूसरी और अभाव नजर आता है, जहां सोने चांदी के टुकड़ों और नोटों का मूल्य जीवन से अधिक हो, वह एक ओर भयानक अजीर्ण और दूसरी ओर भयंकर भुखमरी एक साथ दिखाई देती है। आज की आर्थिक पद्धति इसी अभावता को प्रश्रय देती है; अतः आवश्यकता इस बात की है कि अर्थ–व्यवस्था में मानवता की पुनः प्रतिष्ठा की जाय।

2- bPNkfoghurk dk fl)kUr

सामान्यतः पश्चिम की अर्थनीतिक संरचना का लक्ष्य है– आवश्यकताओं की वृद्धि। इसके अनुसार जितनी अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपयोग हम करते हैं हमारे जीवन निर्वाह का स्तर उतना ही ऊंचा होता है और भौतिक दृष्टि से हम उतने ही सभ्य और सुखी होते हैं। पश्चिमी समाजवाद, साम्यवाद और पूंजीवाद का स्वरूप यही है। वे सब के सब परिग्रहणशील हैं। गांधीजी इससे अवगत थे और उन्होंने हिन्द स्वराज में लिखा था ''आधुनिक सभ्यता की वास्तविक कसौटी इस तथ्य में निहित है कि इसके अंतर्गत जीवन धारण करने वाले शारीरिक कल्याण को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं।'' ऐसे लोग गांधीजी के अनुसार आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं। भारतीय आदर्श के प्रति निष्ठावान गांधीजी इसका प्रतिवाद करते हुए तर्क करते हैं, ''मन चंचल पक्षी के समान है, जितना अधिक इसको मिलता है, उतना ही अधिक यह चाहता है और फिर भी असंतुष्ट रहता है। जितना ही हम अपनी वासनाओं में डूबते हैं, उतनी ही वे अनियंत्रित हो जाती हैं।'' उन्होंने आगे कहा है, ''अतएव हमारे पूर्वजों ने विषयभोग की एक सीमा निर्धारित कर दी। उन्हें ज्ञात था कि सुख बहुलांशतः मानसिक स्थिति है। कोई व्यक्ति धनी होने के कारण अनिवार्यतः सुखी नहीं होता या गरीब होने के कारण ही दुःखी नहीं होता। प्रायः देखा जाता है कि धनी दुःखी है और गरीब सुखी। ... इस सबका निरीक्षण करके ही हमारे पूर्वजों ने हमें भोगविलास से दूर रहने का परामर्श दिया था। ... ऐसा नहीं था कि वे यंत्रों का आविष्कार करना नहीं जानते थे किंतु हमारे पूर्वज जानते थे कि यदि हमने ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति के पीछे अपना मन दौड़ाया तो हम गुलाम हो जायेंगे और अपनी नैतिक प्रकृति खो बैठेंगे। अतएव पर्याप्त विचार–विमर्श के बाद उन्होंने निश्चित किया कि हमें वही करना चाहिए जो हम अपने हाथों और पैरों से कर सकते हैं।'' अन्यत्र उन्होंने कहा है, ''मैं इस पर विश्वास नहीं करता कि आवश्यकताओं की वृद्धि और उनकी पूर्ति के लिए यंत्रों के प्रयोग द्वारा विश्व अपने लक्ष्य की ओर एक कदम भी आगे बढ़ सका है। दूरी और समय के व्यवधान को नष्ट कर अपनी पाशविक क्षुधाओं को बढ़ाने और उनकी तृप्ति के लिए पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक भटकने के पागलपन भरे सिद्धान्त से मैं पूरे अंतःकरण से घृणा करता हूं।''

गांधीजी की दृष्टि में समस्त आर्थिक व्याधियों की जड़ है आधुनिक सभ्यता की सदा बढ़ती जाने वाली ''और आगे ... और आगे'' की प्रवृत्ति। वे थमने के लिए सचेत करते हैं और जैसा कि लुई फिशर ने कहा है, ''रुको और बचो'' उनके अर्थ–दर्शन का प्रमुख लक्षण है, इसीलिए उनका आदर्श है ''सरल जीवन और उच्च विचार'' और इसीलिए वे आवश्यकताओं की अनावश्यक वृद्धि के विरूद्ध है। उनका कथन है, ''जिस क्षण मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओं में वृद्धि करना चाहता है, उसी क्षण वह ''सरल जीवन एवं उच्च विचार'' के आदर्श के पालन से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। मनुष्य का सुख वस्तुतः संतोष में निहित है। जो असंतुष्ट रहता है वह अपनी कामनाओं का दास बन जाता है। सभी संतों ने उच्च स्वर में घोषित किया है कि मनुष्य अपना निकृष्टतम शत्रु भी बन सकता और उत्कृष्टतम मित्र भी। स्वतंत्र रहना या दास बन जाना उसकी अपनी मुट्ठी में है।''

वे चाहते हैं कि हम उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयास करें जो हमारे समुचित जीवन के लिए बहुत जरूरी हों। वे मानते हैं कि इस शरीर को परमात्मा ने हमें सौंपा है अतः यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसे दुरुस्त रखें, तथापि आवश्यकताओं की वृद्धि करना किसी के लिए उचित भी नहीं कहा जा सकता। वे उपनिषद् की उक्ति पर विश्वास करते थे और चाहते थे कि हम त्याग द्वारा भोग करें। उनका कहना था कि

मानव–शरीर का एकमात्र उद्देश्य सेवा है, भोग कदापि नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में हैं। त्याग ही जीवन है। भोग का अर्थ तो मृत्यु है। इससे किसी को यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि महात्मा गांधी जी लोगों को वैरागियों का जीवन यापन करने को कहते हैं। हम पहले ही इसका विवेचन कर चुके हैं कि महात्मा गांधीजी का मत था कि समाज उन समस्त सुख–सुविधाओं का उपयोग करे जिनसे मानव–जीवन सुखद और उसकी जीवन–यात्रा सुगम हो। वे बिजली, जहाज निर्माण, लौह उद्योग, यंत्र निर्माण तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं को जीवन के लिए उपयोगी मानते थे। वे इनके विरूद्ध नहीं थे किंतु चाहते थे कि हम इन दो बातों पर विचार करें, प्रथमतः समस्त समाज का अधिकतम कल्याण– हमें सदा सचेत रहना होगा कि कहीं हम दूसरों की कीमत पर तो अपनी आवश्यकताएं नहीं बढ़ा रहे; और द्वितीयतः हमारे जीवन का उद्देश्य– इसका अर्थ यह है कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि की उन्मादग्रस्त दौड़ में हम अपने जीवन का वास्तविक उद्देश्य ही न भूल जाये। इन दोनों शर्तों का निर्वाह करने पर हम वास्तविक एवं कृत्रिम आवश्यकताओं को अलगा सकते हैं। जैसाकि लुई फिशर ने का है, ''गांधीवाद चाहता है कि लोग अच्छी तरह रहें ... उसकी यह मांग नहीं है कि लोग एकान्त में संतों की तरह रहें। उसकी मांग है कि वे कम स्वार्थी हों, कम लोभी हों, कम धनोन्मादी हों, कम स्वकेन्द्रित हों।''

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए हम वस्त्र सम्बन्धी अपनी आवश्यकता का परीक्षण कर सकते हैं, सौभाग्य से जिसके बारे में गांधीजी ने कई बार अपने विचार प्रकट किये हैं और औसत भारतीय की उपभोगात्मक क्षमता को ध्यान में रखते हुए कुछ मानक स्थिर किया है। इस मानक पर विचार करने के पूर्व एक गलतफहमी को दूर करना अत्यावश्यक है जो दुर्भाग्य से स्वयं उनकी आधी धोती सभ्यता के कारण उत्पन्न हुई है। देश भक्तों के सामने ''गरीबों की तरह'' रहने का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए एवं 1921 के अपने निश्चय के अनुसार एक वर्ष के भीतर स्वराज्य प्राप्त न कर सकने का शोक मनाने के लिए गांधीजी ने आधी धोती पहनना शुरू किया था। उन्हीं के शब्दों में, ''अपने उत्तरदायित्व के पूरे बोध के साथ मैं यह सलाह देता हूं। अतएव उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कम से कम 31 अक्टूबर तक मैं अपने टोपी–कुर्ता आदि का त्याग कर रहा हूं और केवल आधी धोती तथा जब शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक हो तो चादर का उपयोग करने जा रहा हूं। चूंकि जिसको करने के लिए मैं स्वयं तैयार नहीं हूं दूसरों को उसकी सलाह देने में मुझे सदा संकोच होता रहा है और चूंकि मैं उनका पथ–प्रदर्शन कर उनका रास्ता सुगम बनाने के लिए उत्सुक हूं जो विदेशी वस्त्रों के त्याग के बाद विकल्प का निश्चय नहीं कर पा रहे हैं। अतएव मैं इस परिवर्तन को अंगीकार कर रहा हूं। शोक मनाने के सूचक के रूप में भी अपने लिए मैं इस त्याग को आवश्यक मानता हूं एवं नंगा सिर तथा नंगा बदन मेरे प्रदेश में शोक सूचक माना जाता है। हम सब शोकग्रस्त हैं, यह तथ्य मेरे निकट स्पष्टतर होता जा रहा है क्योंकि वर्ष का अंत समीप आता जा रहा है और हम अभी तक स्वराज्य नहीं पा सकते हैं। मैं यह साफ–साफ कह देना चाहता हूं कि मेरी अपने सहयोगियों से यह अपेक्षा नहीं है कि वे भी टोपी–कुर्ते आदि का त्याग कर दें, हां यदि वे अपने काम के लिए इसे आवश्यक समझते हों तो ऐसा कर सकते हैं। स्पष्ट करने योग्य दूसरी बात यह है कि वे सदा भारतीय आदर्श से अनुप्रेरित होते रहे हैं एवं उनके अनुसार आधी धोती सभ्यता भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है। उनका कहना है, आधी धोती को अंगीकार करना मेरे लिए नितान्त आवश्यक था। लेकिन चूंकि आधी धोती से सादगी भी झलकती है अतः इसे भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्य भी होता है।'' उन्होंने आगे कहा है, ''निस्संदेह यूरोपीय सभ्यता यूरोपवासियों के अनुकूल है किंतु यदि हम उसकी नकल करने की चेष्टा करेंगे तो भारत का सत्यानाश हो जायेगा।''

अपनी आवश्यकताओं को कम करने के सम्बन्ध में यद्यपि हम महात्मा गांधी जी की व्याख्या से अवगत हो चुके हैं तथापि वह पर्याप्त नहीं है। दर्शन की दृष्टि से उसका विश्लेषण कर हमें देखना चाहिए कि वह कहां तक विवेक संगत है। प्रो. मेहता न अपने ग्रंथ 'एडवान्स्ड एकानॉमिक थीअरि' में ''आवश्यकताओं के दर्शन'' पर लिखा है। उन्होंने ऐच्छिक एवं अनैच्छिक आवश्यकताओं में प्रभेद किया है। ''अनैच्छिक आवश्यकता'' इस पद के अर्थ की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है, ''यदि किसी व्यक्ति को किसी पदार्थ की आवश्यकता है तो उसकी प्राप्ति से उसके मन में सुखद अनुभूतियां होनी चाहिए... अतः यदि किसी पदार्थ की प्राप्ति से किसी को सुख होता है तो प्रमाणित होता है कि उसकी आवश्यकता उसे अवश्य रही होगी, चाहे इस आवश्यकता का बोध सचेत रूप से उसे न रहा हो। पीड़ा का अनुभव तभी होता है जब कोई किसी आवश्यकता के प्रति सचेत रहता है।'' वे आगे और कहते हैं, ''यह तो जरूरी है कि जिसे किसी पदार्थ की आवश्यकता रहती है, उसे उसकी प्राप्ति से सुख हो ही किंतु यह जरूरी नहीं है कि सर्वदा उसकी अप्राप्ति के कारण पीड़ा हो।'' इसका विस्तार करते हुए वे कहते हैं ''जिस व्यक्ति ने चलचित्र न तो देखा हो, न उसके बारे में सुना हो, उसे देखने की सचेत आवश्यकता उसे नहीं होती, परिणामस्वरूप उसे पीड़ा भी नहीं होती।'' किंतु यदि वह चलचित्र देखे तो निश्चय ही उसका उपभोग करेगा। इस क्षेत्र में सुख के पहले पीड़ा नहीं थी, आवश्यकता की पूर्ति केवल पीड़ा की निवृत्ति ही नहीं करती। अतएव सचेत आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले पदार्थों की प्राप्ति मानव सुखानुभूतियों में धनात्मक योगदान करती है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं : अनैच्छिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी प्रयास किये जाने चाहिए। प्रो. मेहता का कथन है, ''किंतु एक बार उनकी पूर्ति हो जाने पर भविष्य में सर्वदा ऐच्छिक आवश्यकताओं के रूप में उनकी पुनरावृत्ति होती रहती है।'' और इस प्रकार वे पीड़ा की वृद्धि करती रहती हैं। अतएव सुख की विवेक संगत खोज विलास और सुख में प्रभेद करने तथा अनैच्छिक आवश्यकताओं की कठोरतापूर्वक उपेक्षा करने में निहित है।

3- lk/ku lk/; dk fl)kUr

मनुष्य जीवन इच्छाओं, आकांक्षाओं का महासागर है। 'आकांक्षाएं व उनकी पूर्ति हेतु प्रयत्न' मनुष्य की विकास यात्रा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारणभूत तत्त्व रहा है जिसने मनुष्य को निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसारित किया। समाज में रहकर जीवन–यापन करने के कारण मानव से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी इच्छापूर्ति व कार्यों का संपादन समाज व नैतिकता के नियमों के दायरे में रहकर करेगा। लेकिन बहुधा वह अपनी अनियंत्रित इच्छाओं की पूर्ति हेतु ऐसे साधनों का प्रयोग करता है जो नैतिकता व समाज की गरिमा के प्रतिकूल होते हैं। इसलिये इच्छापूर्ति के साधन कैसे होने चाहिए? लक्ष्य व लक्ष्य प्रापित के मध्य क्या संबंध है? शुद्ध साध्यों की प्राप्ति के साधन शुद्ध होने आवश्यक है अथवा नहीं? इस संबंध में प्रारंभ में विभिन्न विचारधाराओं की विवेचना से पूर्व यह जानना अपेक्षित है कि साध्य क्या है? साधन किसे कहते हैं? सामान्यतः जिसे सिद्ध किया जाता है वह साध्य कहलाता है और जिसके द्वारा साध्य सिद्ध हो वह साधन कहलाता है। दूसरे शब्दों में, किसी क्रिया के प्रयोजन, किसी इच्छित वस्तु या उद्देश्य को साध्य कहा जाता है तथा उसकी प्राप्ति हेतु जो उपक्रम किये जाते हैं, जिनके सहारे उस लक्ष्य की प्राप्ति होती है, वे उपक्रम या प्रयत्न साधन कहलाते हैं। साध्य–साधन के संबंध में मुख्यतः दो दृष्टियां प्रयोग में आती हैं।

- साध्य साधनों के औचित्य को निर्धारित करते हैं।

- साधन साध्य के औचित्य को निर्धारित करते हैं।

पहली दृष्टि के अनुसार साध्य महत्त्वपूर्ण है, साधन गौण है। सामान्यतः यही माना जाता है कि यदि साध्य या लक्ष्य न्यायपूर्ण, संगत व शुद्ध है तो उसकी प्राप्ति के लिये किसी भी प्रकार के साधनों का प्रयोग वांछनीय है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि यदि किसी न्यायसंगत साध्य की प्राप्ति शुद्ध व न्यायपूर्ण साधनों द्वारा असंभव हो, तो लक्ष्यपूर्ति के लिए छल–कपट व अन्यायपूर्ण साधनों का सहारा लिया जा सकता है, क्योंकि साधनों का औचित्य साध्य निर्धारित करते हैं। यदि साध्य शुद्ध हो तो किसी भी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। साध्य की नैतिकता महत्त्वपूर्ण है, साधनों की नहीं। इस विचारधारा के समर्थकों में कौटिल्य, मैकियावली, बैंथम, स्टालिन, लेनिन आदि आते हैं।

साध्य–साधन के संबंध में प्रस्तुत विचार को कई दार्शनिकों ने अस्वीकार करते हुए कहा कि साधन यदि औचित्यपूर्ण है तो साध्य स्वतः औचित्यपूर्ण हो जाएगा। इन विचारकों के अनुसार शुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति के लिये शुद्ध साधनों का होना आवश्यक है, क्योंकि जितना महत्त्व साध्य का है उतना ही साधनों का। उचित साधनों से ही उचित लक्ष्य की प्राप्ति संभव है। इस दृष्टिकोण के विचारकों में मुख्यतः महावीर, बुद्ध आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

महात्मा गांधी नैतिक आदर्शवादी विचारक थे। उन्होंने भी साध्य–साधन विवेक के संबंध में अपने विचार प्रकट किये थे। उनके साध्य–साधन विचारों का बीजतत्त्व गीता की 'निष्काम कर्म' की अवधारणा थी जिसमें फल की अपेक्षा कर्त्तव्य पर बल दिया गया है। इसी आधार पर वे साधनों की पवित्रता में आस्था रखते थे। उन्होंने इस विचार को स्वीकार नहीं किया कि साधनों की शुद्धता का विवेक रखने की बजाय साध्य प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिये तथा साध्य की पवित्रता साधनों को भी पवित्र बना देती है। वस्तुतः दोनों ही शुद्ध होने चाहिये। साधनों की श्रेष्ठता को निरूपित करने के लिए गांधी कई प्रकार की युक्तियां प्रस्तुत करते हैं–

3-1 v'k) lk/ku dk ifj.kke Hkh v'k)

गांधी कहते हैं जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा। अशुद्ध साधनों का परिणाम भी अशुद्ध होगा। असत्य आचरण के आधार पर कोई सत्य तक नहीं पहुंच सकता है। सत्य तक सत्य–अहिंसा के आचरण द्वारा ही पहुंचा जा सकता है। कोई कहता है साधन तो साधन है, लेकिन गांधी कहते हैं कि साधन ही सबकुछ है। जैसा साधन होगा वैसा साध्य प्राप्त होगा। गांधी कहते हैं कि दो विश्व युद्धों का दुखद इतिहास और वर्तमान जीवन का अनुभव भी यही बताता है कि हिंसा से अधिक हिंसा, घृणा से अधिक घृणा, प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा का ही जन्म होता है। इसलिये यदि शुद्ध व सही साध्य की प्राप्ति करनी है तो साधनों की पवित्रता को नजर अंदाज करना औचित्यपूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि कोई अशुद्ध साधनों द्वारा शुद्ध साध्य की प्राप्ति का प्रयास करता भी है तो इसका प्रभाव विधायक नहीं रहेगा। कभी–कभी ऐसा लगता है कि हिंसा, धूर्त, कुटिल नीतियों की सत्य–प्रेम–न्याय पर विजय हो गई, लेकिन यह जीत आंशिक व क्षणिक ही होती है व इसके लाभ दिखावे भर के होते हैं। सत्य पर जीत असत्य के माध्यम से नहीं, सत्य के माध्यम से ही पाई जा सकती है।

गांधी ने कहा कि मनुष्य का अधिकार केवल साधनों पर है साध्य पर नहीं। ईश्वर ने हमें साधनों पर ही नियंत्रण दिया है, वह भी सीमित मात्रा में। साध्य पर तो हमारा अधिकार है ही नहीं। लक्ष्य की प्राप्ति भी ठीक उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में हमारा साधन होता है। इसका समर्थन गीता के

'कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' से भी होता है जिसके अनुसार हमें कर्म करने का अधिकार है, फल पर हमारा अधिकार नहीं है। यहां कर्म साधन है व फल साध्य। गांधी के अनुसार हम ईश्वर की वीणा के तार हैं, वह जैसा चाहे हमें आगे–पीछे कर सकता है। हमें केवल साधनों के ज्ञान से ही संतुष्ट होना पड़ता है। और यदि वे शुद्ध हैं तो हमें साध्य का ख्याल छोड़ देना चाहिये। यदि हम साधनों का ख्याल रखेंगे तो लक्ष्य की सिद्धि निश्चित है। गांधी के शब्दों में, ''तर्क के लिये यह कहा जा सकता है कि साध्य प्राप्ति की यह आवश्यकता से भी अधिक लम्बी राह है परंतु मेरे लिये यह सबसे छोटी राह है।''

3-2 lk/; vkj lk/ku e vUrlZEcU/k

गांधी साध्य और साधन में अन्योन्याश्रय संबंध स्वीकारते हुए कहते हैं कि साध्य और साधन एक ही है। वास्तव में ये दोनों सापेक्ष पद हैं अतः कभी साधन साध्य और कभी साध्य साधन बन जाते हैं। इनकी तुलना वृक्ष और बीज से की जा सकती है। साधन बीज है व साध्य वृक्ष। उत्तम बीज के बिना उत्तम वृक्ष का होना असंभव है। अतः उत्तम साधनों के बिना उत्तम साध्य की कल्पना करना व्यर्थ है। नैतिक कर्मवाद भी यही शिक्षा देता है कि अच्छे कर्मों से ही अच्छे फल प्राप्त होते हैं। चूंकि साधन और साध्य परस्पर संबंधित हैं व उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है, इसलिये वास्तविक व स्थायी सफलता के लिये साधनों का शुद्ध होना अत्यावश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा था कि ''साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाते हैं।''

प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले के अनुसार, नैतिकता के निर्धारण में साधन का अपना स्वाभाविक मूल्य है। इसी प्रकार साधन का विचार साध्य के मूल्यांकन का भी आवश्यक अंग है क्योंकि साधन द्वारा स्वयं ही वास्तविक मूल्यांकन हो जाता है। यदि साधन न्यायपूर्ण शुद्ध व पवित्र है तो साध्य निश्चित ही सत्यपूर्ण, न्यायसंगत व शुद्ध होगा।

3-3 lk/kuksa dh ifo=rk

साधनों की पवित्रता का समर्थन प्राचीन ग्रंथों में भी मिलता है। मनु ने कहा है कि 'अधर्म से प्राप्त समृद्धि और सौरभ प्रकट रूप में जो भी हो उसका अंत में समूल विनाश निश्चित है।' महाभारत भी धर्म के विनाश में सबका विनाश देखता है। आधुनिक विचारकों में पं. नेहरू ने कहा था कि ''यदि साध्य ठीक भी हो परंतु साधन गलत है तो वह साध्य को बिगाड़ देगा और गलत दिशा में मोड़ देगा।' प्रो. रामजी सिंह भी कहते हैं कि ''अनैतिक साधनों के आधार पर प्राप्त सफलता सच्ची नहीं, क्योंकि इसमें तो हम पहली ही अनैतिकता की विजय और नैतिकता की पराजय स्वीकार कर लेते हैं।गांधी कहते हैं कि व्यवहारिक दृष्टि से साध्य की तुलना में साधन अधिक महत्त्व रखते हैं। सामान्यतः साध्यों के संबंध में सभी मतैक्य होते हैं। सभी चाहते हैं कि विश्वशांति, विश्वबंधुत्व, प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व प्रेम, कल्याण सर्वत्र व्याप्त हो। लेकिन वास्तविक भेद तब उभरता है जब साधनों की बात आती है। कुछ लोग शांति, प्रेम से प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं, और कुछ लोग शांति व प्रजातंत्र के लिये तानाशाही को स्वीकारने में भी नहीं हिचकते। इस प्रसार साध्य की अपेक्षा साधन अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। साध्य इसी बात पर निर्भर करता है कि आपने उसकी प्राप्ति के लिये कैसा कदम व साधन अपनाए हैं। डॉ. रामजी सिंह भी इसी संदर्भ में कहते हैं ''आज साधनों की समस्या इतनी

प्रधान हो गई है कि बीसवीं सदी की मानवीय सभ्यता का इतिहास साध्य की सिद्धि के लिये साधनों के उपयोग का इतिहास होगा।''

गांधी कहते हैं कि साधनों की पवित्रता केवल साध्य को ही अपवित्र नहीं करती वरन् साधक को भी भ्रष्ट बना देती है। समाजशास्त्री भी इस बात को स्वीकारते हुए कहते हैं कि जब हिंसा, अनीति, मनुष्य के जीवन व अधिकार की उपेक्षा को उचित मान लिया जाता है तो हम उन्हें केवल उनके साध्य विशेष तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। वे जीवन के अन्य साध्यों व क्षेत्रों को भी प्रभावित करते हैं। वे अंततः साध्य के अनिवार्य अंग बन जाते हैं और इनके परिणामों को सहन करना ही पड़ता है। इस संदर्भ में मार्क्सवाद का निरूपण भी आवश्यक है। सामान्यतः मार्क्सवाद के संबंध में आम धारणा है कि वे स्वीकारते हैं कि साध्य साधनों को औचित्यपूर्ण ठहराते हैं। किंतु मार्क्सवाद अनिवार्यतः अनुचित साधनों के उपयोग को अपना सिद्धांत नहीं मानते हैं। अपने उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए न्याय, सत्य, दया, बंधुत्व, मैत्री जैसे भावों को मार्क्स गलत नहीं मानता था केवल इनका उपयोग समय, स्थान और अवसर के अनुकूल करने पर बल देता था ताकि मानव को स्वतंत्र, पूर्ण विकसित तथा प्रतिष्ठित रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर किया जा सके। किंतु कालांतर में मार्क्सवाद के प्रयोगों में विकृति आने के कारण मार्क्स का राज्यविहीन राज्य का स्वप्न यथार्थ न हो सका, क्योंकि निश्चित रूप से इनके साधनों में विकृति का समावेश हो चुका था। वास्तव में, विकृति मार्क्सवाद में न होकर उसके प्रयोगों में थी। इसलिये यथार्थ में मानव कल्याण इसी में है कि वे हिंसा को अहिंसा से, घृणा को प्रेम से, शत्रुता को मैत्री से तथा युद्ध व संघर्ष को शांति से पराजित करना सीखें, तभी हम अपने सर्वोच्च साध्य की प्राप्ति में सफल हो सकते हैं।

गांधी ने सदैव इन विचारों का समर्थन किया क्योंकि यही मानव जाति की उन्नति का मार्ग है। उदाहरणतः भारतीय शास्त्र परम्परा के अनुरूप गांधी भी मानव का लक्ष्य मोक्ष को मानते थे। इस संदर्भ में उनका मानना था कि अपने देश की सेवा तथा इसके माध्यम से सम्पूर्ण मानवता की सेवा के लिये निरन्तर प्रयासरत रहना ही मुक्ति का मार्ग है। मनुष्य में साधन शुद्धि का विवेक जागृत हो सके इस हेतु गांधी ने एकादश व्रत का निरूपण किया। इन व्रतों में पहले पांच व्रत शाश्वत व सार्वभौमिक हैं, जिनकी सार्थकता हर काल में समान हैं तथा अन्य छः गांधी ने तात्कालिक परिस्थिति के संदर्भ में अपने अनुभव के आधार पर निर्धारित किये हैं। गांधी ने अपने साध्य–साधन संबंधी मान्यता को जीवन के हर क्षेत्र में प्रयुक्त किया है। वे मानते थे कि मनुष्य का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में बंटा हुआ है, लेकिन वह अपनी मान्यताओं को यदि सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त कर सके तो यह उसके सिद्धांतों की सार्वभौमिकता व सत्यता के संबंध में संदेह उत्पन्न करता है। इसलिये गांधी ने शुद्ध साधन अर्थात् सत्य अहिंसा के प्रयोग के द्वारा जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। आज के युग में यद्यपि दोनों ही मान्यता प्रचलित है लेकिन जनमानस का झुकाव इसी तरफ है कि साध्य प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधनों के प्रयोग वांछनीय है। लेकिन यह मान्यता क्षणिक व अथायी है। वृहद् व दीर्घ लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि साधनों की शुद्धता का विवेक रखा जाए, क्योंकि तभी हम स्थायी, शुद्ध व पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो पायेंगे।

4- VLVhf'ki dk fl)kUr

महात्मा गांधी की धमनियों में भारतीयता, मानवता एवं आध्यात्मिकता का संचरण था। भारतीयता उसका संस्कार ही था। माता–पिता परिवार एवं समाज का प्रभाव उन पर था। सनातन धर्म में उनका शिक्षण हुआ था।

करुणा उनके हृदय की शक्ति थी। इसीलिए ''वैष्णवजन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे, पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न जाणे रे'' यह उनका सर्वप्रिय भजन था। अनासक्ति और सम्यक् प्रयोग उनके गीताबोध से स्पष्ट होता। रामराज्य की कल्पना, रामायण से उनको अपार शक्ति प्राप्त होती है। उनके मानस, उनकी वाणी और उनके कर्म में ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'' एक होकर सभी क्षेत्रों में प्रकट होते हैं। भारत की धार्मिक परम्पराओं से प्रेरित होकर जब वे विश्व की ओर देखते हैं तो उन्हें ईसा मसीह, साक्रटीज, अन्य महापुरुष अपने सही स्वरूप में दिखाई देते हैं।

4-1 VLVhf'ki dk vFk o Lo:i

ट्रस्टीशिप या धरोहरदारी की भावना उच्च चरित्र की निशानी है। अमीरों को चाहिए कि वह अपने धन को अलग और दूर रखते हैं उससे उनका भविष्य अन्धकारमय दीखता है। अमीरों को धन के गर्व में अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोना चाहिए, क्योंकि धन तो उनका है ही नही। हर अमीर और धनाढ्य को यह बात गांठ बांध रखनी चाहिए कि मनुष्य पहले है और सेठ साहूकार बाद में।

प्रत्येक व्यक्ति समाज में एक दूसरे की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता से सम्पत्ति या भौतिक वस्तुओं का अर्जन करता है। मनुष्य की कोई भी शक्ति बिना एक दूसरे की सहायता के अर्जित नहीं होती। सभी के पास पेट और शरीर की प्राथमिक आवश्यकतायें है। इन आवश्यकताओं की किसी देश और समाज में पूर्ण तृप्ति होती है और किसी में नहीं। ऐसी स्थिति में उत्पादित शक्ति का कुछ भाग किसी न किसी रूप में समाज के कुछ समर्थ व्यक्तियों के पास सम्पत्ति या धन के रूप में एकत्रित हो जाता है। वह व्यक्ति तो केवल थाती के रूप में अपने पास रखता है ताकि उसका प्रयोग समाज के लिए किया जा सके। सन्त बिनोवा भावे के 'दान' की आधार शिला यही थातेदारी का विचार है। भूमि, संपत्ति, श्रम, बुद्धि, साधन, यह सब व्यक्ति विशेष के पास संरक्षण के लिए रखा हुआ है। व्यक्ति विशेषज्ञ उसे समाज को लौटा दे। वह उसके उपभोग के लिए नहीं है। यह एक समाज परिवर्तन का आर्थिक विचार है। इनके द्वारा मनुष्यों के संपत्ति के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसका स्पष्टीकरण होता है। प्राचीनकाल में स्वामित्व और सम्पत्ति दोनों प्रतिष्ठा और पराक्रम के प्रतीक थे। व्यवस्थित व्यय स्वयं प्रेरणा, अभिक्रम, उद्योगशीलता और पुरुषार्थ से सम्पत्ति और स्वामित्व की प्राप्ति होती है। पुराने अर्थशास्त्र में जीवन, सम्पत्ति और सुख ये तीन मनुष्य के मौलिक अधिकार है। लेकिन समाजवादी विचारधारा ने इस विचार का खण्डन किया। उन्होंने सम्पत्ति को शोषणरूप माना। सम्पत्ति को चोरी माना, सम्पत्ति को हत्या माना। इस प्रकार से पुराने आर्थिक विचार में और समाजवादी विचार में एक घोर मतभेद उत्पन्न होता है।

महात्मा जी ने अपने एकादश व्रत में इस विचार को जोड़ दिया और परिग्रह स्तेय है ऐसा उन्होंने माना। परिग्रह के दो प्रमुख कारण हैं एक लोभ तथा दूसरा रक्षा। क्योंकि समाज में आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं है। सम्पत्ति न तो पूर्णतया लोभ का परिणाम है न तो पूर्णतया मनुष्य के पुरुषार्थ या मितव्ययिता का परिणाम है, इसका प्रमुख कारण यह पूंजीवादी समाज है जो मनुष्यों की आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं देता है। इसलिए लोग संग्रह करते हैं और इस संग्रह को इसलिए चोर कहा जा सकता है कि एक तरफ तो अभाव आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं देता है। इसलिए लोग संग्रह करते हैं और इस संग्रह को इसलिए चोरी कहा जा सकता है कि एक तरफ तो अभाव आवश्यकता है और दूसरी तरफ आधिक्य और विपुलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति और स्वामित्व चोरी और अनैतिकता है। गांधी जी ने इसमें एक कड़ी और जोड़ दी और कहा कि जो उत्पादक बिना शरीर श्रम किये खाता है वह चोर

है। उन्होंने यह बराबर माना है कि जिसके पास सम्पत्ति होती है वह सदैव दुष्ट नहीं होता है। इसलिए थातेदारी का सिद्धान्त उन्होंने रखा। अस्तेय और परिग्रह आर्थिक संयोजन का होना चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति और स्वामित्व के कुप्रभावों और विकृत स्वभाव से अधिकांश अर्थशास्त्री ऊब गये हैं, इसलिए जान स्टुअर्ट मिल ने भी कहा है कि यदि व्यक्तिगत स्वामित्व एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के शोषण के उपकरण बनते हैं तो इन्हे हड़प लेना चाहिए। हेनरीजार्ज ने 'प्रोग्रेस आफ पावर्टी' अपनी पुस्तक में भी इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। गांधीजी ने अपरिग्रह अस्तेय को थातेदारी के सिद्धांत में मिला दिया है। समाजवादियों ने तो अपने वर्गभाव में स्वामित्व और सम्पत्ति को श्रमिक वर्ग के हाथ में दे दिया और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। लेकिन अमीरों और पूंजीपतियों के वर्ग से सम्पत्ति और स्वामित्व को छीनकर श्रमिकों के हाथ में दे देना यह भी उसी प्रकार से अनर्थकारी हैं जैसी पहले की व्यवस्था। इस अनर्थ को मिटाने का उत्तर थातेदारी के सिद्धान्त में प्राप्त होता है। विशेषकर लोकशाही में, जिसमें सत्ता तो लोक–मूलक हो गयी, सार्वत्रिक हो गयी, परन्तु सम्पत्ति लोक–मूलक नहीं हुई, यह व्यक्तिगत है। यह विरोध है और यह विरोध भी अब अधिक नहीं टिक सकता। इसलिए अब कोई विकल्प नहीं है, सिवाय इसके कि हम कहें कि हम अपनी सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति मानते हैं।

सामाजिक परिस्थिति या स्वयं के पुरुषार्थ से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हो उसे वह धरोहर माने। इसी प्रवृत्ति का नाम ट्रस्टीशिप है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति और स्वामित्व है, उसे वह अपने उपभोग के लिए न समझे और न तो उसे ब्याज, किराया मुनाफा, ठेका या दलाली द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करें। इस थातेदारी के सिद्धांत को गांधी जी ने सामाजिक परिवर्तन का साधन माना। गांधी जी अस्ते और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धांतों को थातेदारी में इस प्रकार जोड़ देते हैं कि स्वामित्व और सम्पत्ति की भूमिका और इस इसका आशय ऐसा परिवर्तित होता है कि स्वामित्व और सम्पत्ति का लगभग विसर्जन हो जाता है।

आज के समाज में अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि मजदूर को 'पूंजी' काम देती है। इसलिए पूंजी मालिक है और मजदूर नौकर है। इस आशय को गांधी जी बदल देते हैं। वे परिश्रम को प्रधानता देते हैं। परिश्रम प्रधान है और परिश्रम पूंजी का उपभोग करेगा। श्रम के लिए पूंजी का प्रयोग होना चाहिए न की पूंजी के लिए श्रम का। यहां पर ट्रस्टीशिप का सिद्धांत एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। जिस प्रकार से यह हमारा शरीर ट्रस्टी है उसी प्रकार के समस्त वस्तुएं ट्रस्टी के रूप में है। इससे एक नई भावना पैदा होती हैं कि हर मनुष्य अपनी शक्ति भर काम करेगा और केवल आवश्यकता भर उपभोग करेगा। जब यह भाव मनुष्य में पैदा होगा तो वह अपने को स्वामित्व और सम्पत्ति से स्वतः अलग कर लेगा। प्रत्ये मनुष्य अपनी स्वतंत्र प्रेरणा से अपनी शक्ति व रुचि के अनुसार उन्नतिशील ढंग से काम करेगा और अधिक से अधिक समाज को देगा और कम से कम उससे लेगा। यह प्रत्यार्पण की भावना मनुष्य जब अपने मन में लाता है तो अपनी कला, प्रतिभा और श्रम समर्पित कर देता है, जैसे व्यक्ति अपने कुटुम्ब, अपने पड़ोसियों के लिए समर्पण की भावना रखता है। उसे गांधी जी ने अर्थ शास्त्र की भाषा में स्वदेशी कहा है। सन्त विनोबा भावे ने तीन मातायें माना है– जननी, जन्मभूमि और गाय इसलिए इन तीनों की मालकीयत नहीं हो सकती।

आज का अर्थशास्त्र अन्न से ज्यादा महंगा कच्चा माल, कच्चे माल से महंगा पक्का माल से महंगा व्यापारिक माल को मानता है इस आज के अर्थशास्त्र को गांधी जी ने उलट दिया है, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत इस अन्न को प्रदान किये गये महत्व को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। इसीलिए गांधीजी का अर्थशास्त्र से भिन्न पड़ता है। आज का अर्थशास्त्र गांधीजी का अर्थशास्त्र आज के अर्थशास्त्र से भिन्न पड़ता है।

आज का अर्थशास्त्र अभाव और अकाल के समय जो कन्ट्रोल और राशनिंग करता है, उसके पीछे भी थातेदारी का सिद्धांत और उसके द्वारा आवश्यक वस्तुओं को सबको उपलब्ध कराया जाता है। समाजवाद और साम्यवाद में सम्पत्ति के निर्माण करने के साधनों का स्वामित्व न तो व्यक्तिगत होगा और न कौटुम्बिक स्वामित्व होगा। लेकिन भोग्य और उपयोगी वस्तुओं का यह स्वामित्व कभी–कभी हमें अतिसंग्रह की ओर ले जाता है यह अतिसंग्रह कुसंस्कार और दोष है, क्योंकि मनुष्य की उपभोग क्षमता सीमित होती है। ये उपभोग की वस्तुएं सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक बनती है, लेकिन जैसे–जैसे मनुष्य का सांस्कृतिक विकास होता है वैसे–वैसे इन उपभोग्य वस्तुओं के कारण सामाजिक प्रतिष्ठा कम होती चलती है। लेकिन मनुष्य का यह स्वभाव नहीं है, क्योंकि भोग क्षमता सीमित होने के कारण मनुष्य भोग्य पदार्थों के संग्रह को मर्यादित कर देता है। ट्रस्टीशिप का सिद्धांत इन भोग्य पदार्थों को भी ट्रस्टी के रूप में देखता है और वस्तु के प्रति आदर की भावना, वस्तु को सपर्मण करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति में पैदा कर देता है। ज्योंही इनके प्रति आदर की भावना होती है त्योंही इनका दुरुपयोग समाप्त हो जाता है और हम सभी वस्तु को बरबाद और नष्ट नहीं होने देते।

वस्तुओं का उपभोग मर्यादित होना चाहिए, ताकि भोग शक्ति क्षीण न हो। सभी वस्तुएं परिमित तथा मर्यादित है। मन तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है। ऐसा न होने पर कभी–कभी मनुष्य की सम्पत्ति और उसके स्वामित्व की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि वह प्राणी और मनुष्य के प्रति सहानुभूति की भावना को छोड़ देता है। सम्पत्ति के लिए भाई–भाई का गला घोटता है। निर्जीव वस्तु के प्रति आदर मनुष्य तथा भाई से बढ़कर हो जाता है। थातेदारी के सिद्धांत में मनुष्य अपने साथ के प्राणियों को कष्ट नहीं देता। उनके सुख का ध्यान रखता है। साथ ही अपने साथ काम करने वाले लोगों को उतनी ही प्रतिष्ठा तथा मालकियत प्रदान करता है जितनी स्वयं को। वह सभी को हिस्सेदार मानता है। पुनः अपने बाद वह सारी सम्पत्ति भूमि आदि का स्वामित्व यदि उसके बाद उसके वंश में कोई नहीं होता तो वह दूसरों को देना स्वीकार करता है। यह है मनुष्य की सहज बुद्धि तथा सहज प्रेम की भावना कोई भूमि या सम्पत्ति बाजार में खरीदी–बेची नहीं जाती। उससे उत्पादित वस्तु विनिमय के लिए नहीं अपितु आवश्यकता की तृप्ति के लिए होती है।

अन्त में यही सर्वोत्तम मंत्र है 'त्येन त्यक्तेन भुंजीथा' त्यागकर उसका भोग करो। इसका अर्थ यह है मनुष्य भले ही करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित करे, परन्तु यह बराबर ध्यान रखे कि यह अर्जित सम्पत्ति उसकी नहीं है, अपितु सारे समाज की है। उसमें अपनी उचित आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए कुछ रखकर शेष सारी सम्पत्ति सारे समाज को अर्पित कर दे। इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में होनी चाहिए। उसके पास जो कुछ भी है वह उसका ट्रस्टी है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके पास कोई न कोई शक्ति न हो। ये जितनी शक्तियां हैं, उन सबका मनुष्य समाज में स्वामी बनकर इसका केवल ट्रस्टी बने। ये शक्तियां उसे इसलिए प्राप्त हुई है कि इनके द्वारा वह उत्पादन करे और अपनी आवश्यकता के अनुकूल इनका उपयो करे। वह उन शक्तियों की वृद्धि और संरक्षण करे ताकि अधिक से अधिक समाज आर्थिक कल्याण की वृद्धि की कल्पना साकार कर सके, जिससे आज के जघन्य स्वार्थ, विरोध, आर्थिक संघर्ष समाप्त हो जाये और एक नये आर्थिक सभा का विकास हो। इस विषय में दो मत नहीं हैं कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को ऐसा समझेगा तब समाज से सर्वोदय की अर्थव्यवस्था होगी और उसके तीन आधार होंगे–

- अहिंसा,
- शोषणविहीन,
- समता।

ये उपरोक्त आधार अभी प्राप्त होंगे जब मनुष्य अपनी इच्छाओं का नियमन करेगा। सेवामूलक स्वामित्व रहेगा, सेवाशून्य स्वामित्व नष्ट होगा।

4-2 VLVhf'ki d mí';

गांधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

- ट्रस्टीशिप एक साधन है जिसके द्वारा वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को समता की सामाजिक व्यवस्था में बदला जा सकता है। ट्रस्टीशिप वर्तमान स्वामी वर्ग को, अपने को शुद्ध करने और सुधारने का अवसर प्रदान करता है। यह सिद्धान्त इस बात में अटल विश्वास रखता है कि मनुष्य की प्रकृति में सामाजिक आर्थिक भावना अर्थात् परमार्थ की भावना स्वाभाविक एवं शाश्वत है। आज कितना भी स्वार्थी व्यक्ति हो, इस सिद्धान्त के द्वारा उसमें आन्तरिक हृदय एवं भावनाओं का परिवर्तन होता है।
- यह सिद्धान्त किसी भी व्यक्तित्व सम्पत्ति के स्वामित्व को मान्यता नहीं देता है केवल उसी सीमा तक स्वामित्व का अधिकार स्वीकार किया जायेगा जिस सीमा तक समाज सबके कल्याण को देखते हुए स्वामित्व की स्वीकृति देगा। जिस स्वामित्व में पूरा समाज लाभान्वित होता है उसी प्रकार का स्वामित्व सीमित और मर्यादित रूप में स्वीकार किया जा सकता है।
- यह सिद्धान्त उन राजकीय कानूनों को भी नहीं स्वीकार करता जिसमें राज्य द्वारा स्वामित्व के नियम और सम्पत्ति के भोग का निर्देश होता है। दूसरे शब्दों में राजकीय कानून द्वारा निर्धारित स्वामित्व को भी यह नहीं मानता है। अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के उपभोगार्थ प्रयोग में स्वतंत्र नहीं होगा। यदि वह अपनी सम्पत्ति का उपभोग अपने घोर स्वार्थ की तृप्ति के लिए करता है और सामाजिक स्वार्थ को अपने समक्ष नहीं रखता तो समाज उसे ऐसा नहीं करने देगा।
- यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना आवश्यक मानता है और उसके एक निर्वाह योग्य, कुशल क्षेम के लिए साधन भी निर्धारित करता है, ताकि कोई भी व्यक्ति समाज में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए दुःखी न हो सके। साथ ही साथ एक अधिकतम आयी की सीमा भी समाज में निर्धारित करता है। प्रत्येक व्यक्ति साधन सम्पन्न होते हुए भी देश की परिस्थिति के अनुकूल उसमें से केवल एक सीमित आय का उपभोग एवं प्रयोग अपने लिए करेगा। यहां न्यूनतम और अधिकतम में जो अन्तर है वह उचित हो और परिवर्तनशील हो। न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर वर्तमान परिस्थिति में एक संक्रमणकालीन सिद्धान्त होगा। इसका अन्तिम लक्ष्य यही है कि धीरे–धीरे वह न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर ही समाप्त हो जाय।
- इस सिद्धान्त के अनुसार जो उत्पादन होगा वह केवल व्यक्तिगत लाभवासना से बिल्कुल नहीं होगा, बल्कि उसके पीछे उत्पादन की आधारशिला सामाजिक आवश्यकता होगी, ताकि प्रत्येक अपनी शक्ति को सामाजिक हित में लगाये।

- प्रत्येक नागरिक का मर्यादित जीवन होगा ताकि वह अपनी आर्थिक शक्ति का सही प्रयोग कर सके। यदि कोई व्यक्ति इन शक्तियों का दुरुपयोग करता है तो वह अपने व समाज के प्रति अन्याय करता है और उसे अनैतिक कार्य माना जायगा। अपने कर्त्तव्य का वह उचित पालन नहीं करता, इसलिए समाज को यह अधिकार है कि उसे बर्बादी करने से रोके।
- प्रत्येक व्यक्ति उस सम्पत्ति का जो उसके पास है स्वामी नहीं होगा, बल्कि उस सम्पत्ति का प्रयोग समाज के लिए उत्तरदायी होगा। उस सम्पत्ति में से एक मर्यादा के भीतर ही कुछ भाग वह स्वयं के उपयोग में लायेगा और अन्य भाग को समाज के प्रयोग में लगायेगा।
- प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होगा। शरीर की रक्षा करना एक तप है, जिससे कि व्यक्ति समाज का अधिक से अधिक हित कर सके। यह उसका पुनीत कर्त्तव्य है उसका दूसरा कर्त्तव्य समाज के प्रति है। जो भी वह उत्पादन करेगा वह समाज को समर्पित करेगा। वह स्वामी नहीं होगा, अपितु सारे उत्पादन को सही दिशा में ले जायगा और उस उत्पादन को समर्पित करके तब समाज की स्वीकृत से उसका उपयोग करेगा। तीसरा कर्त्तव्य व्यक्ति का प्रकृति के प्रति है। प्रकृति की दी हुई शक्तियों को बर्बाद न करना बल्कि उन्हें संरक्षण प्रदान करना। उसका ही प्रयोग करना, जितना आवश्यक हो। प्रकृति के साधन सबके लिए उपलब्ध हों। किसी प्रकार से प्राकृतिक साधनों की बर्बादी न हो सके उसके लिए व्यक्ति उत्तरदायी होगा। इस प्रकार से स्वयं व्यक्ति तथा समाज के लिए जो वस्तुएं या शक्तियां अपेक्षित हैं उन सबका ट्रस्टी व्यक्ति होगा इस अर्थ में कि उसका उपभोग सारे समाज के लिए उपलब्ध हो सके और समाज की कर्तृत्वशील निरन्तर बढ़ती रहे।
- यदि कोई व्यक्ति ट्रस्टीशिप के इस सिद्धान्त की अवहेलना करता है तो ऐसी स्थिति में समाज को यह अधिकार है कि उसकी इस शक्ति का प्रयोग स्वयं अपनी देखरेख में करें। इस प्रकार से मनुष्य की आर्थिक शक्ति का प्रयोग सामाजिक हिम में कराने का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।
- गांधी जी के अनुसार, 'मनुष्य उन दिव्य शक्तियों को खो बैठेगा, जिनके द्वारा उसे सम्पत्ति संग्रह का हूनर मालूम रहता है। अहिंसात्मक असहयोग ही एक ऐसा अचूक साधन है, जो ट्रस्ट पद्धति को ला सकता है, क्योंकि समाज में धनवादन बिना गरीब के सहयोग के धन संग्रह नहीं कर सकता है'।

4-3 V'LVhf'ki&Fkkr nkjh mÙkjnkf;Ro

ट्रस्टीशिप का अर्थ नहीं है कि परम्परा से एवं परिस्थिति से जो धन किसी व्यक्ति को प्राप्त हो गया है। उसे दूसरे का धन समझकर उससे मुक्त हो जाय। मनुष्य उसे अपनी सम्पत्ति न समझे। धनिकों के लिए, मालिकों के लिए ट्रस्टीशिप का यही अर्थ है कि संग्रह का विसर्जन करना है। केवल धनिक ही नहीं, वरन् श्रमिक भी अपने को अपने श्रम का ट्रस्टी माने। इसीलिए हरेक मनुष्य को यह समझना चाहिए कि जो कोई अर्जित करता है और अपने श्रम से अर्जित करता है उस पर अधिकार नहीं है। उसका उस वस्तु की आवश्यकता पर अधिकार है। उसका उसकी भूख पर अधिकार है, जिसके लिए वह श्रम करता है। गरीब आदमी भी यदि अपनी रोटी कमाता है, जो उस रोटी पर उसका अधिकार नहीं है वरन् भूख पर उसका अधिकार है। यदि कोई पड़ोसी भूखा है तो उसे रोटी बांटकर खाना, उसे रोटी देकर खाना चाहिए, यही

ट्रस्टीशिप की भावना है, पूर्णादर्श है। पूंजीवाद में उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत संग्रह होता है, लेकिन साम्यवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों का संग्रह कोई नहीं कर सकता, उपभोग की वस्तुओं का संग्रह हो सकता है। इसलिए कि उपभोग की वस्तुओं का संग्रह एक विशेष मात्रा से अधिक नहीं हो सकता। गांधी जी ने उससे आगे की बात कही और उन्होंने उपवास का व्रत सिखाया।

इसी आधार पर जो सामाजिक निर्माण होगा वह इसी व्रत पर आधारित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को ट्रस्टी समझे ताकि समाज में सबका निर्वाह हो सके। भूखे को रोटी मिले, नंगे को तनभर वस्त्र मिले, लेकिन समाज में यह भीख के रूप में न मिले। पहला चरण यही होना चाहिए, इनके उपरान्त समाज में यह भीख के रूप में न मिले। पहला चरण यही होना चाहिए, इनके उपरान्त समाज में सभी के सहयोग से सभी अपनी–अपनी शक्तियों पर अपना कर्त्तव्य समझकर उत्पादन में वृद्धि करें। जब अधिक उत्पादन हो तो हम उसके अधिकारी न बनें, बल्कि दूसरों की आवश्यकताओं को हम ध्यान में रखें और दूसरा हमारी आवश्यकताओं पर ध्यान दें।

ट्रस्टीशिप के सम्बन्ध में गांधी ने कहा था कि– ट्रस्टीशिप का मेरा सिद्धान्त कोई फिसलने वाली चीज नहीं है, और न वह कोई गोरखधंधा ही है। मुझे विश्वास है कि वह अन्य और सिद्धान्तों के बाद तक जीवित रहेगा, क्योंकि वह तत्वदर्शन और धर्म के आधार पर स्थित है। यदि सम्पत्तिवानों ने अभी तक उसका अनुपालन नहीं किया, तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि सिद्धान्त की असत्य है, उससे तो धनवानों की कमजोरी ही सिद्ध होती है। अहिंसा से मेल रखनेवाला अन्य दूसरा सिद्धान्त है ही नहीं। यदि ट्रस्टी, ट्रस्टी के कारोबार में गफलत करे तो राज्य को अधिकार होगा कि ट्रस्ट सम्पत्ति उसके अधिकार में ले लें। इस दृष्टि से यदि जमींदार या पूंजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाय और जनता की ओर से स्वतंत्र प्रयत्न अपर्याप्त हो, तो स्टेट भिन्न–भिन्न प्रकार की जमींदारी प्रथाओं का खात्मा कर दे और मजदूरों के प्रतिनधियों के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबन्ध ग्रहण करे।

गांधी जी के शब्दों में भूमि मैं थातेदारी का अर्थ है–भूमि में ट्रस्टीशिप का मतलब है में जमीन को नष्ट नहीं करूंगा। आज मेरे पास जिस रूप में है उससे ज्यादा सुधार कर समाज को दूंगा। भूमि का अच्छा से अच्छा प्रयोग समाज के हित में करूंगा।

गांधी जी ने ट्रस्टीशिप के सिलसिले में उठने वाले प्रश्नों का उत्तर दिया है। उन्होंने कहा कि–

- ट्रस्टी के सिवाय जनता के और कोई अधिकारी नहीं और चूंकि राज्य जन–प्रनिधि कहलाता है, इसलिए राज्य ही जब तक उसकी स्थिति न मिट जाय, ट्रस्ट सम्पत्ति को संभालने वाला होगा।
- ट्रस्टी को ट्रस्ट का कार्यभार सम्हालने की एवज में स्टेट से कमीशन मिलेगा।
- ट्रस्टी, ट्रस्ट–सम्पत्ति की रक्षा अहिंसात्मक तरीके से करेगा।
- यदि ट्रस्टी, ट्रस्ट के कारोबार में गफलत करे, तो स्टेट को अधिकार होगा कि ट्रस्ट–सम्पत्ति अपने अधिकार में ले ले।
- यदि जमींदार पूंजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाय और जनता की ओर से स्वतंत्र प्रयत्न अपर्याप्त हों तो स्टेट भिन्न–भिन्न प्रकार की जमींदारी–प्रथाओं को खात्मा कर दे और मजदूरों के प्रतिनिधियों के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबन्ध ग्रहण करें।

अन्त में उन्होंने कहा– जिस प्रकार यूक्लिड की बिन्दु की परिभाषा है और अप्राप्य होती है, उसी प्रकार पूर्ण ट्रस्टीशिप (निक्षेपाधिकारत्व) एक अमूर्त भाव है लेकिन यदि हम प्रयत्न करें तो हम अन्य साधनों की अपेक्षा उसके द्वारा पृथ्वी पर साम्यानुभव की ओर आगे बढ़ने के योग्य होते जायेंगे।

5- Je ehekl k

गांधी जी ने श्रम अर्थशास्त्र को नयी भूमिका दी है। इन नयी भूमिका में जितने पिछले अर्थशास्त्रियों के विचार हैं उन्हें जब हम कसते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गांधीजी ने श्रम के प्रतिमूल्य का विचार दिया और कहा कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगा श्रम है। इसलिए श्रम का प्रतिमूल्य उत्पादित वस्तु बन गयी। जिस प्रकार सम्पत्ति का प्रतिमूल्य होता है उसी प्रकार श्रम का प्रतिमूल्य माना जाने लगा। पुनः रिकार्डो जब मूल्य के सिद्धान्त में श्रम का विवेचन करते हैं तो वहां भी इसी प्रतिमूल्य के कारण श्रम का सिद्धान्त क्षीण हो गया। इसके बाद मार्क्स ऐसे विद्वान ने जो कि श्रम मूल्य सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रणेता है, उन्होंने श्रम को प्रतिमूल्य में बांध दिया तो इससे श्रम के अधिकारों और आर्थिक महत्व पर तो वृहद् विवेचन हुआ, परन्तु इसे प्रतिमूल्य में बंधने के कारण इसका नैतिक आधार ही समाप्त हो गया। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि श्रम का सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप न ग्रहण कर सका। श्रम मनुष्य से सम्बन्धित मनुष्य की जीविका का साधन है, पर इससे भी बढ़कर मानवता एवं संस्कृति का प्रेरक स्थल है। ऐसी स्थिति में श्रम का यह सिद्धान्त, मानव समाज के लिए बेकार की वस्तु बन जाता है।

श्रम का प्रतिमूल्य तो हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए मां अपने बच्चे एवं परिवार के लिए श्रम करती हैं तो उसका कोई प्रतिमूल्य नहीं होता। जिस दिन मां अपनी इस सेवा का प्रतिमूल्य लेने लेगेगी उसी दिन मानव सभ्यता एवं संस्कृति का नाश होना प्रारम्भ हो जायेगा। इसीलिए अर्थशास्त्र में श्रम के प्रति मूल्य को होनी चाहिए। जिस प्रकार कि जीवनदायिनी हवा, रोशनी सबको मुफ्त मिलती है, उसी प्रकार अन्न या यों कहें रम से उत्पादित जीवनदायिनी वस्तुएं सबको मुफ्त मिलनी चाहिए। यही मानव जीवन का जीवित सिद्धान्त है। भूखे को अन्न नंगे को वस्त्र, आश्रयविहीन को आश्रय बिना किसी प्रतिमूल्य के प्राप्त हो। जितनी ही तीव्रगति से प्रतिमूल्य का सिद्धान्त समाज में प्रवेश करेगा उतनी ही गति से सभ्यता का ह्रास होगा।

गांधी जी के शब्दों में, ''मेरा सर्वत्र यही अनुभव रहा है कि समान्यतः मालिक की तुलना में मजदूर लोग अपने कर्त्तव्य ज्यादा ईमानदारी के साथ और ज्यादा परिणामकारी ढंग से पूरे करते हैं, यद्यपि जिस तरह से मालिक के प्रति मजदूरों के कर्त्तव्य होते हैं, उसी तरह मजदूरों के प्रति मालिक के भी कर्त्तव्य होते हैं और यही कारण है कि मजदूरों को इस बात की खोज करना आवश्यक हो जाता है कि वे मालिको से अपनी मांग किस हद तक मनवा सकते हैं। अगर हम यह देखें कि हमें काफी वेतन नहीं मिलता था कि हमें निवास की जैसी सुविधा चाहिये, वैसी नहीं मिल रही है, तो हमें काफी वेतन और समुचित निवास की सुविधा कैसे मिले, इस बात का रास्ता ढूंढ़ना पड़ता है। मजदूरों को कितनी सुख–सुविधा चाहिए इस बात का निश्चय कौन करें? सबसे अच्छी बात तो यही होगी कि तुम मजदूर लोग खुद यह समझो कि तुम्हारे अधिकार क्या हैं, उन अधिकारों का मालिकों से मनवाने का उपाय क्या है और फिर उन्हें उन लोगों से तुम खुद ही हासिल करो। लेकिन इसके लिए तुम्हारे पास पहले से ली हुई थोड़ी–सी तालिम होनी चाहिए – शिक्षा होनी चाहिए।''

आज इस युग में जब हम सम्पत्ति के सम–वितरण पर विशेष आग्रह कर रहे है, घोषणा का अन्त करना चाहते हैं, एक ऐसे समाज जिसकी नींव आर्थिक एवं सामाजिक समता, सामाजिक कल्याण हो उसके निर्माण में हम तत्पर हों। उसके निर्माण की स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार से अधिकतम उत्पादन हो और उचित वितरण हो। इसीलिए आज हमारे सामने दो प्रश्न हैं–

- प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार पुरस्कार मिले। दूसरे शब्दों में वह जितना श्रम करता है उसी प्रकार उसे उपभोग का अवसर मिले।
- प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार ही श्रम करें, अर्थात् उतना ही श्रम करे जितनी उसकी उपभोग आवश्यकता हैं।

इन दोनों प्रश्नों पर जब हम सोचते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले में तो आवश्यकता गौण हो जाती है, जो कि उचित नहीं है और दूसरे में सामाजिकता गौण हो जाती है, यह भी उचित नहीं है। तो यह प्रश्न उठता है कि हम इसका समाधान क्या है? इसके लिए तीसरा विकल्प हमारे सामने आता है कि हम योग्यतानुसार श्रम करें और आवश्कतानुसार उपभोग करें। परन्तु सामाजिकता एवं आवश्यकता दोनों को जब हम अपने समक्ष रखते हैं तो ऐसा लगता है कि दोनों से श्रेष्ठ वस्तु मनुष्य की नैतिकता एवं मानवता है। इस नैतिकता एवं मानवता का विकास तभी हो सकता है जब हम संयम का पालन करें। दूसरे जो प्रेरक शक्ति है वह आर्थिक न होकर मानवीय हो।

क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिमूल्य को ही मनुष्य के कार्य करने की प्रेरणा माना। उन्होंने कहा कि अधिक से अधिक प्रतिमूल्य ही मनुष्य को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। मार्क्स ऐसे समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने इस प्रेरणा के लिए सामाजिक भावना को उत्तम मानां श्रम के प्रतिमूल्य की प्रेरक शक्ति से एक कदम आगे बढ़कर सामाजिक भावना की प्रेरक–शक्ति तक आयें परन्तु मार्क्स ने सारी आर्थिक क्रियाओं की नींव में ही सामाजिक शक्ति को निहित कर दिया। इसीलिए उनकी यह सामाजिक प्रेरणा उसी प्रकार से स्वार्थलिप्त होती जिस प्रकार से व्यक्तिगत प्रेरणा। दोनों के स्रोत और दोनों के स्वार्थों में कोई भेद नहीं होता। किसी व्यक्ति का दुःख में तड़पते देखकर जलते देखकर, भूख से पीड़ित देखकर जब हम स्वयं तड़प उठते हैं और बिना अपना स्वार्थ देखे सब कुछ उसको देने के लिए तत्पर हो जाते हैं तो यहां कौन–सी प्रेरक शक्ति हैं? जब मां अपने बच्चे के लिए चौबीस घण्टे सेवा करती है, इसके पीछे कौन सी शक्ति हैं? जब मां अपने बच्चे के लिए चौबीस घण्टे सेवा करती है, इसके पीछे कौन सी प्रेरणा शक्ति है? निःसन्देह यह न तो क्लासिकि अर्थशास्त्रियों द्वारा बताई गई प्रेरक शक्ति है और न समाजवादियों द्वारा बतायी गयी। यह तो मानवीय प्रेरणा से कार्य करते हैं तभी अधिकतम उत्पादन होता है, अधिकतम वितरण होता है, सारा मानव सुखी एवं सम्पन्न होता है। यहां से संस्कृति एवं सभ्यता का विकास होता है।

इसी से सम्बन्धित एक दूसरा प्रश्न है जिसे हम आवश्यकता एवं उपभोग का प्रश्न कहते हैं। जिस प्रकार से श्रम का निरूपण पहले विचार में प्रतिपादित हुआ और वह मानव संस्कृति व सभ्यता के अनुकूल हुआ। उसी प्रकार से आवश्यकता का प्रश्न भी मानवीय पहलू रखता है। एक तरफ मनुष्य की अपरिमित इच्छा है। दूसरी तरफ मनुष्य की सीमित उपभोग शक्ति है। यहीं पर प्रश्न उठता है कि असीमित वासना व इच्छा एवं सीमित उपभोग शक्ति के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाय। दोनों के बीच संयम का होना जरूरी है। यही संयम सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतीक है।

उपभोग का मानव संस्कार से संबंध है। हम असीमित इच्छाओं एवं वासनाओं को एक तरफ और सीमित उपभोग शक्ति को दूसरी तरफ पाते हैं कि और दोनों के मध्य एक संयम की आवश्यकता है। आज जब हम उपभोग को प्रधानता देते हैं तो उसका अर्थ है कि वासना को प्रधानता देते हैं और जब वासना को प्रधानता देते हैं, यानी अपरिमित इच्छाओं को प्रधानता देते हैं, इसमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, शोषण संग्रह आदि भावना सहज ही मैं उत्पनन हो जाती है। ये सब दुर्गुण मानव के नहीं बल्कि उसके विकारों के हैं। इसीलिए उपभोग को मानवता का संकेत नहीं माना जा सकता है। अधिकतम वस्तुओं का उपभोग यदि रहन–सहन के स्तर का मापदण्ड बन जाती हे तो सभ्यता का ह्रास होता है। भोग प्रधान समाज असांस्कृतिक और असभ्य माना जाता हैं, क्योंकि उससे संस्कारों का सृजन नहीं होता। यही कारण है कि जब जब संसार में भोग का आधिक्य हुआ हैं, यानी भोगशील समाज बना हैं तब तब सभ्यता का ह्रास होता है। भोग प्रधान समाज असांस्कृतिक और असभ्य माना जाता हैं, क्योंकि उससे संस्कारों का सृजन नहीं होता। यही कारण है कि जब जब संसार में भोग का आधिक्य हुआ है, यानी योगशील समाज बना हैं तब तब सभ्यता का ह्रास हुआ है। इसीलिए भोग प्रधान जीवन न होकर उत्पादन प्रधान होना चाहिए।

अब तक की आर्थिक पद्धतियों एवं व्यवसायों में हम भोग को ही प्रधानता देते रहे हैं, अब उस प्रधानता को हमें उत्पादन पर लाना होगा और उपभोग में संयम का आवश्कता की प्रधानता देकर समाज के सृजन का प्रयास किया गया उसी से आज की सारी सभ्यता का विकास हुआ, परन्तु सर्वोदय अर्थशास्त्र इन्हें प्रधानता न देकर मनुष्य को प्रधानता देता हे। मनुष्य को प्रधानता देने का अर्थ है कि मनुष्य उत्पादन में अपने पुरुषार्थ को आगे बढ़ाये, अर्थात् श्रम करे। ऐसा उत्पादन करे कि समाज में प्रत्येक को आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक आवश्यकताओं की तृप्ति हो और वस्तुओं की विपुलता हो। जहां तक उपभोग का संबंध है उसमें भी उन्हीं वस्तुओं का उपभोग हो, जो समाज को स्वास्थ्यवर्धक आवश्यकताओं की तृप्ति हो और वस्तुओं की विपुलता हो। जहां तक उपभोग का संबंध है उसमें भी उन्हीं वस्तुओं का उपभोग हो, जो समाज को स्वस्थ बनायें, जिसमें संयम हो और जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध हो सकें। विनिमय एवं वितरण में भी मानवता, सदाचारिता एवं नैतिकता हो। इस प्रकार से जो अर्थशास्त्र बनेगा उससे सुसंस्कृतिपूर्ण समाज का निर्माण होगा इसलिए यह स्पष्ट हो गया है कि श्रमिक की सामाजिकता एवं आवश्यकता किस प्रकार से श्रमिकों के पुरस्कार एवं उसके निर्धारण में मानवीय पहलू का रक्षण कर सकती है। अब तक के प्रचलित विचारों में इस बात का कोई उत्तर नही दिया गया है कि रम के पुरस्कार निर्धारण का सिद्धान्त कैसे मानवीय सभ्यता का संरक्षण कर सकेगा। सर्वोदय अर्थशास्त्र इसका सही उत्तर देता है। किसी भी सिद्धान्त में इस बात का उल्लेख अवश्य होना चाहिए कि श्रम के प्रतिमूल्य का क्या आधार होगा। क्योंकि भविष्य का जो समाज हमारे सामने है जिसमें टेक्नालॉजी का इतना विकास हो जायेगा कि श्रमिक की बिल्कुल आवश्यकता ही नहीं रहेगी, उस समय जबकि सारा काम मशीन से होगा, और मनुष्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी, उस समय श्रम के प्रतिमूल्य की क्या स्थिति होगी? इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित है कि रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं होगा, और भविष्य का सभ्य समाज बिना प्रतिमूल्य के ही रहेगा।

जब टेक्नालॉजी का बहुत अधिक विकास हो जायेगा और विज्ञान ऐसी स्थिति में हमें पहुंचा देगा कि प्रचुर मात्रा में उत्पादन होगा और मनुष्य और शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ेगा तो श्रम का पुरस्कार कैसे निर्धारित होगा। इसका अर्थ है कि भावी समाज में श्रम का आर्थिक पुरस्कार आवश्यक ही नहीं होगा। उस

समय यह मान्यता ही समाप्त हो जाती है कि श्रम के लिए कोई प्रतिमूल्य होना चाहिए। इसलिए श्रम आज की तरह चाहे वह पूंजीवादी, चाहे साम्यवादी हो, आर्थिक आवश्यकता से नहीं बंधेगा। यही एक मानवीय दृष्टिकोण बनकर इस मूलभूत आवश्यक वस्तुओं में दिखाई देगा।

अगर हर आदमी हकों पर जोर देने के बजाय अपना फर्ज अदा करे, तो मनुष्य–जाति में जल्दी ही सुव्यवस्था और अमन का राज्य कायम हो जाय। राजाओं के राज्य करने के दैवी अधिकार जैसी या रैयत के तरफ से अपने मालिकों का हुक्म मानने के नम्र कर्त्तव्य जैसी कोई चीज नहीं है। यह सच है कि राजा और रैयत के पैदाइशी भेद मिटने ही चाहिए, क्योंकि ये समाज के हित को नुकसान पहुंचाने हैं। लेकिन यह भी सच है कि अीाी तक कुचले और दबाकर रखे गये लाखों करोड़ों लोगों को हकों का ढिठाई भरा दावा भी समाज के हित को ज्यादा नहीं तो उतना ही नुकसान जरूर पहुंचाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम हकों और फर्जों का ही नुकसान जरूर पहुंचाता है। इसलिए यह जरूरी है कि हम हकों और फर्जों का आपसी संबंध समझ लें। मैं यह कहने की हिम्मत करूंगा कि जो हक पूरी तरह अदा किये गये फर्ज से नहीं मिलते या प्राप्त करने और रखने लायक नहीं है। वे दूसरों से छीने गये हक होंगे। उन्हें जल्दी छोड़ देने से ही भला है।'

पूंजीवादी प्रतिस्पर्द्धा में कम से कम काम, अधिक से अधिक दाम, पुनः काम के अनुसार दाम का रूप आया। साम्यवादी घोषणा–पत्र में कहा गया, 'हम सारी सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं– केवल उस सम्पत्ति को समाप्त करना चाहते हैं जो मनुष्य ने अपने श्रम से नहीं अर्जित की है– जो सम्पत्ति श्रम से अर्जित है। वह नहीं समाप्त होगी।' आगे साम्यवाद का यह सिद्धान्त है 'अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम, आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक परन्तु इसी में अन्तर्विरोध है कि श्रम से अर्जित सम्पत्ति पर श्रमिक का अधिकार भी होगा। ये अन्तर्विरोध की समस्यायें साम्यवाद में उत्पन्न हो जाती हैं।

इन समस्याओं के निराकरण के लिए गांधी ने शरीर–श्रम को व्रत माना, पवित्रतम कार्य माना। सेन्ट सायमन ने परिश्रम को मनुष्य का गुण और चरित्र माना है। गीता ने परिश्रम को स्वधर्म विशिष्ट धर्म माना। इसलिए परिश्रम मनुष्य का कर्त्तव्य तथा व्रत हुआ। अब परिश्रम करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है और उसका फल समाज का भगवान् का है ऐसी स्थिति में पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा तथा शोषण का दुर्गुण भी समाप्त हो गया और साम्यवाद की प्रेरणा का प्रश्न भी हल हो गया और साम्यवाद की प्रेरणा का प्रश्न भी हल हो गया और उसका अन्तर्विरोध भी समाप्त हो गया। विनोबा के शब्दों में 'सब सम्पत्ति रघुपति के आही' से सारा विरोध समाप्त हो जाता है। यह 'उत्पादक शरीर श्रम' का व्रत दादा धर्माधिकारी के शब्दों में हो गया। इसी से वह साम्यवाद का विरोध भी समाप्त हो गया जो 'जितनी क्षमता उतना काम, जितनी आवश्यकता उतना दाम' तथा श्रम मूल्य सिद्धान्त में उत्पन्न होता है।

इस नवीन सर्वोदय श्रम के सिद्धान्त ने स्पष्ट कर दिया कि 'दूसरों को खिलाकर, खिलाऊंगा। दूसरे के लिए जीवित रहूंगा' यही अहिंसा का उपभोग। तो इससे दूसरी भावना सह–उपभोग की आयी और इसमें से सहजीवन का प्रादुर्भाव हुआ और पुनः सहउत्पादन की पद्धति पुष्ट हुई। पूंजीवादी तथा साम्यवाद के विचार से सर्वोदय का विचार अधिक पूर्ण तथा क्रान्तिकारी विचार हुआ।

5-1 Je dh ekuoh; fof'k"Vrkvk dk lj{k.k

कार्यशील आयु 18 से 65 वर्ष तक मानी जाती है। इसकी व्याख्या यह है कि श्रमिक को आठ घण्टे काम मिलना चाहिए। इस आठ घण्टे के काम में से उसे इतना पारिश्रमिक मिलना चाहिए कि उसका पूरा निर्वाह हो सके। स्थिति यह है कि पूर्ण रोजगार कार्यशील आयु, काम के घण्टे तथा पारिश्रमिक बड़े–बड़े उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है। रात–दिन यन्त्रोद्योग में श्रमिक लगे रहते हैं। यह आठ घण्टे का काम कभी–कभी श्रमिक की संस्कृति के भी विपरीत होता है। सांस्कृतिक विचार के अतिरिक्त शारीरिक आधार के दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञाता होता है कि यंत्रों पर एक जैसी शारिक स्थिति बनाये रखकर आठ घण्टे काम करना होता है। झुक कर खड़े–खड़े या बैठे–बैठे अविरल इतने समय तक प्रतिदिन काम करते रहने से उसकी शारीरिक आवयविक रचना विकृत हो जाती है। कभी–कभी यंत्रों के साथ काम करते समय दुर्घटनावश अंगभंग भी हो जाता है। यंत्रों की तीव्र ध्वनि और कोलाहल से मानसिक सन्तुलन अधिक समय तक बना नहीं रहता। दिन में दुर्गन्धयुक्त, वायु, प्रकाश रहित कोलाहल पूर्ण वातावरण के संकीर्ण कमरों में उसे विश्राम नहीं मिलता। वह प्रतिक्षण अपनी शारीरिक क्षमता को क्षीण रहता है।

एक दूसरा पहलू यंत्रोद्योग के प्रभाव का यह है कि यह मनुष्य की मनुष्यता का अपहरण करता है। वहां काम मुख्य है। जो जितना अधिक काम करता है उतनी ही अधिक उन्नति उसकी वहां होती है। इसलिए मनुष्यता नाम की वस्तु वहां रह नहीं सकती। यंत्रोद्योगों का प्रभाव सर्वांगीण रूप से पड़ता है, क्योंकि उद्योगों का काम मनुष्य में हीनता की भावना उत्पन्न करता है। छोटे–बड़े अनेक प्रकार के अनेक काम छोटे–बड़े की भावना तथा हीनता की भावना उत्पन्न करते हैं। यंत्रोद्योग के काम में आनन्द नहीं मिलता। तब मन बहलाने के लिए श्रमिक को अन्यत्र जाना पड़ता है। आनन्द और सुख आवश्यक है। इसलिए काम ऐसा होना चाहिए जिसमें सुख–आनन्द मिले, दाम और सम्मान मिले। तब उत्पादन बढ़ेगा, मनुष्यत्व विकसित होगा। ऐसे कामों के साधन, प्रकार और उपकरण कैसे हो? यही नियोजन आवश्यक है।

विज्ञान और टेक्नालॉजी हमें भौतिकवाद की ओर बहुत दूर ले जाता है, हमारी भारतीय संस्कृति और हमारी परम्परा के संस्कार इससे बहुत भिन्न है। अमेरिका का विज्ञान और टेक्टनालॉजी उसके लिए चिन्ता का विषय बन रहा है। उससे शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण हो रही है, विवेक–शक्ति नष्ट हो रही है, वासनागत अपराध बढ़ रहे हैं। हमें अपने देश में मानव–शक्ति का संयोजन करते समय इन सब बातों पर विवेकपूर्ण विचार करना चाहिए और देखना चाहिए–

- जो सांस्कृतिक कार्य के विपरीत न हो। वर्तमान समय में कारखाने में कार्य करने वाले व्यक्ति के कार्य एवं सांस्कृतिक कार्य में कोई संबंध नहीं होता।
- जिससे मनुष्यता की समाप्ति न हो।
- कार्य उसको नष्ट करने वाला नहीं, बल्कि उसके निर्णय के लिए हो।
- जिससे श्रमिक में अपने प्रति दीन–भावना न आये।
- जिससे शारीरिक क्षीणता या टेढ़ापन न आने पावे तथा मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन न बिगड़ने पाये।
- जिसमें मनोरंजन, आनन्द एवं संस्कृति का पुनः समावेश हो।
- जिसमें कई घण्टे तक कार्य करने वाला परेशान न हो।

- जिसमें दाम के साथ प्रतिष्ठा और सम्मान मिले।

जब उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया जायेगा तभी उत्पादन पढ़ेगा। मनुष्यत्व को विकसित करने के लिए प्रतिष्ठा आवश्क है। अतः काम में मानव–प्रतिष्ठा का ध्यान रखना यही मानव–संयोजन का मूल है। किसी कार्य में मनुष्य केवल शरीर ही नहीं दिल–दिमाग का भी प्रयोग करे। वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर एक फैक्टरी आती है। हम स्वास्थ्य के लिए नहीं स्वाद के लिए उपभोग करते हैं। इस चित्त–वृत्ति का हमें बदलना है तभी हमारा संयोजन सफल होगा। हमें स्वयं चिन्तन करना होगा।

5-2 'kkjhfjd vkj ckf)d Je dk ijLdkj

समाज में सम्पत्ति के वितरण के लिए जो आधारभूत सिद्धान्त प्रचलित हैं उनमें बहुत अधिक विचित्रता और विभिन्नता है। फासिस्ट जर्मनी में यहूदियों और जर्मन में जो पुरस्कार निर्धारण किया गया था उसका आधार जाति रखा। यदि एक ही कार्य यहूदी एवं जर्मन दोनों करते हैं तो जर्मन को उसकी जाति की श्रेष्ठता के कारण अधिक पुरस्कार मिलता था। इसी प्रकार का व्यवहार अंग्रेजों ने अपने उपनिवेशों– जैसे भारत में किया था। एक ही कार्य के लिए किसी अंग्रेज को ज्यादा पुरस्कार दिया जाता था और हिन्दुस्तानी को कम। इसका आधार उन्होंने राष्ट्रीयता माना था। इटली में यह प्रचलित था कि किसी वंश विशेष के लोगों को सामान्य वंश के लोगों से अधिक पुरस्कार दिया जाता रहा है। राजतंत्र में राजवंश के लोगों को सामान्य लोगों से अधिक पुरस्कार इसलिए दिया जाता था कि वे एक श्रेष्ठ शासन करने वाले वंश के थे। आगे चलकर पूंजीवाद में उत्पादन का बहुत बड़ा भाग उनको दिया जाता है जो पूंजी के स्वामी होते हैं। खेतिहर देश में भूमि के स्वामी को अधिक पुरस्कार दिया जाता है। पूंजी एवं सम्पत्ति के स्वामित्व को ही श्रेष्ठता देकर पूंजीवादी समाज में पुरस्कार किया जाता है। आगे चलकर साम्यवादी समाज में पद को प्रतिष्ठा दी गयी। जो बड़े पदों पर हैं उन्हें अधिक पुरस्कार दिया जाता है। साथ ही साथ लोकतान्त्रिक समाजवाद या लोकतंत्र में लोगों को उनके उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर अधिक पुरस्कार दिया जाता है। कहीं–कहीं योग्यता को इसका मापदण्ड बनाया जाता है। इस प्रकार के प्रचलित परिस्थिति में वंश, जाति, राष्ट्र, पद, उत्तरदायित्व, योग्यता और दुर्लभता को ध्यान में रखकर सम्पत्ति का वितरण होता है या हो रहा है।

लोकतंत्र और साम्यवाद के विकसित हो जाने के कारण पिछली प्रतिष्ठायें जो पुरस्कार के लिए निश्चित थीं, समाप्त प्राय हो गयी हैं, परन्तु जो पद्धतियां आज प्रचलित हैं वे भी पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि उनका कोई वैज्ञानिक स्वरूप नहीं है और यही नहीं मनुष्य में सम्पत्ति का उचित वितरण हो तो साथ–साथ यह बहुत आवश्यक है कि उसकी तह में मानवीय दृष्टिकोण हो। वैज्ञानिक दृष्टि रखकर आज जो पुरस्कार वितरण के नियम निश्चित किये गये उनमें भी पूर्णता नहीं है, क्योंकि उत्तरदायित्व, दुर्लभता, योग्यता, निपुणता के जो आधार हैं, उनमें जो मूल वस्तु है वह बौद्धिक निपुणता तथा योग्यता की बात है बुद्धि की निपुणता तथा योग्यता भिन्न–भिन्न हुआ करती है और सभी में यह सभी कुछ न कुछ है। आज समाज में जो समता और शान्ति नहीं रही है उसके पीछे सबसे बड़ा कारण शरीर और बुद्धि में द्वन्द्व है। बुद्धि को श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा शरीर से कई गुना अधिक दी जाती है। यह सत्य है कि किसी भी कार्य में बुद्धि आवश्यक होती है। लेकिन इसके कारण बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है और शरीर हीन है ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए। वास्तव में दो वस्तुओं के उत्पादन में, यंत्रों के उत्पादन में शरीर–श्रम नितान्त आवश्यक है। बिना इसके उत्पादन संभव नहीं। सर्वोदय अर्थव्यवस्था,

शरीर–श्रम के उत्पादन और शरीर–श्रम करने वाले उत्पादक को ही श्रेष्ठता प्रदान करती है। इसीलिए शरीर–श्रम का पुरस्कार भी अधिक होना चाहिए।

साम्यवाद जिस तरफ हमें ले जा रहा है उसके मूल में शरीर–श्रम का महत्त्व है। सभी सिद्धान्तों को, व्यवस्थाओं को, श्रम को केन्द्र में रखकर साम्यवादियों ने निर्मित किया है। सर्वोदय–अर्थशास्त्र, साम्यवादियों की तरह श्रमिक को केवल स्वामी और उसे एकमात्र तानाशाह अधिकतम पुरस्कार प्राप्त करने के लिए ही नहीं मानता बल्कि शरीर–श्रम को उससे ऊंची प्रतिष्ठा प्रदान करता है। उसके महत्व, उसकी उपयोगिता, उपदेयता के साथ–साथ उसे मनुष्य के संस्कार का और मानवता का बहुत बड़ा रूप मानता है। इसीलिए जो कुछ भी उत्पादन है व शरीर–श्रम करने वालों को ही मिलना चाहिए, प्रधानता व श्रेष्ठता उसी की होगी। अन्य प्रकार के लोगों को या अन्य प्रकार के कार्यों के लिए उतना पुरस्कार नहीं दिया जा सकता।

अब सवाल उठता है कि बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम का संबंध क्या है। प्रतिक्रियावादी लोग मानते हैं कि बुद्धि शरीर से श्रेष्ठ है और बौद्धिक–श्रम शारीरिक श्रम से अधिक प्रतिष्ठा वाला है। इसीलिए इसे ही अधिक प्रतिष्ठा दी जानी चाहिए। लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि बुद्धि स्वस्थ शरीर में ही रहती है। प्रत्येक शरीरिक–श्रम करने वाले के पास बुद्धि का रहना स्वाभाविक है। लेकिन शरीर में ही बुद्धि रह सकती है, बुद्धि शरीर नहीं। इसीलिए प्राणी विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार शरीर प्रधान होगा। आर्थिक रूप से भी प्रधान और बुद्धि गौण है। बहुत अधिक बुद्धिमान, शरीर से निर्बल होकर उत्पादन नहीं कर सकता है। बुद्धि निर्णय में तभी तक उपयोगी है जब तक शरीर प्राप्त करती है। शरीर की धर्मशास्त्र में भी महत्ता है। धार्मिक कार्य करने की शक्ति, उचित कार्य के लिए शरीर महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक साधन है।

उत्पादन के लिए शरीर–श्रम आवश्यक है। यंत्रों के मानव जीवन में दाखिल हो जाने से शनैःशनै हम मानने लगे है कि शरीर–श्रम की कोई विशेष उपादेयता नहीं है। पहले की स्थिति में जब मनुष्य आदिम अवस्था में था तो वह सारा काम अपने शरीर के अंगों से ही करता था, लेकिन ज्यों–ज्यों मनुष्य ने आविष्कार किया त्यों–त्यों शरीर–श्रम अधिक उत्पादन होने से अधिक उत्पादन संभव हो सके। ये यंत्र मानव–शक्ति से ही संचालित होते थे। फिर दूसरा युग आया, जब मनुष्य ने उन यंत्रों का प्रयोग पशुबल से करना शुरू किया। उससे उसकी थकावट कम होती थी और अधिक घण्टे काम कर सकता था तथा अधिक उत्पादन कर सकता था। फिर तीसरी स्थिति आयी जिसमें मनुष्य ने ऐसा यंत्र बनाये जो भाप की शक्ति से चल सकते थे। उसमें मनुष्य का शरीर–श्रम तो लगता है लेकिन उतना अवसाद और थकावट उसमें नहीं है। उत्पादन मात्रा में वृद्धि हो गयी। चौथी स्थिति तब प्रारंभ होती है जब मनुष्य ने कोयले एवं तेल की शक्तियों से संचालित ऐसे यंत्रों का आविष्कार किया, जिसमें मनुष्य की आवश्यकता कम होने लगी। इनका नाम अभिनवीकरण दिया गया। इस स्थिति में मनुष्य का श्रम तो लगता था, लेकिन कम, साथ ही साथ कम थकावट से उत्पादन जो बिजली की शक्ति ये यंत्रों का संचालन करता है। इसमें मानव–श्रम बहुत कम लगता है। बहुत कम मनुष्य और प्रायः बहुत कम श्रम से काम होने लगता है। कार्य बिजली की मशीन से होने लगता है। ये पांच परिस्थितियां हैं।

जब हम इन परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं तो दो तथ्य हमारे सामने स्पष्ट रूप से आते हैं। शरीर–श्रम की अनिवार्यता, क्योंकि मनुष्य उत्पादन कार्यों से भले ही अपने शरीर–श्रम का कम इस्तेमाल करें, परन्तु इन मशीनों के निर्माण में कच्चे माल की प्राप्ति में और उन्हें पक्का माल बनाने में और मशीन का रूप देने के मनुष्य का शारीरिक श्रम एवं कठोर श्रम अनिवार्य होता है। फिर उन मशीनों के प्रयोग के लिए जो

स्थान बनाने पड़ते हैं उन सब में मानव का कठोर श्रम लगता है। बिना इसके यह सब संभव नहीं। इसलिए आज की विद्युत से स्वचालित यंत्रों को हम यह नहीं मान सकते हैं कि बिना शरीर श्रम के ये सारे कार्य संभव है।

दूसरा तर्क यह भी समझना चाहिए कि इन पांचों परिस्थितियों में जो शारीरिक–श्रम का पुरस्कार था इसमें परिवर्तन इस रूप में हो रहा है कि पहले की स्थितियों में कार्य का पूरा पुरस्कार शारीरिक–श्रम करने वाले को ही प्राप्त होता था, क्योंकि अपने शरीर एवं बुद्धि से वह उत्पादन के सभी यंत्रों का आविष्कार एवं स्वामी और प्रयोगकर्त्ता भी था। शरीर–श्रम एवं बौद्धिक–श्रम में कोई विशेषीकरण का भेद न था। आगे चलकर वैज्ञानिक प्रगति के कारण वैज्ञानिक आविष्कर्त्ता, इंजीनियर आदि विशेषज्ञों की एक दशिा हुई और शरीर–श्रम करने वाले की दूसरी दिशा हुई। जब ये भेद बढ़ा तब बुद्धि व शरीर के पुरस्कार में द्वन्द्व खड़ा हुआ। बौद्धिक श्रम करने वाले तकनीकज्ञ और शरीर–श्रम एवं बौद्धिक–श्रम की कसौटी, शरीर–श्रम, बनायी हुई मशीन के ढांचे और उसमें लाई गई गति, कार्यक्षमता के तरीके का भी भेद रहा है। दोनों इंजीनियर और श्रमिक मशीन के स्थूलकाय एवं मशीन की गति की भांति एक दूसरे से गूंथे हैं। मजदूर शरीरमूलक बुद्धिनिष्ठ–श्रम करता है। इंजीनियर बुद्धि–मूलक शरीर–निष्ठ श्रम करता है। इसलिए इन दोनों के पारिश्रमिक में विशेष अन्तर पाया जाना उतना अन्तर्विरोध का परिचायक नहीं है जितना व्यवस्था के नाम पर सामान्य कार्य करने वाले बाबू, सुपरवाइजन, मैनेजर–देखरेख करने वाले का है। आज इस अर्थव्यवस्था में और अन्य व्यवस्थाओं में जो गतिरोध है उसका प्रमुख उपकरण बौद्धिक–श्रम है। इन दोनों पुरस्कारों में जो इतनी विषमता है वह अनुचित है। इससे एक सामाजिक मूल्य क्षीण पुरस्कारों में जो इतनी विषमता है वह अनुचित है। इससे एक सामाजिक मूल्य क्षीण हो रहा है, जिसमें शरीर–श्रम करने वाले उत्पादक वर्ग किसान एवं मजदूर को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। आज इन दोनों वर्गों की समाज में प्रतिष्ठा नहीं है। इस प्रतिष्ठा का प्रमुख कारण यही है कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग का उन्हें पूरा अधिकार नहीं है। इसीलिए आज की प्रतिष्ठा का पैमाना उपभोक्ता बन गया है। जो जितना ही अधिक उपभोग करता है उसे उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होता है। जब समाज उपभोक्ता प्रधान होता है तो उसमें आप सके वितरण प्राप्त होती है। जब समाज उपभोक्ता प्रधान होता है तो उसमें आप के वितरण की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग प्रधान होता है तो उसमें आप के वितरण की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं की विषमता स्वाभाविक है, क्योंकि उपभोग की प्रधानता हमें वासनामय एवं विलासमय बनाती हैं। इस उपभोग–प्रधान समाज के लिये जरूरी है कि उसके विलासमय बनाती हैं। इस उपभोग–प्रधान समाज के लिये जरूरी है कि उसके पास क्रय शक्ति अधिक से अधिक हो। दूसरे शब्दों में वह उत्पादन के अधिक से अधिक भाग का स्वामी बने, साथ ही साथ उसे कम से कम शारीरिक श्रम करना पड़े। ये दोनों प्रवृत्तियां बौद्धिक श्रम के लिए अधिक पुरस्कार की योजना प्रदान करती हैं। इस स्थिति में शरीर–श्रम की अवहेलना होती है जबकि न्यायपूर्ण समाज में ऐसा नहीं होना चाहिए।

शारीरिक एवं बौद्धिक–श्रम के नाम से जो विषमता आज समाज में है उसका बड़ा कारण बौद्धिक–श्रम है। दूसरे शब्दों में उत्पादन में व्यवस्था के नाम पर जो तथाकथित बौद्धिक–श्रम प्रयोग में आता है, जैसा पहले बताया गया है इसके अन्तर्गत कार्यालयी व्यवस्था, निरीक्षण की व्यवस्था, विज्ञापन की व्यवस्था, बाजार की

व्यवस्था आदि है। इसका यह परिणाम हुआ कि शारीरिक श्रम–अप्रितिष्ठित और बौद्धिक–श्रम प्रतिष्ठित होने लगा। समाज में आलस्य, काम न करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। ऐसे कार्य जो अनुत्पादक हैं उनमें कार्यक्षमता जोड़कर समाज ने मान्यता प्रदान की है। इसी को सफेदपोश कार्य कहते हैं। यह मनुष्य को उत्पादन–मूलक स्थिति से उपभोक्ता–मूलक स्थिति में ले जाता हैं। इससे स्पष्ट रूप दो वर्ग 1–श्रमजीवी, 2–बुद्धिजीवियों का होता है। ऐसी स्थिति में दोनों में यह दुराव प्रतिष्ठा एवं तिरस्कार के रूप में अस्वाभाविक है। व्यवस्था या बुद्धिजीवी उत्पादन कार्य में सहायक हो सकता है। उत्पादन में प्रमुख स्थान शारीरिक–श्रम का होता है। अतः प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार भी श्रमजीवी को ही मिलना चाहिए। आज समाज में दाम एवं नाम अर्थात् पुरस्कार एवं प्रतिष्ठाा काम के साथ जितनी मात्रा में जुड़ेंगे उतनी मात्रा में उत्पादन तथा उत्पादक शक्ति विकास होगा। इसलिए समाज में पुरस्कार के या उत्पादित आय के वितरण के लिए एक ही कसौटी होनी चाहिए, अर्थात् उसी को अधिकतम पुरस्कार मिले जो शरीर से उत्पादक कार्य करने में प्रमुख रूप सहायक हो।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप से शरीर–श्रम की प्रतिष्ठा प्रदान कर समाज में उत्पादक की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहती है। निःसन्देह बौद्धिक–श्रम आवश्यक है। परन्तु यह अनिवार्य रूप से प्रमुख स्थान नहीं ले सकता है। अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं में बहुत अधिक प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार बुद्धिवाद को दिया गया, इससे श्रमिक का शोषण प्रारंभ हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तकनीकी विकास के साथ–साथ श्रमिकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ा है और तकनीकी प्रयोग से श्रमिकों की कार्यक्षमता एवं उत्पादकता भी बढ़ी है और पहले की अपेक्षा उनके पुरस्कार में भी वृद्धि हुई है, रहन–सहन भी ऊंचा हुआ है। यहां तक कि साम्यवादी देशों में उनकी तानाशाही भी कायम हुई है। यह सब होते हुए भी बौद्धिक–श्रम के पुरस्कार की अपेक्षा उन्हें कम पुरस्कार की अपेक्षा उन्हे कम पुरस्कार एवं सुविधायें प्राप्त हैं। उनका जीवन–स्तर बौद्धिक–श्रम करने वालों की अपेक्षा कम ऊंचा उठा है। उनके लिए काम उद्यम की संभावनाओं में कम वृद्धि हुई है। सबसे बड़ी घातक बात यह हुई है कि उनकी प्रतिष्ठा गिरी है। उनका कार्य हेय समझा जाने लगा है। जब किसी समाज में कोई काम हेय समझा जाता है तब स्वाभाविक है कि साज में आय एवं सुविधाएं उसे कम से कम प्राप्त होती हैं। इन सब कार्यों में सबसे बड़ा हाथ शारीरिक श्रम का होता है। पुनः उत्पादन की प्रक्रिया बाजार की प्रक्रिया तथा उपभोक्ता तक पहुंचने में भी ऐसे अनेक कार्य हैं। जिनमें शारीरिक श्रम के बिना कुछ संभव नहीं है। ऐसी दशा में सामाजिक मूल्य को शारीरिक–श्रम के विरोध में रखना और घोर अपराध कहा जा सकता है। आज जब पुरस्कार द्वारा कार्य की प्रतिष्ठा होती है और उसी के द्वारा उत्पादन कार्य को प्रेरणा मिलती है, ऐसी स्थिति में शारीरिक–श्रम को अधिकतम पुरस्कार बहुत ही जरूरी है। मार्क्स ने दूर तक सोचकर सभी वस्तुओं के उत्पादन का स्वामित्व मूल्य का कारण शरीर–श्रम करने साले मजदूर को माना। लेकिन यह सब होते हुए भी मजदूर शब्द घृणास्पद ही बना रहा। मजदूर या शरीर–श्रम को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिली, सर्वोदय अर्थव्यवस्था ने इसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की है, न केवल पुरस्कार ही बढ़ा, बल्कि शारीरिक–श्रम करना प्रत्येक व्यक्ति का पवित्रतम कार्य बनकर दिनचर्या में दाखिल कर लिय गया। इसलिए यह निर्विवाद है कि शारीरिक–श्रम का पुरस्कार एवं उसकी प्रतिष्ठा बौद्धिक–श्रम से अधिक होनी चाहिए।

आज का समाज चाहे उसका अधार पूंजीवादी हो, चाहे साम्यवादी दोनों में इस बात की मान्यता है कि काम करने वाले से अधिक, काम कराने की व्यवस्था करने वाले से अधिकार, प्रतिष्ठा और पुरस्कार दिया जाता है। इसके पीछे मूलभूत कारण क्या हैं उसे समझना आवश्यक है। पूंजीवादी व्यवस्था में दो विरोधी स्वार्थ दिखाई

देते हैं, एक पूंजी का दूसरा श्रम का। पूंजी का निर्माण भी श्रम से ही होता है। इसमें किसी का विरोध नहीं है। हां, यह विवादग्रस्त अवश्य है कि उसका निर्माण किस प्रकार से होता है। मार्क्स ने जो पद्धति हमारे समक्ष रखी है उसमें सहमति एवं असहमति हो सकती है, परन्तु इसमें तो कोई विरोध नहीं है कि श्रम से ही पूंजी का निर्माण होता है। इसीलिए एक भय, मन में रहता है कि जो श्रम निर्माता है, उसको यदि गौरव मिल जाता है या उसको भान हो जाता है तो अवश्य अपने अधिकारों की मांग वह कर सकता है। इसलिए समाजिक और राजकीय स्वीकृति प्राप्त जो साधनों का स्वामी है जिसे हम पूंजीपति कहते हैं, वह अपने और श्रमिक के बीच और एक तथाकथित बुद्धि–जीवियों को खड़ा कर देता है और व्यवस्था के नाम पर उन्हें प्रतिष्ठा, सुविधा आदि देता है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार यह होता है कि श्रमिक सीधे इन बुद्धिजीवियों से टकराता है और साथ ही साथ से व्यवस्थापक ऊंची दीवार बनकर उसके सामने इस प्रकार खड़े होते हैं कि पूंजीपति ओझल हो जाता है और सीधे लड़ाई श्रमिक और व्यवस्थापकों की होती है। पूंजीपति प्रत्यक्ष रूप से मजदूरों के सामने ही नहीं आता। वह तो इन व्यवस्थापकों के पीछे अपनी सार्थकता की पुष्टि करता है। कार्लमार्क्स ने इन व्यवस्थापकों और बुद्धिजीवियों के रूप से दूसरे ही ढंग से व्यक्त किया है। परन्तु यहां शरीर–श्रम करने वाला श्रमिक इस बात का दुर्भाग्य ही मानता है कि उसने शिक्षा–दीक्षा नहीं प्राप्त की। इसीलिए उसे अप्रतिष्ठा, न्यून पुरस्कार मिल रहा है। उसे यदि शरीरश्रम से छुटकारा पाना है तो उसे बुद्धिजीवियों की श्रेणी में पढ़–लिख कर आना चाहिए। इसीलिए उसके मन में भी एक हीन भावना आती है और इस हीन भावना से वह अपने अधिकार के ज्ञान के च्युत हो जाता है और भाग्य को कोसता तथा शरीर–श्रम से घृणा करता है। साथ ही साथ यह मान लेता है कि शरीर–श्रम निम्नतम कार्य है, इसलिए यह कम पुरस्कार ही उचित है, बुद्धिजीवियों का कार्य कर लेती हैं और शरीर–श्रम ऐसी उत्तम वस्तु भी घृणा का कारण बन जाते हैं। मजदूरों के अधिनायकवाद के नाम पर चलने वाले साम्यवादी मजदूर राज्य में भी व्यवस्था का जाल बिछ जाता है।

5-3 xk/kh dh deZeheklk e Je dk egRo

भारतीय सभ्यता में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विवेचन मानवता को प्रधानता देता है। अर्थ मानव जीवन को इस प्रकार संबद्धित तथा विकसित करे कि मानवीय सभ्यता को किसी प्रकार का अघात न पहुंचे। अब तक के पाश्चात्य आर्थिक विचारकों ने जो विचार प्रस्तुत किया, इससे मानवीय सभ्यता, भौतिकता से इतनी ग्रसित हो गई कि उसकी प्राणशक्ति धूमिल पड़ गई। अर्थ–विचार की गंगा में नित्य नई धाराओं का सृजन और प्रवाह हो रहा है। इस प्रवाह में मानव–सभ्यता के अवयव–सदाचार, नैतिकता, मानवता, सहिष्णुता और प्रेम विलुप्त हो रही हैं। यह एक विडम्बना ही है। मनुष्य सम्पत्ति के मोह और भौतिकता के प्रवाह में खो गया है। क्लासिकी अर्थशास्त्रियों ने आधुनिक पूंजीवाद के अधार सम्पत्ति पर गम्भीर विचार किया और यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति वही है जिसका प्रतिमूल्य होता है। सभी वस्तुएं जिनका प्रतिमूल्य है, वे सम्पत्ति हो सकती हैं। तभी यह स्पष्ट हो गया कि मानवता, नैतिकता, सदाचार, करूणा, प्रेम आदि जिनके प्रति मूल्य होते ही नहीं और यदि इनमें प्रति–मूल्य की आकांक्षा आ जाती है तो ये अपवित्र, विकृत और आदर्शहीन हो जाते हैं, ये सम्पत्ति की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते। अतएव सांस्कृति और सम्पत्ति में विरोध है। सम्पत्ति का यह स्वरूप मानव–सभ्यता और सांस्कृति का स्रोत नहीं हो सकती और न तो मानवता का संरक्षण और पोषण ही कर सकता है। आदम स्मिथ और रिकार्डो के सम्पत्ति के इस स्वरूप, जिसका आधार प्रतिमूल्य होता है यदि जीवन में मान लिया जाय तो जीवन का चलना ही असंभव हो जाय। इसलिये उसे जीर्ण मतवाद कहकर कार्लमार्क्स

ऐसे मनीषियों ने अस्वीकार किया। बिना प्रतिमूल्य के जीवनदायिनी आवश्यकतायें और सेवायें मानव–समाज की पहली आवश्यकतायें हैं। जो भूखा है उसे अन्न, जो नंगा है उसे कपड़ा जो आश्रयहीन है उसे आश्रय मिले, यह मानवता का तकाजा है। हमारे सामाजिक जीवन में अर्थशास्त्र का प्रतिमूल्य का सिद्धान्त 'कम से कम' चलन में है। इसी से भारतीय सामाजिक जीवन अभी तक चल रहा है। जितना ही प्रतिमूल्य का सिद्धान्त मानव जीवन में वृद्धि पाता है उतना ही जीवन का निर्वाह कठिन होने लगता है। उतना ही मात्रा में मानव सभ्यता और संस्कृति का ह्रास होता है।

एडम स्मिथ के उपरान्त रिकार्डों ने मूल्य के श्रम–सिद्धान्त का विवेचन किया। मानव निर्मित वस्तुओं का उत्पादन, उपकरणों का उत्पादन आदि सभी श्रम से ही होता है। अतः सभी वस्तुओं का मूल्य श्रम ही है। आगे चलकर मार्क्स ने इसे अपना लिया और यह मान्यता दी कि श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य है। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निकला। श्रमिक इतना श्रम करता है उससे कम प्रतिमूल्य उसे प्राप्त होता है और बचे हुए श्रम का मूल्य अनुत्पादक पूंजीपति हड़प लेता है।

सबसे प्रमुख विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या श्रम का वास्तविक मूल्य हो सकता है? इसके विवेचन में हमें परिस्थिति के अनुसार मूल्य के सिद्धान्त का भी विचार रखना चाहिए, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जब समाज में वस्तुओं को जैसी प्रचुरता या न्यूनता होती है उसी के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त में श्रम के वास्तविक मूल्य कोई विचार नहीं है। इसी प्रकार से जब लड़ता बीमार है। उसकी मां महीनों उसकी सेवा करती है तो उसके एक दिन–रात के परिश्रम का वास्तविक प्रतिमूल्य न तो पूंजीवादी व्यवस्था में और न तो साम्यवादी एवं समाजवादी व्यवस्था में ही होता है। इस श्रम का श्रम प्रतिमूल्य कभी हो ही नहीं सकता। श्रम का प्रतिमूल्य निर्धारित नहीं हो सकता, इसे सिद्धान्त रूप समाजवाद ने भी स्वीकार कर लिया है। समाज में इस विवेचना के उपरान्त दो सिद्धान्त हमारे समक्ष आते हैं। प्रथम योग्यतानुसार परिश्रम अर्थात् प्रतिमूल्य निरपेक्ष परिश्रम दूसरे जितनी आवश्यकता उतना ही उपभोग एवं परिश्रम। इन दोनों सिद्धान्त में कोई पारस्परिक संबंध और व्यवहारिक सामजंस्य नहीं दिखलाई पड़ते। हम जितना श्रम करें उतना ही उपभोग करें तो आवश्यकता गौण हो जाती है। उतना ही श्रम करें उतना ही उपभोग करें तो आवश्यकता गौण हो जाती है। जितनी योग्यता हो उतना ही श्रम करें और आवश्यकतानुसार उपभोग करें। नये आर्थिक दर्शन तथा जीवन दर्शन में क्रान्ति द्रष्टाओं ने इस पृष्ठभूमि में विचार–विमर्श किया। परन्तु व्यवहार में इस सामंजस्य की फलीभूत न कर सके, यही बिडम्बना रही है।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि जितनी योग्यता है उतना परिश्रम क्यों किया जाय? अर्थात् श्रम का प्रेरक क्या हो? आज तक किसी ने इसका सही उत्तर नहीं दिया। क्लासिक अर्थशास्त्रियों ने इसका प्रेरक प्रतिमूल्य को बतलाया। अर्थात् जितना प्रतिमूल्य उतना श्रम। परन्तु जिस क्रिया में प्रतिमूल्य की उपेक्षा नहीं, वही नैतिकता, सदाचार, मानवता है। किसी के दुःख में दौड़कर सम्मिलित हो जाना यही मानवता की प्रेरणा है, जिसे साम्यवाद ने सामाजिक प्रेरणा कहा है। यह स्पष्ट है कि यह सामाजिक प्रेरणा है आर्थिक प्रेरणा है आर्थिक प्रेरणा नहीं। परन्तु यह भी सत्य है कि यह समाजवादी प्रेरणा स्वार्थमय सामुदायिक प्रेरणा होती है। इसमें नैतिकता नहीं हो सकती, क्योंकि स्वार्थ चाहे वैयक्तिक हो चाहे सामुदायिक, दोनों स्वार्थ ही हम मानवीय प्रेरणा कह सकते हैं। यह प्रेरणा निःस्वार्थ एवं निरपेक्ष होती है। इसमें उदारता अधिक, स्वार्थ कम होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य करने की प्रेरणा का प्रश्न अर्थशास्त्र नहीं हल कर सकता। आज समाजवाद से

ऊब कर मनुष्य ऐसा महसूस कर रहा है कि इससे अब स्पष्ट हो गया कि मनुष्य को नीति एवं ज्ञान से प्रेरणा मिलती है।

मनुष्य दूसरे के परिश्रम की रोटी न खाये और यदि खाये तो बिना उसकी मर्जी के न खाये। अच्छा हो कि मनुष्य अपने परिश्रम की रोटी खाये और इससे अधिक बड़कर यह भी हो सकता है कि मनुष्य अपने परिश्रम रोटी दूसरे को खिलाये। यही मानवता है। इसमें मानव प्रेरणा है क्योंकि यहां प्रतिमूल्य नहीं है। ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि मनुष्य मो बइना अधिक तकनीक का ज्ञान हो जाय कि मनुष्य की आवश्यकता ही न होगी। यह मान्यता कि श्रम से ही उत्पादन होता है इसलिये अनिवार्य श्रम उपकार है। इससे यब बात स्पष्ट हो जाती है मिक यदि हम श्रम का संबंध रोटी या उपभोग से मानते हैं तो नैतिकता का प्रश्न जटिल हो जाता है। और मानव संस्कृति का आधार पेट बन जाता है। मनुष्य का दिशा और दिमाग पेट में समा जाता है।

अपनी रोटी के लिए दूसरों का पसीना बहाना, इससे उत्तम यह है कि अपने पसीने से अपनी रोटी खाना और इससे भी उत्तम है कि अपने पसीने से दूसरों को रोटी खिलाना। इसे हम मानवीय दर्शन का सिद्धान्त मान सकते हैं कि अपने पसीने से दूसरों को रोटी दिलाई जाय। यहां पर मानवीय श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं है। पूंजीवाद में अपने परिश्रम से अपनी रोटी उत्पन्न करना अर्जित सम्पत्ति माना है। समाजवाद उससे एक कदम आगे बढ़कर यह मानता है कि सम्पत्ति माना है। समाजवाद उससे एक कदम आगे बढ़कर यह मानता है कि सम्पत्ति स्वअर्जित तथा अनर्जित दोनों ही नहीं होगी। आवश्यकता की वस्तु सम्पत्ति नहीं। समाजवाद में इस प्रकार की सम्पत्ति जिससे दूसरी सम्पत्ति उत्पन्न हो सके तो जो बेची जा सके, वह न तो पारिवारिक होगी और न तो व्यक्तिगत होगी। लेकिन समाजवाद या साम्यवाद ने श्रम को आर्थिक आवश्यकता ही माना है। परन्तु यह ऐसा है नहीं। गांधी जी के सर्वोदय समाज में परिश्रम मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकता है। यहीं गांधी जी के आर्थिक दर्शन की विशिष्टता एवं महत्ता है। श्रम संस्कृति व सभ्यता का स्रोत है। सदाचार नैतिकता और मानवता की बुनियाद यह श्रम बन जाता है। दोनों का विरोध नहीं है। मनुष्य की आकांक्षा अपरिमित है। भोग में संयम, स्वस्थ मानव के लिए परम आवश्यक है। उपभोग शक्ति सीमित है। आज उपभोग की वस्तुओं का बाहुल्य सामाजिक प्रतिष्ठा–द्योतक है। सामाजिक प्रतिष्ठा आज के समाज में उपभोग बाहुल्य में है जब तक उपभोग के साधनों की बाहुल्यता सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बनी रहेगी तब तक समाज असभ्य असंस्कृत ही रहेगा, क्योंकि यह वासना–प्रधान समाज होगा। आवश्यकता कम, आकांक्षा अधिक, उपभोग के साधनों की प्रचुरता इससे अधिक मनुष्य को अविवेकपूण्र व्यवहार के लिए बाध्य कर देती है। इसलिये किसी समाज के संयोजन का आधार उपभोग को न बना कर उत्पादन को ही बनाना चाहिए, इससे मनुष्य कलात्मक जीवन, सादा, जीवन, स्वस्थ जीवन से विभूषित होकर अपनी गुणात्मक आन्तरिक शक्तियों का विकास करेगा। और सभ्यता और संस्कृति की नींव पुष्टि होगी। उत्पादक मानव की प्रतिष्ठा होगी। श्रमनिष्ठ मानव प्रतिष्ठित मानव बनेगा। इससे जीवन तथा कार्य से त्याग, करुणा, प्रेम का सृजन होगा। एक स्वस्थ मन और शरीर वाला मानव प्रकट होगा। मनुष्य का स्वभाव संग्रह करने का नहीं है। इसलिये संग्रह की आवश्यकता एवं प्रवृत्ति आसानीपूर्वक उठ जानी चाहिये। जहां उत्पादन ऐसा होगा, जो अभाव को कम करेगा। और जहां अभाव नहीं होगा, यहां अधिक उपभोग नहीं होगा। और जहां अभाव नहीं होगा उपभोग संयम से बंधा होगा। इसके लिए आज के युग में जीवनदायिनी स्वास्थ्यवर्धक आवश्यक आवश्यकतायें, जिनकी मांग विश्वव्यापी है जैसे अन्न को प्राथमिकता देनी चाहिये। जब प्रधान आकांक्षा उद्योगीकरण की होती है तो कृषि का उपभोग उद्योग के लिए

होने लगता है। उद्योग इस लिये बढ़ता है कि सम्पत्ति का अधिक निर्माण हो। सम्पत्ति के निर्माण का यही लक्ष्य होता है कि मानव की आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं का अधिकतम निर्माण हो। कच्चा माल तथा अन्न का संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में अन्न का बाहुल्य सभी को सुखमय बनायेगा। इसलिये अन्न प्रधान संयोजन होना चाहिये यहीं संयोजन मानवीय संयोजन होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो जैसा आज हो रहा है कि मनुष्य बढ़ रहे हैं, परन्तु अन्न के अभाव में मानवता कम हो रही है। आज फूल खिल रहे हैं परन्तु उसमें सुगन्ध कम है। इसी अन्न के अभाव के कारण जीवन–धारण करने वाले नवीन बच्चों का स्वागत नहीं हो रहा है और जहां स्वागत नहीं वहां सभ्यता और संस्कृति नहीं। इसलिये अन्न के लिए भी प्रतिमूल्य का सिद्धांत नहीं हो सकता, उसी प्रकार से जैसे श्रम का कोई प्रतिमूल्य नहीं हो सकता। प्रतिमूल्य का सिद्धान्त ही मानव सभ्यता और संस्कृति पर आघात करता है। गांधी जी का आर्थिक दर्शन प्रतिमूल्य सिद्धान्त को नहीं मानता। इसलिये इस दर्शन के मानव सभ्यता और संस्कृति के स्रोत हैं। यही इस दर्शन का अपूर्व देन है।

6- xkekS|kx ,oa xkeh.k vFkZ;oLFkk

स्वदेशी और ग्रामाद्योग का विचार गांधीजी के आर्थिक ढांचे की आधारशिला है। स्वदेशी और ग्रामोद्योग दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। गांधीजी ने स्वतंत्रता आंदोलन में स्वदेशी पर अधिक बल दिया था। साधारणतः हम स्वेदशी को संकुचित अर्थ में समझते हैं। परंतु गांधीजी ने स्वदेशी का काफी विस्तृत अर्थ लिया है। उन्होंने स्वदेशी की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है–''जो वस्तु करोड़ों भारतीयों के हितों का सम्वर्द्धन करती हो, भले उसमें लगी पूंजी और कौशल विदेशी हो वह स्वदेशी है, अलबत्ता यह पूंजी और कौशल भारतीय नियंत्रण के अधीन होना चाहिए।''

6-1 xkekS|kx

ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार गांधी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप है। गांधीजी ने भारतीय परिस्थिति को सामने रखकर ग्रामोद्योग का विचार रखा है। सन् 1920 के लगभग भारत में जितने कपड़े का उपभोग किया जाता था, उसका आधा विदेश से आता था परंतु पूरी आवश्यकता भर कपड़ा भारत में नहीं आता था। विदेश में जाकर तैयार होता था। इससे भारत का शोषण बढ़ गया था। गांधीजी ने भारतीय अर्थव्यवस्था का गंभीर अध्ययन किया और उसके बाद खादी ग्रामोद्योग का विचार देश के सामने रखा। 1908 में गांधीजी के मन में खादी अर्थात् चरखा का विचार आया। तब से जीवन पर्यन्त इसके प्रचार में लगे रहे। गांधीजी ने खादी ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में कहा है–''खादी का मूल उद्देश्य प्रत्येक गांव को अपने भोजन एवं कपड़े में स्वावलम्बी बनाना है।'' अर्थात् प्रत्येक गांव भोजन और वस्त्र के मामले में पूर्ण स्वावलम्बी हों। इसका अर्थ यही है कि व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर ले।

भारत में करोड़ों लोगों को काम देने के लिए एकमात्र साधन खादी और ग्रामोद्योग है। यहां पर एक भ्रामक प्रश्न उठता है कि क्या गांधी जी विज्ञान से दूर हटते थे? क्या वे मशीनों के प्रयोग का विरोध करते थे? उत्तर में कहा जा सकता है कि गांधीजी न तो विज्ञान का विरोध करते थे और न मशीन के प्रयोग का। वे तो पूर्ण वैज्ञानिक थे। उनका सारा जीवन ही सत्य की खोज में बीता है। गांधीजी रोजगार के रूप में उन्हीं उद्योगों को अपनाने के लिए कहते हैं जिनसे व्यक्ति उतना उत्पादन कर ले जिससे उसकी आवश्यकता की तृप्ति आसानी से हो सके। मिल और मशीन के उपयोग के बारे में गांधीजी ने कहा है, ''सूत मिल के

साथ–साथ चरखे न चल सकने के लिए कोई कारण नहीं है। जिस तरह घर का रसोई घर भी चलता है और होटल भी चलता, उसी तरह ये दोनों साथ–साथ चल सकते हैं।''

परंतु गांधीजी हमेशा और हर जगह मिल चलाने की कटु आलोचना करते थे। मिल का उपयोग सेवा के लिए हो न कि शोषण और बेकारी के लिए। उन्होंने कहा है ''अगर मिलें आज की तरह जनता को लूटने के लिए नहीं बल्कि उनकी सेवा करने के लिए चलायी जायं तो वे घर–घर चरखों और करघों के काम में मदद करेंगी और उनकी जगह नहीं लें लेंगी जो आज वे ले लेती हैं।''गांधीजी न तो मिल एवं मशीन का विरोध करते थे और न आधुनिक विज्ञान का ही। उत्पादन इस ढंग से किया जाय जिससे सबको काम मिल सके और अत्युत्पादन न हो सके। उत्पादन उपभोग के लिए किया जाय न कि व्यापार के लिए।

आधुनिक युग में मनुष्य की आवश्यकताएं अधिक हो गयी हैं। प्राचीनकाल में मनुष्य की आवश्यकताएं सीमित थीं। अतः आज हमें ऐसे उद्योग चलाने पड़ेंगे जिससे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। खादी और ग्रामोद्योग जिस रूप में पहले था उसी रूप में आज नहीं चल सकता है। गांधीजी इस सम्बन्ध में ग्रामोद्योग का अभिनवीकरण करना चाहते थे। सभी उद्योगों में सुधार किया जाय। पर इसमें मशीन व शक्ति के प्रयोग की एक सीमा होगी। मशीन एवं शक्ति का उपयोग करने में यह ध्यान में रखें कि उससे शोषण और बेकारी न आने पाये। गांधीजी ग्रामोद्योग का समर्थन करते थे। पर बड़े उद्योग का पूर्ण बहिष्कार भी नहीं करते थे। जो चीजें ग्रामोद्योग में नहीं बनायी जा सकती हैं, उन्हें बड़े उद्योगों में बनाना पड़ेगा। रेल, मोटर, जहाज और अन्य बड़ी एवं जटिल चीजें गांव–गांव में नहीं बन सकती हैं। वे बड़े–बड़े कारखानों में ही बनेंगी। परंतु जहां तक संभव हो सके हमें अधिकतम चीजों का उत्पादन ग्रामोद्योग से ही करना चाहिए। अतः गांधी जी चाहते थे कि अर्थव्यवस्था अधिकतम विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़े।

गांधीजी ग्रामोद्योग में पूरक धंधे का रूप भी देखते थे। भारतीय किसान साल में कई महीने बेकार रहते हैं। इस खाली समय में ये छोटे एवं कुटीर उद्योग को करें। जिससे उन्हें कुछ आर्थिक सहायता मिलेगी। भारत में लाखों परिवार ऐसे हैं जिनकी आर्थिक दशा काफी दयनीय है। ग्रामोद्योग से उन्हें काफी सहायता मिल सकती है। इन विचारों के अलावा भी आधुनिक युद्ध के संकट से बचने के लिए ग्रामोद्योग लाभप्रद है। अगर ग्रामोद्योग जीवित है तो युद्ध आदि से कम नुकसान होगा। अकाल और अन्य आर्थिक संकट के समय काम देने का ग्रामोद्योग आम साधन है। स्वशासन को कार्यान्वित करने के लिए ग्रामोद्योग काफी सहायक होगा। जब हम देश की जनता को अधिक से अधिक अधिकार देने की बात करते हैं तो हमें ऐसी अर्थव्यवस्था चलानी पड़ेगी जिसमें प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन गांव में ही करें। अतः ग्राम स्वावलम्बन के लिए ग्रामोद्योग आवश्यक है।

गांधीजी के ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार को कुछ अंश में कार्यान्वित करने का प्रयास भारत में किया जा रहा है परंतु आज भारत ऐसी स्थिति से गुजर रहा है कि ग्रामोद्योग का पूरा विकास एवं लाभ नहीं मिल पा रहा है। पर इतना तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा कि बिना ग्रामोद्योग के भारत का पूर्ण विकास संभव नहीं है। इसके बिना भारतीय समस्यायें नहीं सुलझ सकती हैं। भारत में अधिक आबादी होने के कारण सबको काम देने का काम, ग्रामोद्योग की उपेक्षा करके नहीं किया जा सकता है। एक भाषण में स्वर्गीय पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि भारत का विकास ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग से ही संभव है। अब लोग धीरे–धीरे समझने लगे हैं कि भारत जैसे घनी आबादी वाले देश के लिए ग्रामोद्योग ही समस्या का एकमात्र हल है।

6-2 xkekl|kx dk egRo

ग्रामोद्योग में उत्पादक और उपयोक्ता में प्रत्यक्ष या सीधा सम्पर्क रहता है। किसान, कारीगर, धोबी, चमार, जुलाहा, तेली, दर्जी आदि एक दूसरे को जानते हैं। उनके अच्छे कार्यों की प्रशंसा, और खराब काम की आलोचना होती है। उन पर लोकमत का प्रभाव पड़ता है, और उन्हें अच्छे व्यवहार की प्रेरणा मिलती है। हरेक आदमी अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे को आजीविका का काम देकर उसकी ऐसी सहायता करता है, जिससे न तो देने वाले में अहंकार आता है, और न लेने वाले में कुछ दीनता आती है। दोनों समान धरातल पर रहते हैं। इस प्रकार ग्रामोद्योगों से समाज एक स्वस्थ और स्थायी आधार पर संगठित होता है, जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्यों की भी उन्नति होता है, और सब मिलकर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

ग्रामोद्योग में श्रमी स्वतंत्र और स्वावलम्बी होता है, वह दूसरों पर निर्भर नहीं रहता। वह साधारण औजारों से काम करता है, जिनका मालिक वह खुद ही होताहै। उत्पादन का पूरा लाभ उसे ही मिलता है, कोई दूसरा व्यक्ति अर्थात् पूंजीपति उसके द्वारा होने वाली आय के किसी अंश का अपहरण नहीं कर सकता; कारण, उसका इसमें कोई स्थान नहीं होता। इस प्रकार ग्रामोद्योग पद्धति में शोशण की गुंजाइश नहीं होती। वास्तव में ग्रामोद्योगों में वस्तु के मूल्य में, कच्चे माल तथा यातायात का व्यय और दुकानदार का साधारण पारिश्रमिक निकल कर शेश सब मजदूरी ही होती है, उसमें मुनाफे का प्रश्न ही नहीं उठता।

ग्रामोद्योग में श्रमी किसी के अधीन नहीं होता, वह स्वयं अपना मालिक होता है। उसे जब जरूरत हो, उसकी तबियत ठीक न हो, बाल–बच्चों की सारसंभार करनी हो, या घर का कोई काम करना हो, अथवा किसी अतिथि का स्वागत–सत्कार आदि करना हो, या किसी की विवाह शादी या मृत्यु–संस्कार आदि में भाग लेना हो तो वह अपने काम से सहज ही अवकाश ले सकता है।

ग्रामोद्योगों में आदमी पूरी चीज बनाता है, वह उसी चीज के विविध हिस्सों का पारस्परिक सम्बन्ध जानता है, और उनका एक–दूसरे से मेल बैठाता है। इसमें उसे अपनी बुद्धि का उपयोग करना होता है। इससे स्वभावतः उसका विकास होता रहता है। यंत्रोद्योग में यह बात नहीं होती। आदमी यंत्र के द्वारा किसी वस्तु के छोटे से भाग को बनाता रहता है, अथवा यों कहें कि वह उसमें काम आने वली सैंकड़ों क्रियाओं में से किसी एक को करने में लगा रहता है; असल में वह क्रिया तो मशीन से होती है, आदमी केवल उसकी देख–रेख या सार–संभार करता है, उसे अपनी सूझबूझ से काम लेने का अवसर नहीं मिलता। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में कारीगरी काजो थोड़ा–बहुत माद्दा होता है, वह यंत्रोद्योग में समाप्त हो जाता है। मनुश्य के विकास की विशेश गुंजायश ग्रामोद्योगों में ही है।

भारत में लगभग सत्तर फीसदी आदमियों का धंधा खेती है, और ये साल में कुल मिलाकर कई–कई माह बेकार रहते हैं। इनके अलावा दूसरे आदमियों में भी बेकारी है ही। छत्तीस करोड़ आबादी वाले इस देश की इतनी बड़ी जनता को रोजगार देने के लिए यंत्रोद्योग कदापि सफल नहीं हो सकते। वास्तव में यंत्रोद्योगी व्यवस्था इतनी महंगी है कि उससे यहां के कार्यशील लोगों में बहुत थोड़े सों को ही काम दिया जा सकता है। यह इसी से स्पश्ट है कि भारत के यंत्रोद्योगों में बहुत नीचे अनुमान के अनुसार भी लगभग पांच सौ करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है, और उनका विकास बहुत वर्शों से हो रहा है तो भी उनमें काम करने वालों की

कुल संख्या तीस लाख से अधिक नहीं है। इस प्रकार यंत्रोद्योगों से यहां के करोड़ों आदमियों को काम कैसे दिया जा सकता है। यहां बेकारी की समस्या का हल ग्रामोद्योगों के विस्तार और वृद्धि के लिए आंदोलन करते रहे। श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी, जो यंत्रवाद के काफी जोरदार पक्षपाती थे, भारत की स्थिति देखते हुए व्यापारियों को कहा था–''औद्योगीकरण हम कितना ही शीघ्र क्यों न बढ़ायें फिर भी हम अपने लाखों करोड़ों लोगों को उसमें कैसे काम दे सकेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आता। हमारे कारखानों में बहुत हुआ तो दो करोड़, तीन करोड़ या उससे कुछ अधिक लोग काम करेंगे, फिर भी जो बचेंगे, उनका क्या? जब तक आप गृह–उद्योग यानी छोटे पैमाने पर या सहकारी पद्धति से चलने वाले उद्योग खड़े करके बेकारों से काम नहीं लेंगे तब तक आप उनका पूरा उपयोग नहीं कर सकेंगे।''

ग्रामोद्योग पद्धति की एक विशेशता विकेन्द्रीकरण है। इसमें सैंकड़ों या हजारों आदमी किसी उच्च अधिकारी के आदेशों का आंख मींचकर पालन करने वाले नहीं होते। इसमें तो आदमी अपने परिवार के सदस्यों के साथ अथवा सहकारी पद्धति से दूसरे व्यक्तियों के साथ काम करता है। सबका प्रेमपूर्वक सहयोग होता है, किसी की दूसरों पर हुकूमत नहीं होती। इस प्रकार ग्रामोद्योगों से लोकराज्य के अनुकूल परिस्थितियां बनती हैं और उसका उत्तरोत्तर विकास होता है। वर्तमान हिंसात्मक समाज की जगह हम अहिंसात्मक समाज की स्थापना करना चाहते हैं तो उसकी संभावना विकेन्द्रीकरण नीति से ही हो सकती है। गांधीजी ने 1939 में लिखा था–'मेरा कहना है कि यदि भारत को अहिंसात्मक समाज की ओर बढ़ना है तो उसे कई पदार्थों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। केन्द्रीभूत पदार्थों की स्थिरता तथा सुरक्षा पर्याप्त बाहुबल के बिना नहीं की जा सकती। आप अहिंसा का निर्माण बड़ी मिलों की सभ्यता पर नहीं कर सकते, उसका निर्माण स्वावलम्बी गांवों के आधार पर हो सकता है।'

वर्तमान काल में युद्ध इस युग का सत्य बना हुआ है। इसलिए अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में सैनिक दृश्टि से भी सोचना जरूरी है। अगर हम जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यंत्रोद्योगों या औद्योगिक केन्द्रों पर निर्भर रहेंगे तो युद्धकालीन स्थिति में हम अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त करने वाले होंगे। जनता के जीवन को प्रचंड हवाई तथा अन्य आधुनिक हमलों से सुरक्षित रखने का एकमात्र उपाय यही है कि हमारे उद्योग–धंधे केन्द्रित न हों, क्योंकि औद्योगिक केन्द्रों में मिलों और कारखानों में बम बरसाकर उन्हें एकदम नश्ट–भ्रश्ट किया जा सकता है। ग्रामोद्योग ही, एटम बम के युग में, डटे रहने का साहस कर सकते हैं।

6-3 [kknh % xkekS|kxkS m|kxkS dh /kjh

अन्न के उपरांत वस्त्र का महान् महत्त्व है। यदि मनुष्य अन्न और वस्त्र में स्वावलम्बी हो जाता है तो वह स्वतंत्र हो जाता है। यह स्वावलम्बन की प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के स्वावलम्बन, परिवार के स्वावलम्बन, गांव के स्वावलम्बन चे चलकर राष्ट्र स्वावलम्बन में बदलती है। मनुष्य के पास भगवान ने हाथ पैर की बड़ी शक्ति दी है। उस शक्ति का प्रयोग यदि प्रत्येक व्यक्ति करता है तो उसका कर्तृत्व बढ़ता है। बच्चों से लेकर बुड्ढों तक, महिलाओं से लेकर पुरुषों तक सबके हाथ चलते हैं तो प्रतिदिन करोड़ों गज वस्त्र का निर्माण होता है। महात्मा गांधी ने इसे प्रतिदिन का यज्ञ माना। शिक्षण का माध्यम माना, जीवन की सुरक्षा माना और श्रम की प्रतिष्ठा माना, प्रतिदिन अरबों घण्टे बेकार हो रहे हैं। उनका सदुपयोग चर्खे से ही संभव है। चर्खा पेट भर अन्न, तन भर वस्त्र, स्वाभिमानपूर्वक अपने घर में बैठकर अर्जित करने की शक्ति देता है।

गांधीजी की पैनी दृष्टि इसी चर्खे की ओर पड़ी और इसके धागे को उन्होंने सोने चांदी से भी श्रेष्ठ माना। सूत की करेंसी भी चलायी। उत्पादक श्रमिक को प्रतिष्ठा प्रदान की। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को जगाकर उन्होंने वस्त्र को बाजार से हटा दिया। केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं, दुनिया के मानव के लिए संदेश दिया कि अत्यधिक उत्पादन की जगह पर सभी व्यक्तियों द्वारा उत्पादन श्रेष्ठ है। भारतवर्ष के लिए चर्खा बहुत ही आवश्यक है, यह बहुत ही व्यावहारिक है, इसे तुरंत अपनाया जा सकता है। क्योंकि इसके लिए न तो अधिक पूंजी और न तो खर्चीले कच्चे माल की आवश्यकता होती है, इसके लिए कच्चा माल और यंत्र सभी जगह सस्ते और आसानीपूर्वक उपलब्ध होते हैं। भारतवर्ष के गरीब और अशिक्षित नागरिक के पास जितना कौशल और बुद्धि है उतनी ही इस चर्खा को चलाने में आवश्यक है। बहुत बड़े कौशल की आवश्यकता इसमें नहीं होती है। इसके चलाने में बहुत कम शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है छोटे–छोटे बच्चे, बुड्ढे, सभी इसे चला सकते हैं और अपने परिवार की आवश्यकता की तृप्ति कर सकते हैं। आज भी चरखे की परम्परा इस देश में मौजूद है। वस्त्र की आवश्यकता विश्वव्यापी है। इसलिए यह एक आय की समृद्धि का साधन भी बन सकता है। अकाल के समय जब खेती नष्ट भ्रष्ट हो जाती है तब भी और सामान्यतः बराबर वर्षभर यह चलाया जा सकता है। अकाल के भय से मुक्ति मिल सकती है। इस देश के वासी चूल्हा, चक्की और चर्खे को पवित्र मानते हैं, इसलिए इसकी पूजा करते हैं। चर्खा प्रत्येक झोपड़ी तक पहुंच कर वहां के दारिद्र्य–नग्नता का निराकरण तो कराता ही है साथ ही साथ झोपड़ी से महलों तक सबके लिए यह संदेश देता है। भारतीय गांव के जीवन में एक उल्लास का भाव पुनः जागृत होता है। लाखों भारतीयों के जीवन–यापन का यह साधन है। ग्रामीण की शक्ति गांव में ही अक्षुण्ण रह जाती है। चर्खे से सभी अन्य प्रकार के उद्योगों का संचार होता है सभी साथ–साथ विकसित होने लगते हैं। गांव को सभी वस्तुओं के लिए स्वावलम्बी बना देते हैं। सम्पत्ति का वितरण सभी में कर्तृत्व के कारण सम होने लगता है। करोड़ों हाथों को रोजगारमय करने का कार्य चर्खा आरंभ करता है। वस्त्र, अन्न, तेल, गुड़, जूता, बर्तन आदि वस्तुएं विपुलता में प्राप्त होने लगती हैं सर्वसुलभ होती हैं। महंगे सस्ते की सभ्यता ही समाप्त हो जाती है। खेतीबारी, पशुपालन, उद्योग एक दूसरे के सहायक होकर एक दूसरे को समृद्धिशाली बनाते हैं। करोड़ों हाथों की मशीन से उत्पादन सभी जगह होने लगता है। यह उत्पादन आवश्यकतानुसार तथा सर्वसुलभ होने लगता है। गांधीजी विदेशी वस्त्र को शरीर के अंदर बाहरी तत्त्व के समान मानते हैं। विदेशी वस्त्र का प्रत्येक गज भूखे दीन भारतीयों के मुंह से रोटी का एक ग्रास छीन लेता है। खादी के धागे–धागे में लाखों माँ, बहनों का प्यार भरा का स्वरूप दिखाई देता है। उनके सपनों के भारत में घर–घर चरखा चलेगा। सभी को अपने घर–गांव में स्वास्थ्यवर्द्धक वातावरण में कार्य मिलेगा। एक–एक क्षण का प्रयोग होगा। समय बर्बादी नहीं होगी। सभी काम आवश्यक होंगे।

गांधीजी ने ऐसी आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की है, जिसमें सघन खेती, छोटे पैमाने पर व्यक्तियों द्वारा खाद्य पदार्थ, साग–सब्जी, फल–फूल, पशुपालन से सम्पन्न सहकारी प्रयासों पर आधारित होगी। इस खेती में मशीन, बड़े पैमाने पर खेती सामूहिक खेती नहीं होगी। दूसरे, कृषि के सहायक कुटीर उद्योग विकसित होंगे। उनके लिए कच्चा माल गांव से ही प्राप्त होगा। तीसरे, गौ–सेवा, पशु प्रधान कृषि की अर्थव्यवस्था में ऐसी स्थिति होगी कि जो कुछ भूमि से फसलों के रूप में प्राप्त होगा वह गोबर की खाद के रूप में भूमि को वापस कर दिया जायगा। चौथे पशु, मनुष्य और वनस्पतियों का सम्बन्ध उचित और संतुलित होगा। उसमें पारस्परिक लाभ की व्यवस्था होगी। पांचवे पशु और मनुष्य की शक्ति का पूरा–पूरा प्रयोग और संरक्षण होगा। बड़ी–बड़ी मशीनों और शोषणपूर्ण बाजारों द्वारा इनका शोषण नहीं किया जायगा। छठें, ग्रामोद्योग का पूर्ण विकास किया

जायगा और उसमें चरखा और खादी सबसे बड़ा केन्द्र होगा। सभी व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए अपने ही उपकरणों, अपने ही हाथ पैर पर निर्भर रहेंगे। इस प्रकार सबका स्वसम्पन्न स्वाभिमानपूर्ण समृद्धिशील जीवन होगा।

खादी और चरखा बहुत ही सस्ते और सर्वसुलभ हैं। हमारा यह भ्रम है कि हम खादी को महंगा, ग्रामोद्योग की वस्तुओं को महंगी और मिल के कपड़ों को सस्ता कारखाने के सामान को सस्ता समझते हैं। यह अर्थशास्त्र जिसके द्वारा हम सस्ते को महंगा और महंगे को सस्ता समझते हैं बड़ा ही भ्रांतिमूलक है। मिल और कारखाने अपनी बड़ी–बड़ी मशीनों द्वारा लाखों मनुष्यों को बेकार कर देते हैं, ये बेकार मनुष्य क्रयशक्तिविहीन होकर अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये तड़पते हैं, भूखों मरते हैं, वस्त्रविहीन होते हैं। कल्याणकारी सरकार मिलों और कारखानों पर टेक्स लगाकर इन बेकार मनुष्यों को भिक्षा देकर दान देकर जिलाती है। ऐसे मनुष्य, जो सरकार की इस भिक्षा पर जीवित हैं, स्वाभिमान रहित, पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं, गुलाम से भी निकृष्ट उनका जीवन होता, इनके हाथ पैर इनकी बुद्धि बेकार होती है। काम न करने से उनका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है, शारीरिक विकास भी नहीं होता, रोगग्रस्त होते हैं, कल्याणकारी राज्यों को इन सबकी सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है। भिक्षुक कर्मशालायें चलानी पड़ती है, यह बेकारी जघन्य अपराध और पाप का कारण बनती हैं, अपराध वृद्धि, अनैतिकता आदि का प्रसार होता है। आत्म हत्यायें, आलस्य आदि की वृद्धि होती है। यह है, मिल और कारखानों की मशीनों का परिणाम। यह बहुत ही महंगा पड़ता है।

जो थोड़े से व्यक्ति औद्योगिक नगरों में इन मशीनों के पुर्जे बनकर कार्य करते हैं, वे नर कंकाल गंदी बस्तियों, गंदे वातावरण, गंदे जीवन के कारण अपने सारे मानवीय आनन्द खो देते हैं। वे अपना स्वास्थ्य अपनी नैतिकता को खोते ही हैं, साथ ही साथ एक घृणित प्राणी बनकर जीवन यापन करते हैं। यह सब इन मशीनों और कारखानों के कारण ही होता है। इन त्रुटियों और कलंक को मिटाने के लिए राज्य को बहुत धन व्यय करना पड़ता है। इन त्रुटियों और कलंक को मिटाने के लिए राज्य को बहुत धन व्यय करना पड़ता है यह बहुत ही महंगा पड़ता है।ग्रामोद्योग की वस्तुओं के उपभोग से जैसे हाथ की बनी चीनी, हाथकुटा चावल, तेलघानी का तेल आदि बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक होता है। इसके उपभोग से मनुष्य स्वस्थ एवं दीर्घायु होता है। अस्वस्थता पर, बीमारी पर बिल्कुल ही व्यय नहीं करना पड़ता है। परंतु जब हम मिल की चीनी, मिल के तेल, मिल का चावल का उपभोग करते हैं तो अनेक रोगों के शिकार होते हैं, और डॉक्टर एवं औषधियों पर अधिक व्यय करना पड़ता है, इसलिए ग्रामोद्योग की वस्तुएं सस्ती और मिल कारखाने की वस्तु महंगी पड़ती है।

खादी करोड़ों व्यक्तियों को रोजगार देती, स्वाभिमान पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति देती है। समाज में जो पेशे के कारण ऊंच नीच का भेद है उसका निराकरण करती है। श्रम को प्रतिष्ठा देती है। सभी के कर्तृत्व और पुरुषार्थ को उचित अवसर देकर उनकी इंद्रियों को विकसित करती है। खादी और खादी बनाने के उपकरण का स्वामित्व उसी का होता है। इसलिए उसमें मालिक और मजदूर के विचार आते ही नहीं। किसी प्रकार के हड़ताल, तालाबंदी के लिए कोई गुंजाइश नहीं। बच्चों से लेकन बुड्ढों तक की रचनात्मक और सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। अपने स्वस्थ परिवार के वातावरण में अपनी कुटिया और प्राकृतिक वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति कार्य करता है, और कार्य का आनन्द लेता है। अपने हाथ से बनाये हुये वस्त्र प्रयोग करता है। अपने संसार की सृष्टि राम बनकर करता है। यह बाजार से हटकर परिवार में सारी मूलभूत आवश्यकताओं की तृप्ति करता है। खादी द्वारा प्राप्त सारी सम्पत्ति इस स्वावलम्बी व्यक्ति की होती है। अपने

हाथ से कती हुई, अपने हाथ से बनी हुई, अपने हाथ से धुली हुई खादी धारण करके वह सुख का अनुभव करता है। मिल के कपड़े से खादी बहुत सस्ती पड़ती है। खादी की और मिल के कपड़े की पूर्ण लागत या तो कहे कि वास्तविक लागत को जब हम समझते हैं तो मिल का कपड़ा बहुत ही महंगा पड़ता है।

खेती के साथ–साथ या अन्य पेशों में साथ–साथ छोटे से चर्खे या छोटे से ग्रामोद्योग के यंत्र को लेकर मनुष्य मनोरंजन के रूप में उत्पादन करता है। जितना समय मनुष्य का आलस्य और बेकारी में नष्ट हो जाता है, वह खादी या अन्य वस्तुओं के बनाने में मनोरंजन के रूप में लगता है। इसलिए इसकी कोई विशेष लागत नहीं होती, यह तो आनन्द के लिए एक कार्य बन जाता है, क्योंकि कार्य का परिवर्तन ही अवकाश और आनन्द है।यह भी एक भ्रम है कि मिल और कारखानों से अधिक उत्पादन होता है। एक गांठ रूई से मिल में जितना वस्त्र बनता है, उतना ही वस्त्र चर्खे से भी बनता है। जितना तेल, जितनी चीनी, जितना आटा मिल और कारखानों से एक मन कच्चे मान में बनता है उतना ही ग्रामोद्योग के यंत्रों से भी बनता है। अंतर केवल यही है कि वे केन्द्रित उद्योग हैं और ग्रामोद्योग विकेन्द्रित उद्योग हैं। अधिक और न्यून उत्पादन का यह विचार भी भ्रांतिमूलक है।इस प्रकार से खादी का अर्थशास्त्र हमारे लिए बहुत ही सस्ता, बहुत ही स्वास्थ्यवर्द्धक और बहुत ही उपयोगी है।

इसकी रूपरेखा गांधी ने उसी समय जनता के सम्मुख रख दी, जब दक्षिण अफ्रीका से लौट कर उन्होंने हिन्दुस्तान को अपना कार्य–क्षेत्र बना लिया था। उस समय की समस्या बहुत कठिन समस्या थी। सिर पर महान ब्रिटिश साम्राज्य की तलवार हिन्दु–मुस्लिम अनैक्य, छुआछूत का भूत, अज्ञान की खाई–कुशिक्षा का कुमार्ग और भुखमरी की भरमार से सब गांधी को विचलित कर रहे थे पर गांधी उससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने आत्मबल की हुंकार भर से सबसे भिड़ जाने की ठान ली। सबसे लड़ना शुरू कर दिया और गरीब–से–गरीब बन लगोटी लगा ली, झोपड़ी में रहने लगे और रूखी या फल–फूल खा या बकरी का दूध पीकर जीवन निर्वाह करने लगे, क्योंकि वे इसके लिए नहीं ठहर सकते थे कि पहले सब उनके मत के हो जायें। देश अन्य देशों को पहनने के लिये उत्तम कपड़ा भेजता था, वह विलायत के मेनचेस्टर आदि स्थानों के कपड़ों पर निर्भर हो जाय और गरीब को तन ढकने के लिये कपड़ा न दे सके यह उनसे न सहा गया इसलिये इन्होंने घर–घर चरखा सूत कातने बुनने और खादी पहनने का आदेश दिया। साथ–ही–साथ हाथ से कपास औटने, रूई धुनने और धुनी हुई रूई की पौनी बना लेने का भी प्रचार किया, ताकि कपड़ा बनाने की काई भी क्रिया ऐसी न रहे, जिसके लिए मशीन या विदेशियों पर निर्भर रहना पड़े। अंधकार से निकालने वाली भूख और बेकारी से बचाने वाली, अतिरिक्त समय का सदुपयोग कराने वाली, जाति–भेद को मिटाने वाली, वह थी सर्वोदय की प्रथम राशि।

यह चर्खा–खादी वाला उद्योग, गांधी की आर्थिक योजना का मुकुट है। उसमें स्वावलम्बन अहिंसा, विकेन्द्रीकरण, रचना और व्यक्तित्व उसमें कूट–कूट कर भरे हुए हैं। वह भूखे को भोजन और नंगे को कपड़ा देने वाला तो है ही, पर समाज को भी साथ ही साथ अर्थ सम्पन्न करने वाला है। चर्खा ओर खादी की महत्वपूर्ण प्रशंसा गांधीजी ने पग–पग पर की है। उन्होंने तो यहां तक कहा कि यदि ग्रामीण आर्थिक स्थिति को सौर्यमंडल की उपमा दी जाय, तो खादी सूर्यरूप है और अन्यान्य दस्तकारियां तारागणरूप। खादी भोलेपन और इसलिये जीवन की पवित्रता का प्रतीक है और चर्खा अहिंसा का, क्योंकि उसमें दरिद्रनाराण का सेवा–भाव विद्यमान है।

खादी और चरखे के महत्व की ओर गांधीजी का ध्यान पहली बार 1908 में गया जब उन्हें इस बात का भी पता नहीं था चरखा कैसा होता है। तब वे चरखे और करघै का अन्तर भी नहीं जानते थे। उस समय उन्हें भारती के गांवों की दशा की अत्यंत धुंधली–सी कल्पना थी, फिर भी उन्हें यह निश्चय हो गया था कि उनकी गरीबी का मुख्य कारण चरखे का नाश है और उन्होंने अपने मन में यह ठान लिया था कि भारत लौटने पर वे इसका पुनरूद्धार करेंगे। चरखे के आन्दोलन का उद्देश्य भारत की लाखों झोपड़ियों में कताई का जिसे यहां से अन्यान्यपूर्ण, अवैध और अत्याचारपूर्ण उपायों के द्वारा निकाला गया था फिर से स्थापना करना था। चरखा सामान्य जनता की आशा का प्रतीक था। अगर ग्रामवासियों को अपनी उपयुक्त स्थिति प्राप्त करनी है, तो उसका सबसे सीधा और स्वाभाविक उपाय यही था कि चरखे को उसके सारे फलितार्थो के साथ फिर से जीवित किया जाये।

भारत की किसान जनता का अधिकांश लोग साल में चार छः माह ही काम करते हैं, बाकी समय उसे बेकारी में बिताना पड़ता है इसलिए वे लगभग भुखमरी की हालत में जीते है। यह उसकी सामान्य स्थिति है। फिर किसानों की इस बेकारी में, जो उन्हें परिस्थितिवश जबरदस्ती भोगनी पड़ती है, बार–बार होने वाले दुर्भिक्ष को और ज्यादा वृद्धि करते हैं। अपनी स्वल्प–सी आय के साधनों की पूर्ति के लिए ऐसा कोई कताई ही है जिसे किसान लोग घर बैठे आसानी से कर सकते है। प्रत्येक कृषि प्रधान देश को एक पूरक उद्योग की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा वहां के किसान अपने खाली समय का सदुप्रयोग कर सकें। भारत में ऐसा उद्योग हमेशा कताई का ही रहा है क्योंकि उससे किसानों का थोड़ा बहुत आर्थिक लाभ भी होता है।

गांधीजी ने कहा ''लाखों लोगों के लिए जिसकी कल्पना की जा सकती है, ऐसा सबसे ज्यादा उपयुक्त और व्यावहारिक उद्योग कताई ही है।'' लोग, आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से ज्यादा गरीब होते जा रहे थे। उनकी काम करने, विचार करने, यहां तक कि जीने की भी इच्छा तेजी तेजी से क्षीण होती जा रही थी। खादी ने उन्हें काम दिया उसको औजार दिये और अपनी बनायी वस्तुओं के लिए तैयार बाजार भी दिया। जहां कल तक सघन निराशा छायी हुई थी वहां उसने उन्हें आशा का प्रकाश दिया।इसके अलावा गांधीजी ने कहा ज्यों–ही लाखों स्त्री–पुरुषों को कताई से कोई ज्यादा अच्छा यानी आर्थिक दृष्टि से ज्यादा लाभकारी धन्धा मिला जाय उन्हें कताई का काम छोड़ देने की पूरी आजादी हैं। लोगों के पास कताई से ज्यादा अच्छा धंधा हो तो इससे गांधीजी कहते थे, सबसे ज्यादा खुशी मुझे होगी। इसके आगे गांधीजी ने कहा कि ''जब तक सोलह वर्ष से ऊपर के प्रत्येक तंदरूत स्त्री–पुरुष के लिये भारत के प्रत्येक गांव में उनके खेत या झोपड़ी में, या कारखाने में ही, काम और काफी मजदूरी दिलाने का बेहतर तरीका न निकाल लिया जाय, तब तक लाखों ग्रामीणों की दृष्टि से खादी ही एकमात्र सच्ची आर्थिक योजना हैं। या फिर गांवों के स्थान पर इतने शहर बन जाने चाहिए कि देहातियों को वे जरूरी सुख–सुविधाओं प्राप्त हो जायें, जो एक सुनियमित जीवन के लिए जरूरी है। मैंने अपनी बातों इतनी पूरी तरह यही दिखाने की लिये कोशिश की है जिसकी लम्बे समय तक कल्पना की जा सकती है उतने लम्बे समय तक इस समस्या का हल खादी ही रहेगी।

गांधीजी चरखे के लिए यह दावा करते थे कि वह हमारी गरीबी के सवाल को अत्यन्त सरल, स्वभाविक तथा व्यवस्थित पद्धति से हल करने की शक्ति रखता है और महत्व की बात यह है कि उसमें हमें लगभग कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। कताई के इन लाभों को गिनाते हुए उन्होंने कहा था :–

- जिन लोगों को फुरसत है और जिन्हें थोड़े से पैसों का भी जरूरत है, उन्हें इससे आसानी से रोजगार मिल जाता है।
- इसका हजारों को ज्ञान है।
- यह आसानी से सीखी जा सकती है
- इसमें लगभग कुछ भी पूंजी लगाने की जरूरत नहीं होती।
- चरखा आसानी से और सस्ते दामों में तैयार किया जा सकता है।
- लोगों को इससे अरूचि नहीं है।
- इससे अकाल के समय तात्कालिक राहत मिल जाती है।
- विदेशी कपड़ा खरीदने से भारत का जो धन बाहर चला जाता है उसे यही रोक सकती है।
- इससे करोड़ों रुपयों की जो बचत होती है वह अपने आप सुपात्र गरीबों में बंट जाती है।
- इसकी छोटी–से–छोटी सफलता से ही लोगों को बहुत कुछ तात्कालिक लाभ होता है।
- लोगों में सहयोग पैदा करने का अत्यन्त प्रबल साधन है।

कताई के उद्योग की सफलता के लिये सहकारी मंडली की अनिवार्य आवश्यकता है। हाथ कताई का प्रचार करके गांधीजी अपने शब्दों में दुनिया की सबसे बड़ी सहकारी मंडली की स्थापना कर रहे थे। उनका यह दावा बहुत बड़ा जरूर था, किन्तु वह गलत नहीं था। क्योंकि हाथ कताई अपना माना हुआ मकसद तब तक पूरा नहीं कर सकती, जब तक कि उसमें लगे हुए लाखों लोग सचमुच सहयोग से काम न करें। इस उद्योग में सहयोग आरम्भ से ही जरूरी है। हाथ–कताई आदमी को आत्म निर्भर बनाती है पर साथ ही वह इस बात को समझने की सुविधा और प्रेरणा भी देती है कि इस उद्योग में हर कदम पर परस्पर माल के उत्पादन तथा वितरण की प्रक्रिया में अत्यन्त विशाल पैमाने पर लाखों लोगों के सहयोग की आवश्यकता है।

खादी संगठन एक सेवा संस्था है। गांधीजी का कहना है कि खादी स्वराज्य प्राप्ति का सरल साधन है, तो भी हमें अपनी खादी संस्थाओं को सिर्फ आर्थिक प्रवृति के रूप में ही चलाना चाहिए। फिर खादी की संस्थायें तो महज आर्थिक संस्थायें नहीं है, इससे बढ़कर वे पारमार्थिक संस्थायें भी है। उनका उद्देश्य किसी भी प्रकार के स्वार्थ साधन की नहीं किन्तु लोकहित–साधन का है। हमारी खादी संस्थाओं का ध्येय तो जनता के 'प्रेम साधन' का नहीं, किन्तु उसके 'श्रेय साधन' का है। सन् 1919 में भारत की स्वतंत्रता के प्रेमी को अहिंसा और चरखे का संदेश मिला और उन्हें यह बताया गया कि अहिंसा की स्वराज्य का एकमात्र साधन है और चरखा अहिंसा का प्रतीक है। अहिंसा का चरखे के सिवा कोई दूसरा साधन नहीं है। चरखे के सार्वत्रिक प्रचार के बिना अहिंसा की मूर्त्त अभिव्यक्ति संभव नहीं है।

6-4 xk/kkokn vkj xkeh.k fodkl

महात्मा गांधी का चिंतन आदर्श और व्यावहारिक दोनों प्रकार का है। भारतीय जनता को उन्होंने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परतंत्रता से भी मुक्ति दिलाई। उन्होंने नारी के प्रति, अस्पृश्य वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा ग्रामीण जनता के प्रति संभावना तथा सद्भावना की नींव डाली। मानवता को परमधर्म मानकर युग की वाणी को नई दिशा देकर कर्म द्वारा भारत और भारतीयों का अभिनन्दन किया। उन्होंने तिरस्कृत, अश्पृश्य वर्ग, दलित वर्ग को गले लगाया। ऊंच–नीच का भेदभाव मिटाया। ग्रामीण जनता के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए चिंतित और प्रयत्नशील थे और निरंतर प्रयासरत रहे।

पंचायती राज ग्राम स्वराज का क्रियात्मक रूप है। पंचायत और पंचायती राज का अतीत हमारी संस्कृति की ही तरह गौरवपूर्ण रहा है। वेदों में भी ग्राम संगठन का उल्लेख मिलता है। गांवों में स्वस्थ और परिपुष्ट विश्व की कल्पना वेदों में की गई है। राजतंत्र में राजसूर्य यज्ञ के समय 'रत्नहवि' जैसे संस्कार में ग्रामीण की उपस्थिति अत्यधिक महत्त्व रखती थी। पदच्युत किए गए राजाओं को पुनः राज्य अधिकारी बनाने के लिए राजसूय यज्ञ किए जाने पर 8 वीरों में एक ग्रामीण भी होता था। इस प्रकार का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। मौर्य एवं गुप्तकाल में भी पंचायतें होती थीं। शक, हूण यवन और अंग्रेजों के आने से पंचायतें समाप्त हो गई थीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो गया और पंचायती राज की पुनः प्रतिष्ठा हो गई।

भारतन् कुमारप्पा ने लिखा है– ''गांधी जी अपने को ग्रावासी ही मानते थे और गांव में ही बस गए थे। गांव की जरूरतें पूरी करने के लिए उन्होंने अनक संस्थाएं कायम की थीं और ग्रामवासियों की शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति सुधारने का उन्होंने भरसक प्रयास किया था''। गांव के पुनर्निर्माण में गांधीजी के विचारों की सबसे बड़ी खूबी इस बात में है कि ग्रामोत्थान की योजना बनाते समय वे केवल उनका आर्थिक स्तर उठाने का ध्यान ही नहीं रखते थे बल्कि शांति, न्याय और सबके लिये स्वतंत्रता का आधार खड़ा करने की चिंता भी रखते थे। अगर हम यह बात ध्यान में न रखें तो गांधीजी को समझने या उनके सुझावों के महत्त्व को समझने में पूरी तरह असफल रहेंगे। वे भारत को गांवों में देखते थे। गांधीजी लिखते हैं, ''गांव की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी।'' अगर गांव नष्ट हो गए तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जाएगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायेगा। एक आदर्श गांव की परिकल्पना करते हुए गांधीजी लिखते हैं–''आदर्श भारतीय गांव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए जिससे वह सम्पूर्णतया निरोग हो सके। उसके झोपड़ों और मकानों में काफी प्रकाश और वायु आ जा सके। ये ऐसी चीजों के बने हों जो पांच मील की सीमा के अंदर उपलब्ध हो सकें। हर मकान के आस–पास या आगे–पीछे इतना बड़ा आंगन हो जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग–भाजी लगा सकें और अपने पशुओं को रख सकें। गांव की गलियों और रास्ते पर धूल न हो। अपनी जरूरत के अनुसार गांव में कुएं हों जिनसे गांव के सब आदमी पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना घर या मंदिर हो, सहकारी ढंग की अपनी गौशाला हो। ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाएं हो जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान हो और गांव के अपने मामले निपटाने के लिए ग्राम पंचायत भी हो। अपनी जरूरतों के लिए अनाज, साग–सब्जी फल, खादी वगैरह खुद गांव में ही पैदा हो। एक आदर्श गांव की मेरी यह कल्पना है।''

गांधीजी ने ग्रामीण विकास की जो परिकल्पना बनाई थी वह एक आदर्श और समग्र विकास की परिकल्पना थी। गांव के विकास के लिए ग्राम स्वराज्य को वे आवश्यक मानते थे। उनकी मान्यता थी कि ''ग्राम स्वराज्य आज हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है। जब तक गांव आजाद नहीं होते तब तक देश की आजादी का कोई अर्थ नहीं है। आज भारत के गांव टूटे हुए हैं। ग्रामीण उद्योग समाप्त हो रहे हैं। गांव की जनता सरकार की सहायता और सहारे पर निर्भर है। हर तरह के गांव आज कमजोर हैं। कमजोर गांव का राष्ट्र कमजोर ही रहेगा। फौजी या हथियारों की ताकत से कोई राष्ट्र मजबूत नहीं बन सकता है। गांव की मजबूती ही देश की मजबूती है। गांव को मजबूत बनाने का एकमात्र उपाय है ग्राम स्वराज्य की स्थापना।''

ग्राम स्वराज्य का पंचायती राज क्रियात्मक रूप है। हमारी संस्कृति और सभ्यता की भांति पंचायत और पंचायती राज की अतीत काल से गौरवमयी परम्परा रही है। वेदों में ग्राम व ग्राम संगठन का कई स्थानों पर

उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि ''विश्व पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनानुरम्'' अर्थात् इस गांव में स्वस्थ और परिपुष्ट विश्व का दर्शन हो। तैत्तरीय संहिता में ग्रामीण की गणना ग्राम के अग्रगामी सदस्य के रूप में की गई है। राजतंत्र में राजसूय यज्ञ के अंतर्गत रत्नहवि जैसे संस्कार में ग्रामीण की उपस्थिति अत्यावश्यक मानी गई थी। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि पदच्युत किए गए राजाओं को पुनः राज्याधिकारी बनाने के लिए जब राजसूय यज्ञ किया जाता था तब उसमें 8 वीरों में एक ग्रामीण भी होता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि एक ग्राम के ऊपर 5 ग्रामों का समूह होता था जिसके शासक का भार पंचग्रामी नामक राज्य कर्मचारी पर होता था। मौर्य तथा गुप्त काल में पंचायतें थी। जिन्हें ''ग्राम वृद्ध सभा'' की संज्ञा प्राप्त थी। ''अपनी धरती अपना राज'' का सिद्धान्त प्रचलित था। शक, हूण, यवन और अंग्रेजों के आगमन से पंचायतों का स्वरूप नष्ट हुआ। जमींदारी प्रथा की शुरुआत हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पंचायती राज की पुनः प्रतिष्ठा हुई।

2 अक्टूबर, 1959, बापू की जन्मतिथि पर पं. जवाहरलाल नेहरू ने राजस्थान के नागौर गांव में लोकतंत्र के विकेन्द्रीकरण का पहला दीप जलाया। नेहरू ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण जैसा लम्बा नाम पसन्द न कर इसे सीधी–सादी 'पंचायती राज' की संज्ञा दी।' नेहरू जी ने कहा था कि ''मेरा यह निश्चय हो गया है कि सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण हो और सत्ता गांवों को सौंपी जानी चाहिए।'' पंचायती राज की व्यवस्था तीन स्तरीय है– 1. ग्राम पंचायत, 2. पंचायत समिति, 3. जिला पंचायत। इस व्यवस्था में ग्राम प्रशासन की आधारभूत इकाई ग्राम प्रचायत होगी, परंतु विकास कार्य के सम्बन्ध में मुख्य इकाई पंचायत समिति विकासखण्ड स्तर पर रहेगी और जिला परिषद् समन्वय और परामर्श का कार्य करेगी। गांधीजी पंचायती राज को ग्रामीण विकास के लिए अनिवार्य मानते हैं।

ग्राम पंचायतों के कार्यों का निर्धारण करते हुए गुरुशरण ने लिखा है–''वे ग्राम सभा क्षेत्र में अन्य बातों के साथ सफाई, गंदगी का निकास तथा अन्य बातों के साथ कष्टों की रोकथाम और निराकरण करने, कानून और व्यवसाय बनाए रखने, सार्वजनिक कुंओ, तलैयों और तालाबों की साज–सज्जा तथा मरम्मत करने, घरेलू उपयोग के लिए जल की पूर्ति करने, कृषि का विकास करने और कुटीर उद्योगों तथा सहकारिता को प्रोत्साहन देने की उचित व्यवस्था करें। पंचायतें सार्वजनिक सड़कों, पुल–पुलियाओं, लघु सिंचाई कार्यों के निर्माण तथा प्रबंध और स्वास्थ्य एवं सफाई का कार्य भी करेंगी।''

पंचायती राज की आदर्श व्यवस्था गांधी जी ने देश के सामने रखी थी जिसमें जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन होगा। स्वशासन या स्वराज्य होगा। परंतु आज आजादी के पचास वर्षों बाद भी ग्रामीण विकास की वह तस्वीर सामने नहीं आई जो गांधी के सपनों का रामराज्य था। संत विनोबा जी ने ठीक ही कहा था– ''हमारा स्वराज्य राजधानियों में अटका पड़ा है। गांव में जब तक बेकारी, अशिक्षा, परावलम्बन, व्यसन हैं और आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और गांव का राज नहीं है तब तक देश की नींव कच्ची ही रह जाएगी। इस नींव को हमें पक्का बनाना है। तभी सारा देश स्वराज्य का सच्चा आनन्द ले सकेगा।'' निश्चित रूप से भारत में गांव पंचायतों की स्थापना का उद्देश्य पवित्र था परंतु स्थानीय परिस्थितियां, अशिक्षा, बेकारी, गरीबी, अस्पृश्यता के कारण तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता विशेषकर सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में पंचायती राज अपनी मूल भावना को आज भी साकार नहीं कर सका है। आज आवश्यकता है सच्चे पंचायती राज की, जो गांधीजी की परिकल्पना के अनुकूल हो, तभी ग्रामीण विकास को सक्रिय गति मिल सकेगी। इसके

लिए गांव वालों को अपना पुरुषार्थ जगाना होगा। गांव में स्वयं पूर्ण स्वराज्य का दर्शन करना चाहिए। यह तब होगा जब जनता सरकार पर निर्भर न रहकर अपने पैरों पर खड़ी होगी।

हमारे देश में 80 प्रतिशत जनसंख्या आज भी गांव में रहती है। जब तक मनुष्य देहधारी है तब तक अन्न के बिना उसका काम नहीं चल सकता है। पशु हो या मनुष्य भोजन तो उसे जमीन से ही मिलेगा। शहर चाहे जितने फलफूल हो जाएं लेकिन उनका आधार खेती प्रधान गांव पर ही रहेगा। काका कालेलकर ने ठीक ही लिखा है कि ''संसार का नेतृत्व भले ही शासकों, सेनापतियों, न्यायाधीशों, विद्वानों, व्यावसायियों और उद्योगपतियों के हाथ में हो परंतु जगत का पिता अंत में किसान है। गांधीजी गांव की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से भली भांति परिचित थे। उन्होंने अर्थशास्त्रियों से अनुरोध किया था ''पश्चिम के अर्थशास्त्र को भूल जाओ, अपने पूर्वाग्रह को त्याग दो, गांव में जाकर वहां की परिस्थिति का अवलोकन करो, गहराई में उतर कर लोक जीवन के गुण दोषों की जांच करो और इस ठोस और मजबूत बुनियाद पर ऐसे स्वतंत्र और लाभदायी अर्थशास्त्र की रचना करो जो भारत की परिस्थितियों के अनुकूल हो तथा देश के सामान्य जन का उद्धार कर सके।

गांधीजी के समग्र विकास में आर्थिक विकास को आवश्यक मानते थे। वे कहते थे कि ''गांव की प्रधान समस्या यह है कि वहां की अविकसित अर्थव्यवस्था का विकास कैसे किया जाए और उसमें स्वतः विकसित होने की क्षमता कैसे लाई जाए। हमारे गांवों की स्थिति तो बेकार पड़े हुए साधनों और मनुष्य शक्ति के उपयोग का सवाल है हमें ऐसी युक्ति निकालनी होगी कि गांव के सम्पूर्ण साधन और गांव की सम्पूर्ण जनशक्ति गांव के समग्र विकास के लिए प्रयोग में लाई जाए। उन्हीं का प्रयोग करके स्वयं विकास की प्रक्रिया गांव में आरम्भ हो सकती है।'' साधन और गांव की जनशक्ति के उपयोग के लिए गांधी जी ने तीन बातें सामने रखी हैं–1. खेती, 2. खादी, 3. ग्रामोद्योग या कुटीर उद्योग। गांवों में आज भी खेती पुराने तरीकों से होती है, छोटे–छोटे खेत बिखरे हुए हैं, सिंचाई का भरपूर प्रबंध न होने, अच्छी खाद और बीज आदि की कमी, पुराने औजार, पुराने साधन, खेती की पुरानी पद्धति, समय पर पूंजी तथा साधनों का अभाव के कारण खेती की पैदावार बहुत कम है। गांधीजी मानते थे कि, ''गांवों को अपनी ताकत लगा कर खेती की उपज बढ़ानी होगी। खेती की चकबंदी, सिंचाई का अच्छा प्रबंध, उत्तम खाद, हरी खाद, अच्छा बीज, अच्छे और नये औजार, नये साधन, नयी पद्धति का सहारा लेना होगा। खेती के लिए जरूरी पूंजी ग्रामकोष से जुटानी होगी। बाहर से कुछ भी मदद ली जा सकती है।''

खेती के साथ ही गांधीजी ने खादी का सिद्धान्त दिया। जिससे स्वयं निर्मित वस्त्रों का उपभोग महत्त्वपूर्ण था। गांधीजी मानते थे कि, ''अगर खादी का विकास होता है तो उसके साथ दूसरे अनेक ग्राम उद्योगों का विकास का दरवाजा खुल जाएगा। खादी और ग्रामोद्योग एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।'' गांधीजी चरखे को 'जीवनदाता सूर्य' मानते थे। वे चरखे को ''राष्ट्र की समृद्धि'' और उसकी आजादी का 'चिन्ह' मानते थे। गांव के करोड़ों लोगों के हाथ को काम चरखा ही दे सकता है और बेकारी को दूर कर सकता है। चरखा व्यापारिक युद्ध की नहीं बल्कि व्यापारिक शांति की निशानी है। उसका संदेश संसार के राष्ट्रों के लिए दुर्भाव का नहीं बल्कि सद्भाव और स्वावलम्बन का है। वे चरखे को भारत के आर्थिक और नैतिक पुनरूद्धार का प्रतीक मानते थे।

गांवों के आर्थिक विकास के क्रम में गांधी जी खेती और खादी की तरह ग्रामोद्योग को महत्त्वपूर्ण कारक मानते थे। गांधीजी कहते थे कि ''ग्रामोद्योगों'' को प्रोत्साहन और संजीवन देने में सच्चा स्वदेशीपन है जो लोग गरीबी से पीड़ित हैं वे किसी ग्रामोद्योग को अपना लें और अपनी मालूली–सी आमदनी में वृद्धि करें। वे मानते थे कि ''ग्रामोद्योगों के पीछे मेरी कल्पना यह है कि हमें अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताएं गांव की बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहिए। गांधीजी ने ग्रामोद्योग में हाथकरघा उद्योग, तेलघानी उद्योग, चावल की हाथ कुटाई उद्योग, मधुमक्खी पालन, ताड़गुड उद्योग, हाथ कागज का उद्योग, चमड़े का ग्रामोद्योग, दियासलाई का कुटीर उद्योग, अखाद्य तेलों से साबुन बनाना, मिट्टी की चीजें बनाना, छोटे पैमाने के उद्योग, दस्तकारी बोर्ड और उसका कार्य, नारियल की जटा का उद्योग, रेशम उद्योग आदि को सम्मिलित किया। जो गांव के साधनों और जनशक्ति का उपयोग द्वारा संचालित किए जा सकते हैं, ग्रामोद्योग के विशेषज्ञ शोभालाल गुप्ता का मानना है कि ''देश की अर्थव्यवस्था में ग्रामोद्योग, हस्तकला कौशल और छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश की सबसे बड़ी और तात्कालिक समस्या बेकारी की है। ... लोगों को रोजगार देने की क्षमता सबसे अधिक ग्रामोद्योगों में ही है। इस कारण उनका विकास और विस्तार राष्ट्रीय अर्थ नीति का आवश्यक अंग होना चाहिए। देश ने समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था कायम करने का संकल्प लिया है। उसमें आज के जैसी आर्थिक उत्पादन विषमता कायम नहीं रह सकती हैं। सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ आर्थिक उत्पादन की प्रकृति पर निर्भर करता है। ग्रामोद्योगों की विकेन्द्रित उत्पादन और सम्पत्ति का समान वितरण संभव बनाना है। इसलिए यदि राष्ट्र को समता और शक्तिमूलक समाज व्यवस्था कायम करनी है तब लोगों के लिए रोजगारी का प्रबंध करना है, उनका जीवन स्तर ऊंचा उठाना है और उत्पादन भी बढ़ाना है तो यह ग्रामोद्योगों और हस्तकला कौशल के विकास से ही संभव हो सकता है। वर्तमान में यंत्रीकरण के माध्यम से शहरों में बड़े उद्योगों की स्थापना हुई है उससे उत्पादन बढ़ा है जीवन जीने के बेहतर तरीके सामने आएं हैं, सुख सुविधाएं बढ़ी हैं लेकिन गांव की गरीबी और बेकारी भी बढ़ी है, पूंजीपति रातों–रात अमीर हुए और ग्रामीण जनता दिनों–दिन गरीब हुई है। गांव की लक्ष्मी अब शहरों की शोभा बनी है। गांव की लक्ष्मी पहाड़ पर बरसे पानी के समान है जो कभी अपने स्थान पर नहीं ठहरती है। विनोबा जी कहते थे कि ''गांव की लक्ष्मी 5 रास्तों से शहर की ओर जाती है ये हैं– बाजार, शादी–ब्याह, साहूकार, सरकार और व्यसन। इन पांचों रास्तों को रोककर ही गांव की लक्ष्मी रोकी जा सकती है।'' गांव को गोकुल बनाना होगा तभी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आदर्श ग्राम विकास में प्रस्तुत किया जा सकता है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि अर्थव्यवस्था मनुष्य के लिए है मनुष्य अर्थव्यवस्था के लिए नहीं। मनुष्य को आंतरिक अथवा पूर्ण विकास से वंचित रखने का कोई अधिकार अर्थव्यवस्था को नहीं है और न केवल बाह्य या भौतिक मूल्यों के लिए मनुष्य को काम में जोतने का उसे अधिकार है। इसलिए यदि ग्रामवासियों को अर्थ व्यवस्था का दास नहीं बनाना है तो ग्रामीण उद्योग धन्धे नष्ट नहीं होने चाहिए। गांधीजी कहते थे कि, ''पैसे का अर्थशास्त्र हमारे दृष्टिकोण को धुंधला करता है।'' स्वरोजगार में स्वावलम्बन और स्वदेशी का महान आदर्श छुपा है जिसको केवल आर्थिक विशेषकर धनोपार्जन से नहीं आंका जा सकता है। गांधीजी चाहते थे कि ''जब अर्थशास्त्र और जीवन में ग्रामीण दृष्टि का प्रवेश होगा तब देहात की बनी चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर जनता का मन झुकेगा। आज सम्पत्ति देहात से शहरों में होकर विदेश चली जाती है इस प्रवाह को बदलने की जरूरत है। जिससे सम्पत्ति देहात में ही रहे और देहाती स्वावलम्बी बनें।''

राजनैतिक एवं आर्थिक विकास की तरह सामाजिक विकास भी गांव के समग्र विकास के लिए आवश्यक है। गांधीजी सागर वृत्ति वाली समाज रचना के पक्षधर थे। इसकी परिकल्पना करते हुए गांधीजी कहते हैं–''ऐसा समाज अनेक गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक ही शकल का होगा। जिन्दगी मीनार की शकल की नहीं होगी जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा रहना पड़ता है वहां तो समुद्र की लहरों की तरह एक के बाद एक की शकल में होगी और व्यक्ति उसका मध्य बिन्दु होगा। व्यक्ति गांव के लिए, गांव पड़ोसी के लिए और अंततः सब एक दूसरे के लिए तैयार रहेंगे।

सागर वृत्ति वाली रचना गांव की वर्तमान गतिशून्य अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील और उन्नत बनाने का प्रबल साधन है। गांव के सामाजिक विकास के लिए शिक्षा और बाल कल्याण, स्वास्थ्य और सफाई, रोजगार की निश्चित व्यवस्था, सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध, सामाजिक खर्च, व्यवसाय विभाजन, ज्ञान का विस्तार, सांस्कृतिक अलगाव से उद्धार, परस्पर आदरभाव, सहकारी खेती, अस्पृश्यता व भेदभाव की समाप्ति, व्यक्ति और परिवार की स्वतंत्रता और सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करना आवश्यक है। गांव बनाने व बसाने की निश्चित योजना होनी चाहिए।

गांवों में मकान बनाने का न कोई विचार होता है न कोई योजना। जनसंख्या के अनुसार मकान बढ़ा लिए जाते हैं। परिणामस्वरूप न तो नालियों का प्रबंध की गुंजाइश होती है न स्नानघर की। शौचालय बनाने की पद्धति तो गांवों में है ही नहीं। न हवा की चिंता न धूप की व्यवस्था। अतः भवन निर्माण नियोजित होना चाहिए। अन्त्योदय से सर्वोदय की ओर चलना होगा तभी सामाजिक विकास की परिकल्पना साकार होगी। ''एक सबके लिए, सब एक के लिए'', तन, मन, धन से सहयोग कर आदर्श समाज व्यवस्था कायम करेंगे। ''गांधीजी ऐसी समाज व्यवस्था को सर्वोदय समाज की संज्ञा देते हैं।''

भारतीय गांवों की वर्तमान स्थिति, विकास और प्रगति की नहीं बल्कि नैराश्य की है। इसका कारण है ग्राम संस्कृति का गतिशून्य हो जाना, बाहरी दुनिया से उसका सम्बन्ध–विच्छेद हो गया है। ग्राम समाज का संगठन टूट रहा है। काम करने के पुराने तरीकों में सुधार नहीं हो रहा है। ग्रामीण जीवन में शिथिलता है, शोषण है, अलगाव है। आज गांवों में लोगों के घर एक दूसरे से सटे हुए किंतु उनके दिल कटे हुए हैं। आबादी दिनों–दिन बढ़ रही है लोगों के लिए जमीन कम पड़ रही है। करोड़ों लोग गांव में रहते हैं उनके लिए उद्योग–धंधे होने चाहिए। फैक्टरियां करोड़ों को काम नहीं दे सकती हैं। ग्रामीण उद्योगों को बढ़ाना होगा। गांव के लोगों को गांव में ही रोजगार देना होगा तभी गांव का आर्थिक विकास संभव है। समाज में अहिंसक क्रांति होनी चाहिए। राजनीति का आध्यात्मीकरण हो और अर्थव्यवस्था सहकार की भावना पर आधरित होनी चाहिए।

गांधीजी ने ग्रामीण विकास की एक समग्र योजना प्रस्तुत की है। जिससे गांव का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सम्पूर्ण विकास संभव है। वे विचार परिवर्तन, फिर हृदय परिवर्तन के बाद समाज परिवर्तन के पक्षधर थे। इसीलिए उन्होंने राजनीति का आध्यात्मीकरण, अर्थव्यवस्था का सहकारीकरण, समाज व्यवस्था के आदर्श स्वरूप के लिए नैतिक व धार्मिक मान्यताओं का प्रतिपादन किया। ग्रामीण जीवन को सुखमय बनाने का यही एकमात्र रास्ता है जो शोषण, अलगाव, भेदभाव, गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, भय, भूख और भ्रष्टाचार समाप्त करके आदर्श ग्रामीण विकास का राजमार्ग प्रस्तुत कर सकेगा। गांधीजी

के विचारों की उपयोगिता एवं प्रासंगिकता जितनी स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व थी उससे कहीं अधिक आज है, और भविष्य में बनी रहेगी।

7- Ã-,Q- 'kekdj ¼1911 l 1977½dk vkfFkd fpUru

अहिंसा के अर्थशास्त्र के संदर्भ में प्रसिद्ध पाश्चात्य अर्थशास्त्री शुमाकर का आर्थिक चिन्तन उल्लेखनीय है। शुमाकर का पाश्चात्य अर्थशास्त्र की आलोचना का चिंतन और 'मध्यम आकार' एवं 'मध्यम प्रौद्योगिकी की अवधारणा' अहिंसा के अर्थशास्त्र के सिद्धांत पर प्रतिष्ठित हैं। जर्मनी में जन्मे शुमाकर ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा बर्लिन में तत्पश्चात् अर्थशास्त्र विषय का उच्च अध्ययन ऑक्सफॉर्ड और कोलंबिया विश्वविद्यालय से किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व शुमाकर पुनः इंग्लैण्ड आकर बसे क्योंकि वे नाजियों के अधीन नहीं रहना चाहते थे। युद्ध के उपरान्त शुमाकर ने ब्रिटिश सरकार के आर्थिक सलाहकार और मुख्य सांख्यिकी अधिकारी के रूप में कार्य किया। 1950 से लेकर 1970 तक शुमाकर ने नेशनल कोल बोर्ड (National Coal Board. Britain) में मुख्य आर्थिक सलाहकार के रूप में अपनी सेवाएं दी। प्रायः यह माना जाता है कि शुमाकर की उपरोक्त पद की भूमिका ने विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था को पुनः सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

1955 में शुभाकर आर्थिक सलाहकार के रूप में बर्मा चले गये। इस दौरान शुमाकर ने कुछ आर्थिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिन्हें उन्होंने 'बौद्ध अर्थशास्त्र' की संज्ञा दी। शुमाकर के ये आर्थिक सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित थे कि मानव विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे कार्य करने की आवश्यकता होती है। तृतीय विश्व के देशों की स्थितियों के अध्ययन, विभिन्न आर्थिक स्थितियों के अध्ययन एवं उनके अनुभवों ने शुमाकर को 'समुचित तकनीक' का अग्रगामी बना दिया। शुमाकर के आर्थिक चिंतन के प्रभाव ने उन्हें जाम्बिया, बर्मा और भारत के आर्थिक सलाहकर के पद पर भी नियुक्त किया। 1943 में शुमाकर की प्रसिद्ध कृति Small is Beautiful के प्रकाशन ने उनके आर्थिक विचारों को विश्व भर में प्रचारित कर दिया। इस कृति के लिए शुमाकर को 1976 में प्रसिद्ध यूरोपियन पुरस्कार "Europeen de 1 Essai Charles Veillon" से सम्मानित किया गया। शुमाकर की मृत्यु के पश्चात् इंग्लैण्ड में स्थापित 'शुमाकर सोसाइटी' नामक संस्था शुमाकर के आर्थिक विचारों के विकास के लिए आर्थिक मॉडल का निर्माण, सेमिनार, कान्फ्रेंस का आयोजन, लेख एवम्पत्र–पत्रिकाओं व आदि के प्रकाशन का कार्य कर रही है।

7-1 'kkfr dk lkFk lef)

अर्थशास्त्र के संबंध में शुमाकर का चिंतन नैतिकता और मानवीय मूल्यों पर आधारित है। शुमाकर का चिंतन था कि आधुनिक सार्वलौकिक समृद्धि के आधार पर शांति और स्थायित्व की रचना नहीं की जा सकती क्योंकि इस समृद्धि को लालच और ईर्ष्या जैसी हेयप्रवृत्तियों को उभारकर ही प्राप्त किया जा सकता है जो अन्ततः मनुष्य की प्रज्ञा, सुख, धैर्य और शांति को नष्ट कर देती है। आज मनुष्य इतना बौद्धिक विकास कर चुका है कि विवेक के बिना उसका अस्तित्व संकट में पड़ गया है। शुमाकर के अनुसार मनुष्य द्वारा अपनी आवश्यकताओं में वृद्धि करना उसके विवेक, स्वतंत्रता और शांति के विपरीत है। क्योंकि आवश्यकताओं में वृद्धि मनुष्य को बाह्य तत्वों पर निर्भर बनाती है जिस पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं रहता है। परिणामस्वरूप मनुष्य का अपने अस्तित्व के संबंध में सदैव भय बनता है और इस कारण वह हिंसा और संघर्ष की ओर उन्मुख होता है। अतः शुमाकर समृद्धि के साथ शांति को महत्व देते हुए स्थायित्व के अर्थशास्त्र को संपोषित करते हैं।

क्योंकि आर्थिक दृष्टि से कुछ भी तब तक वांछनीय नहीं होता जब तक वह दीर्घकाल तक जारी नहीं रहे। शुमाकर के मत में स्थायित्व की बात तब तक नहीं क्रियान्वित हो सकती जब तक मनुश्य अपनी लोभ और ईर्ष्या की प्रवृत्ति का परिचय देते हुए यह कहता रहेगा कि 'हमारे माता–पिता के लिए जो वस्तुएं विलास का साधन थी वे हमारे जीवन के लिए जरूरी बन चुकी हैं। स्थायित्व के अर्थशास्त्र की व्याख्या करते हुए शुमाकर ने लिया है कि ''स्थायित्वका अर्थशास्त्र मांग करता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का बड़ी हद तक पुनरविभिन्यासकिया जाना चाहिए ताकि इनमें विवेक का प्रवेश हो सके। दरअसल इन्हें अपने ढांचे को हीविवेकपूर्ण बनाना होगा। ऐसे वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय 'समाधान' जो पर्यावरण को दूषित करने वाले हैं अथवा समाज के ढांचे या स्वयं मनुष्य का पतन करने वाले हैं, हमारे किसी काम के नहीं हैं चाहे उन्हें कितनी ही सूझबूझ के साथ खोजा गया हो या उसका बाह्य स्वरूप कितना ही आकर्शक हो। अधिकाधिक विशालकाय मशीनें जो शक्ति के अधिकाधिक केन्द्रीकरण का प्रतीक हैं और जिनसे पर्यावरण दिनोंदिन दूषित होता जा रहा है, प्रगति की परिचायक नहीं है, ये विवेक शुन्यता का बोध कराती है। विवेक का तकाजा है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी अब जैव, मृदु, अहिंसक, रमणीय और सुन्दर तत्वों की ओर अभिमुख हो।

जैसा कि प्रायः कहा जाता है, शांति अविभाज्य है– यदि यह सही है तो उच्छृंखल विज्ञान और हिंसक प्रौद्योगिकी की नींव पर शांति की स्थापना कैसे की जा सकती है। हमें प्रौद्योगिकी में एक क्रांति लानी चाहिए जिससे ऐसे आविष्कारों और मशीनों का जन्म हो सके

जो हम सबको चुनौती देने वाली वर्तमान ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को उलट दें।'' शुमाकर के इस कथन से यह स्पष्ट है वे ऐसे आर्थिक तंत्र के समर्थक है जो मध्यम आकार, मध्यम प्रौद्योगिकी, विकेन्द्रीकरण और पर्यावरणनुकूल है। स्थायित्व के अर्थशास्त्र की विवेचना करते हुए शुभाकर ने कहा कि सर्वप्रथम मनुष्य को अपनी लोभ की प्रवृत्ति को त्याग कर अपनी आवश्यकताओं को कम करना चाहिए। साथ ही उन लोगों को समर्थन देना चाहिए जो अपने ढंग से अहिंसा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं जैसे– संरक्षणवादी, परिवेशशास्त्री, वन्य जीवनसंरक्षक, जैव कृषि पोषक, लघु–कुटीर उद्योग प्रचारक आदि। अपने आर्थिक दृष्टिकोण में शुमाकर ऐसी तकनीक को अपनाने पर बल देते है जो–

- इतनी सस्ती हो कि प्रत्येक व्यक्ति की पहुंच के भीतर हो,
- छोटे पैमाने पर काम करने के लिए उपयुक्त हो,
- मनुष्य की सृजनात्मक वृत्ति के अनुकूल हो।''

7-2 fodkl dh ekin.M

विकास की प्रचलित अवधारणा के कारण पूरा विश्व अनेक खेमों में बंट गया है। विकासशील देशों में द्वैत अर्थव्यवस्था (Dual Economy) के उद्भव ने विषमता को और अधिक बढ़ा दिया है। इस अर्थव्यवस्था से रहन–सहन के दो बिल्कुल अलग तरीके बनते जा रहे हैं। शुमाकर के अनुसार इन देशों में ''दो समानान्तर जीवन पद्धतियां चल रही हैं जिसमें एकवर्ग का मामुली से मामुली सदस्य प्रतिदिन जितना खर्च करता है वह दूसरे वर्ग के परिश्रमी–से–परिश्रमी सदस्य की आमदनी का अनेक गुना बैठता है।'' विकासशील देशोंकी प्रमुख समस्या गरीबी को मानते हुए शुमाकर गरीबी के भौतिक एवं अभौतिक कारणों की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार गरीबी के 'भौतिक कारण' प्राकृतिक संपदा की कमी, पूंजीकी कमी, आधारभूत संरचना का अभाव आदि

से ज्यादा अभौतिक कारण– शिक्षा, संगठन और अनुशासन संबंधी कमियां जैसे कारण महत्वपूर्ण है। इस संबंध में आर्थिक विकास को परिभाषित करते हुए शुमाकर ने कहा– ''आर्थिक विकास से भी कहीं अधिक व्यापक और गहनतर विषय है। आर्थिक विकास के स्रोत आर्थिक क्षेत्र से परे, शिक्षा, संगठन, अनुशासन और उससे भी परे राजनीतिक स्वतंत्रता में और आत्मनिर्भरता की आवश्यकता की चेतना में निहित है। आर्थिक विकास ऐसी चीज नहीं है जिसे विदेशी विशेषज्ञ या जनसाधारण से अलग रह रहे स्वदेशी संभ्रांत– वर्ग शोषण क्रिया से पैदा कर सके। सच्चा विकास तभी हो सकता है जब इसे 'पुनर्निर्माण का व्यापक जन आंदोलन' मानकर किया जाय और इसमें मूलतः प्रत्येक व्यक्ति की प्रेरणा, उत्साह, बुद्धि और प्रेमशक्ति के पूरे उपयोग पर बल दियाजाय। वास्तविक सफलता, वैज्ञानिकों, तकनीकविदों अथवा आर्थिक योजनाकारों द्वारा किये गये किसी चमत्कार से नहीं मिल सकती। यह सभी लोगों की शिक्षा, संगठन और अनुशासन के योग से चलायी जाने, वालीर विकास–प्रक्रिया से ही मिल सकती है। यह नहीं होगा तो सफलता नहीं मिलेगी;''। एक अन्यत्र स्थान पर आर्थिक विकास के स्पष्टीकरण देते हुए शुमाकर लिखते है– ''आर्थिक विकास का तात्पर्य है– लोगों से पहले की अपेक्षा अधिक काम करवाना। इसकी चार मूलभूत शर्तें हैं– प्रेरणा, तकनीकी ज्ञान, पूंजी और विक्रय के लिए बाजार। अंतिरिक्त उत्पादन की खपत के लिए अतिरिक्त बाजार।'' अतः शुमाकर के अनुसार विकास की समस्या का संबंध भौतिकवाद पर आधारित अर्थशास्त्र से नहीं है। उनके अनुसार विकास का चिंतन ऐसा होना चाहिए जिसमें गरीबों और निम्न लोगों की श्रेणी को केन्द्र में रखा जाए, तभी वास्तव विकास संभव है।

शुमाकर का आर्थिक चिंतन चूंकि बौद्ध धर्म से प्रभावित रहा है अतएव वे उपभोग के क्षेत्र में सीमितता का समर्थन करते हैं। वर्तमान आर्थिक जगत में जहां अधिकाधिक उपभोग की प्रवृत्ति को ''उच्च जीवन स्तर'' और मानव कल्याण से संबंधित किया गया है वहां शुमाकर उपभोग को मानव कल्याण का एक साधन मात्र मानते है और वे कहते हैं कि मनुष्य का लक्ष्य कम से कम वस्तुओं के उपभोग से अधिकाधिक कल्याण की प्राप्ति होना चाहिए। उपभोग के संबंध में विचार प्रस्तुत करते हुए शुमाकर लिखते हैं कि ''सादगी और अहिंसा का निकट संबंध है। उपभोग का इष्टतम आयोजन, जिससे न्यूनतम वस्तुओं का उपभोग करके ही मनुष्य अधिकतम संतुष्टि अनुभव करता है, उसे दबाव और तनावरहित जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करता है और मनुष्य को बौद्ध धर्म के इस बुनियादी आदेश के अनुसार कि ''बुराई केमार्ग पर चलना बंद करो, अच्छाई का रास्ता पकड़ने की कोशिश करो'' चलने के लिए प्रेरित करता हैं। क्योंकि भौतिक संसाधन सभी जगह सीमित है, इसलिए वे लोग जो अपनी आवश्यकताओं को थाड़े ही भौतिक संसाधनों के इस्तेमाल से पूरा कर लेते हैं, उन लोगो की अपेक्षा परस्पर संघर्ष की ओर कम प्रवृत्त होते हैं जिनका जीवन संसाधनों के अधिकाधिक प्रयोग पर निर्भर है। इसी प्रकार, जो लोग बड़ी हद तक आत्म–निर्भर स्थानीय समुदायों में रहते हैं वे उन लोगों की अपेक्षा व्यापक हिंसा के कम शिकार होते हैं जिनका अस्तित्व विश्वव्यापी व्यापार–प्रणालियों पर निर्भर है।''अतएव स्पष्ट है कि शुमाकर जहांसीमित उपभोग और सीमित आवश्यकताओं पर बल देते हैं वहीं दूसरी, ओर व स्थानीय आवश्यकताओं को स्थानीय संसाधनों से पूरा करने का भी विचार प्रस्तुत करते हैं।

7-3 eè;e ekx

बौद्ध धर्म को एक 'मध्यम मार्ग' के रूप में स्वीकार गया है जिसमें तर्क, व्यवहार और आदर्श का समन्वय है। शुमाकर चूंकि बौद्ध धर्म से प्रभावित रहे हैं अतः वे भी ''माध्यम मार्ग''का प्रतिपादन करते हैं। वे

उत्पादन और प्रौद्योगिकी के संबंध में 'मध्यम मार्ग' का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार वृहद उत्पादन, तकनीक और पद्धतियों के आधार पर न तो सही दिशा में विकास किया जा सकता है और न ही समस्याओं का स्थायी समाधान हो सकता है। शुमाकर के मतानुसार विशालता और स्वचलन का अर्थशास्त्र आज की समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ है। आज ऐसी प्रणाली की आवश्यकता है जिसके केन्द्र में वस्तुएं न होकर मनुष्य हो। शुमाकर के शब्दों में कहा जाए तो– "Productian by the masses, rather than the mass production."

टामस एक्विनस ने मनुष्य की परिभाषा देते हुए कहा था कि वह दिमाग और हाथों वाला प्राणी है जिसे सबसे अधिक आनंद अपने दिमाग और हाथों की सहायता से किए जाने वाले सृजनात्मक, उपयोगी और उत्पादक काम करके मिलता है, किंतु आधुनिक प्रौद्योगिकी ने मनुष्य को इस आनंद से वंचित कर दिया है साथ ही अमानवीय प्रौद्योगिक परिवेश, पर्यावरण असंतुलन, संसाधनों का दुरूपयोग एवं शोषण जैसे गंभीर संकटों को भी जन्म दिया है। शुमाकर प्रचलित औद्योगिकी का विरोध करते हुए एक मध्यम आकार की प्रौद्यगिकी कासमर्थन करते हैं जो– ''एक अलग प्रकार की, प्रौद्योगिकी जो मानवमुखी हो तथा जो मनुष्यके हाथ और मस्तिष्क को बेकार रखने की बजाय पहले की अपेक्षा उत्पादक बनाने में सहायक हो''। शुमाकर ने 'Mass Production Technology' और 'Production by theMasses Technology' में अन्तर करते हुए मध्यम आकार की प्रौद्योगिकी के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अनेक अनुसार– ''जटिल, अत्यधिक पूंजी–प्रधान, अत्यधिक ऊर्जा का प्रयोग करने वाली और मानव श्रम को बचाने वाली प्रौद्योगिकी पर अधारित बड़े पैमाने का उत्पादन यह मानकर चलता है कि आप पहले से ही धनी हैं और हर कारखाने को खड़ा करने के लिए आपके पास विशाल पूंजी मौजूद है। इसके विपरीत बहुत से लोगों द्वारा उत्पादन की प्रणाली आम लोगों की अमूल्य सम्पत्ति अर्थात् उनके होशियार दिमागों और कुशल हाथों, और साथ ही उच्चतम औजारों की मदद को जुटाकर चलायी जाती है। बड़े पैमाने के उत्पादन की प्रौद्योगिकी हिंसक, पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाली, अनवकरणीय संसाधनों की दृष्टि से आत्मघातक और मनुष्य को नाकारा बना देने वाली है। बहुत से लोगों द्वारा उत्पादन की प्रौद्योगिकी अच्छी से अच्छी आधुनिक जानकारी और अनुभव का उपयोग करते हुए, विकेन्द्रीकरण में सहायक है पर्यावरण के सिद्धांतों के अनुकूल है, दुर्लभ साधनों के प्रयोग में सहृदय है और मनुष्य को मशीनों का दास बनाने की बजाय स्वयं इसकी सेवा करने के लिए बनी है। मैं इसे ''मध्यवर्ती प्रौद्योगिकी'' नाम इसलिए दे रहा हूं कि यह गुजरे जमाने की आदिम प्रौद्योगिकी से अपेक्षाकृत सरल, कम खर्चीली और मुक्त वातावरण की अधिक पोषक है। हम इसे आत्मसेवी या लोकतांत्रिक या जनता की प्रौद्योगिकी भी कह सकते हैं– ऐसी प्रौद्योगिकी जिसके द्वार सबके लिए खुले हैं।''

शुमाकर के उपरोक्त आर्थिक चिंतन के अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि उनके आर्थिक विचार पूर्णतः मानव को केन्द्र में रखकर प्रतिपादित किये गये हैं। उनकीविकास सम्बन्धी अवधारणा, उपभोग एवम् उत्पादन सम्बन्धी चिंतन, मध्यम आकार एवं मध्यम प्रौद्योगिकी का विचार आदि सभी अहिंसा के अर्थशास्त्र की कसौटियों पर खरे उतरते हैं भौतिकता और उपभोक्तावाद के वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान का मार्ग शुमाकर जैसे अहिंसक अर्थशास्त्री के सिद्धांतों पर चलकर ही प्रशस्त हो सकता है।

8- t-lh dqekjIik ¼1892&1960½ dk vkfFkd fpUru

अहिंसक अर्थशास्त्रीयों की श्रेणी मे प्रसिद्ध गांधीवादी अर्थशास्त्री जोसफ चेल्लादुराई कुमारप्पा का योगदान भी महत्वपूर्ण है। ईसामसीह और गांधी से प्रभावित कुमारप्पा अर्थशास्त्र के प्रति नैति दृष्टिकोण रखते

थे। ''भगवान की पूजा जनता की सेवा में''– यह सूत्र उनके जीवन में ईसामसीह से आया, जो उनके आर्थिक विचारों का आधार भी बना। कुमारप्पा गांधी चिंतन के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याकार और गांधी के ग्रामीण–विकास के आदर्श के प्रबल समर्थक थे। तत्कालीन समय में जब नगरीय विकास की अवधारणा प्रबल थी तभी उन्होंने यह अनुमान लगा लिया था कि जब तक ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुदृढ़ नहीं हो जाती तब तक भारतीय विकास की नींव मजबूत नहीं हो पाएगी। कुमारप्पा का यह चिंतन गांधी के ग्राम स्वराज्य की अवधारणा के सदृश्य ही था। तत्कालीन भारतीय जनता की गरीबी, पराधीनता और शोषण के अध्ययन ने, उनके ज्ञान एवं भावना से परिपुष्ट व्यक्तित्व को क्रांतिकारी बना दिया किंतु महात्मा गांधी के प्रभाव के कारण वे अहिंसक क्रांतिकारी बने। कुमारप्पा का चिंतन था कि पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि आर्थिक प्रणालियों का आधार जड़वाद है और ये प्रणालियां जड़ मूल्यों को लेकर गतिमान होती हैं। उनके मतानुसार 'जड़ मनुष्य' अथवा 'अर्थ मानव' जैसी कोई भी अवधारणा निराधार है। वे ऐसी अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे जो सांस्कृतिक मूल्यों एवं मूलभूत आवश्यकताओं के आधार पर संचालित हो। इसलिए कुमारप्पा मनुष्य की धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों को मिलाकर समग्र रूप से एक सांस्कृतिक व्यक्ति की संकल्पना करते हैं और यही सांस्कृतिक व्यक्ति प्रकृति के निर्धारित नियमों के अनुरूप कार्य करके स्थायी अर्थव्यवस्था का निर्माण कर सकता है। कुमारप्पा के आर्थिक चिंतन में निम्न पांच प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है :–

¼v½ ijthoh vFkZ;oLFkk **(Parasitic Economy)**

इस प्रकार की व्यवस्था में एक पक्ष दूसरे पक्ष पर पूर्ण रूप से अपने अस्तित्व के लिए निर्भर होता है। इस प्रणाली में हिंसा का प्रमुख स्थान होता है और एक पक्ष का जीवन हिंसा परही अवलंबित रहता है। इसका उदाहरण जमींदारी प्रथा में मिलता है जिसमें जमींदार निर्दोष ग्रामीणों की आय को हड़प लेता है।

¼c½ ijHk{kh vFkZ;oLFkk **(Predactory Economy)**

जब एक पक्ष किसी दूसरे पक्ष को लाभ पहुंचाए बिना स्वयं लाभ उठाता है, तो ऐसी स्थिति परभक्षी अर्थव्यवस्था की होती है। शक्ति और पूंजी के गठबंधन की ''साम्राज्यवाद'' की स्थिति इसका उदाहरण है।

¼l½ dk;Z dh vFkZ;oLFkk **(Economy of Enterprise)**

इस व्यवस्था में एक पक्ष दूसरे पक्ष से फायदा उठाता है किंतु ऐसा करते हुए वह दूसरे पक्ष को कुछ निश्चित लाभ भी पहुंचाता है और इस प्रकार अपने पुरुषार्थ और मेहनत से उत्पन्न की गयी वस्तु का उपभोग किया जाता है। 'मशीन की सभ्यता' (मशीनीकरण एवं यंत्रीकरण) इसका उदाहरण है।

¼n½ legfi/kku vFkZ;oLFkk **(Economy of Gregation)**

इस व्यवस्था में समूह विशेष का लाभ सर्वोपरि होता है अर्थात् स्वार्थ का दायरा एक समूह तक विस्तृत हो जाता है। इस व्यवस्था में साम्राज्यवाद की अपेक्षा लूट–खसोट की मात्रा कम होती हैं क्योंकि यह वर्ग अपेक्षाकृत विशाल होता है। इस व्यवस्था में राष्ट्रीयता की भावना उग्र रूप में होती है। नाजीवाद, समाजवाद साम्यवाद इसके उदाहरण है।

¼b½ lsok dh vFkZ;oLFkk **(Economy of Service)**

इस व्यवस्था में प्रत्येक पक्ष अपनी वर्तमान एवं भविष्य की आवश्यकताओं का विचार किए बगैर आगामी पीढ़ीयों के हित की दृष्टि से, बिना किसी प्रतिफल की आकांक्षा से निःस्वार्थ भाव से कार्य करते है। यह व्यवस्था कर्त्तव्यों पर अधिक ध्यान देती है जिससे धीरे–धीरे यह स्थायित्व की ओर अग्रसर होती चली जाती है।

8-1 LFkkf;Ro dh vFk0;oLFkk

कुमारप्पा का ध्येय स्थायी अर्थव्यवस्था को प्राप्त करना था जो उपरोक्त अर्थव्यवस्थाओं के निरन्तर बढ़ते विकास क्रम में अंततः सेवा की अर्थव्यवस्था से प्राप्त हो सकती है। इन अवस्थाओं को अहिंसा की दृष्टि से विश्लेषित करते हुए कुमारप्पा ने कहा– ''यह कह सकते हैं कि पहली दो व्यवस्थाएं यानी परोपजीवी और पराश्रयी मानव की प्राथमिक या जंगली अवस्था की द्योतक हैं, दूसरी दो, यानी पुरुषार्थ युक्त और समूह प्रधान व्यवस्थाएं आधुनिक या मानवावस्था की द्योतक हैं और सेवा प्रधान व्यवस्था उन्नत या आध्यात्मिक अवस्था की द्योतक हैं। इनमें से पहली अवस्था तो निसशंय क्षणभंगूर हिंसामय ही है, पर शाश्वतता और अहिंसा की ओर अग्रसर होने की उत्कंठ इच्छा भी उसमें मौजूद है, पर तीसरी तो निश्चय ही शांति, शाश्वतता और अहिंसा की ओर ले जाने वाली ही है।''स्थायी अर्थव्यवस्था वह है जहां सर्वसाधारण को न्याय अपलब्ध हो, शक्ति का अवांछित अधिकर न हो, जहां शोषण एवं छल–कपट के लिए कोई स्थान नहीं हो, मुफ्त की कमाई का आकर्षण नहीं होगा, संस्कृति के विकास का उर्ध्वमुखी चिंतन होगा तथा मानव को मानव होने की गरिमा प्राप्त होगी। कुमारप्पा के शब्दों में जितने परिमाण में हम जीवन की अनित्यता को समझते हुए अनन्त के अनुरूप अपने कानून बनाते हैं, उतने ही अंश में अर्थशास्त्र स्थायित्व की ओर अग्रसर होता है। केवल यही एक दृष्टिकोण मानव समाज को उत्थान और संपन्नता की ओर ले जा सकता है और जीवन को, संस्कृति और सुधार पर आधृत शांति और सद्भावना की तरफ ले जाता है। इसलिए इस विद्या को उद्देश्य रूप से सीखना चाहिए और मनुष्य की वर्तमान आवश्यकताओं का ख्याल न करके उसको उस हिसाब से लागू करने की कोशिश करनी चाहिए, जिन शाश्वत सिद्धांतों पर संसार चलता है।''

कुमारप्पा अपने अर्थ चिंतन में समग्र प्रकृति–जीव सृश्टि, मनुष्य, पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़ें तथा जड़ प्रकृति की दृष्टि से सोचते हैं। वे प्रकृति के शाश्वत् चक्र को बिना सोचे–समझे खंडित करने की अपेक्षा उसे सदैव परिपूर्ण होने देने के पक्षधर थे। उनके अर्थ चिंतन में कमजोर वर्ग को सदैव आगे रखा गया। कुमारप्पा क मानना था कि अर्थशास्त्र में उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण की क्रियाओं को सम्मिलित कर लेने से ही उसका क्षेत्र परिपूर्ण नहीं होता वरन् उसमें आध्यात्मिक और नैतिम मुद्दों को भी सम्मिलित करना चाहिए। यदि किसी भी आर्थिक क्रिया में नैतिकता का अभाव होता है तो निश्चित रूप से वह क्रिया व्यक्ति एवं समाज के शोषण का आधार बन जाती है। उत्पादन के संबंध में स्थायी अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित पद्धति से ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पादन की पक्षधर है। कुमारप्पा के अनुसार यदि उत्पादन की गुणवत्ता और उसको परिणाम का जीवन स्तर में वृद्धि के साथ कोई मेल नहीं बैठता है तो वह राष्ट्र के लिए अहितकर है। इस संदर्भ में कुमारप्पा ने कहा– ''इतिहास का अध्ययन हमें सिखलाता है कि जब लोगों की मांगें इतनी बड़ जाती हैं कि पूरी न की जा सके, तो उन लोगों की संस्कृति और सभ्यता नष्ट हो जाती है। यह स्थिति तो तब पैदा होती है, जबकि वे अपनी बढ़ायी हुयी आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन नहीं कर पाते।'' उत्पादन में आत्मनिर्भरता के पक्षधर कुमारप्पा का मानना था कि ''एक राष्ट्र तभी तक फल–फूल सकता है, जब तक कि उसकी मांगों की पूर्ति उसके अपने उत्पादन द्वारा होता है। जब पूर्ति और मांग में विशेष अंतर नहीं होता, तभी राष्ट्र सांस्कृतिक रूप से बढ़ता है।''

आधुनिक अर्थरचना की आलोचना करते हुए कुमारप्पा कहते हैं कि ''आधुनिक व्यवस्था में केवल ऐसी ही आवश्यकताएं पूरी की जा सकती है, जिन्हें अर्थशास्त्री 'लागू की जा सकने वाली मांगे' कहते है यानि उसी की प्यास बुझायी जा सकी है जिसके पास सोने का प्याला होगा, न कि उसकी जिसका गला प्यास से सूखा जा रहा होगा।'' एक अन्यत्र स्थान पर वर्तमान अर्थतंत्र पर विचार करते हुए कुमारप्पा लिखते हैं– 'आजकल सब जगह जीवन के उच्च पैमाने', ''राष्ट्रीय आय को बढ़ाना'', ''उत्पादन शक्ति और कार्यक्षमता बढ़ाना'',''मौजूदा स्पर्धा दुनिया में फायदे में रहना'' आदि रोचक नारे सुनाई देते हैं। वर्तमान की अर्थशास्त्रीय विचारधारा मुनाफा, कीमत, क्रय शक्ति और विदेशों से व्यापार इनकी बालू पर अधिष्ठित है। मनुष्य, अन्य प्राणियों से किस प्रकार भिन्न है इस बात का कोई विचार ही नहीं है।''

प्रचलित अर्थतंत्र का विरोध करते हुए गांधी विचारधारा पर आधारित कुमारप्पा एक स्थायी अर्थव्यवस्था की कल्पना करते हैं जिसमें जनता का शोषण नहीं होता है, उनके बेकार समय को लाभदायक कार्यों में नियोजित किया जाता है, उत्पादन को नैतिक तरीकों से बढ़ाया जाता है, जनशक्ति को अत्यधिक मांग वाले उद्योगों में लगाया जाता है और स्थानीय माल का यथासंभव प्रयोग किया जाता है। स्थायी अर्थव्यवस्था की प्रतिष्ठापना के लिए कुमारप्पा मर्यादित मांग, आवश्यकतानुसार उत्पादन, संयमित जीवन शैली, विकेन्द्रीकरण, स्वदेशी, आर्थिक समानता, न्यायपूर्ण मजदूरी, श्रम विभाजन, ग्राम अर्थव्यवस्था आदि साधनों को प्रस्तुत करते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि कुमारप्पा के आर्थिक विचार अहिंसा के अर्थशास्त्र की कसौटी पर कसे जा सकते हैं उनका आर्थिक चिंतन मूल रूप से मानवीय मूल्यों और नैतिकता पर अधिष्ठित है जो अहिंसा और अर्थशास्त्र के आधारस्तम्भ है। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि कुमारप्पा का ध्येय ऐसी आर्थिक व्यवस्था लाना था जहां गांव स्वावलम्बी बने और शहरों की जरूरतें भी पूरी हो सके। गरीबी दूर करके धनार्जन का यह एक स्थायी समाधान है। कुमारप्पा के शब्दों में– ''इस प्रकार की व्यवस्था में केवल लाभवश सब काम नहीं चलते और न मूल्यों के उतार–चढ़ाव ही बाजारों का नियंत्रण करते हैं। यहां वितरण और मानवीय मूल्यों पर, संग्रह और धन–मूल्यों की अपेक्षा अधिक जोर दिया जाता है। इसमें उद्देश्य व्यक्तिगत उत्थान नहीं होता और न वर्ग विशेष या राष्ट्र का, बल्कि सारी मानवता के उत्थान का होता है।'

9- Hknku vkUnkyu

गाँधी की मृत्यु के बाद उनकी सर्वोदय भावना को कार्यरूप में परिणित करने तथा सर्वोदय समाज व्यवस्था पर विचार करने की दृष्टि से सेवाग्राम में 11–15 मार्च, 1948 में देश के सभी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं तथा गाँधी विचार प्रेमियों का एक सम्मेलन गाँधी सेवा संघ की ओर से हुआ। इसमें वे लोग भी सम्मिलित हुए जो सरकार में थे जैसे नेहरू, पटेल, प्रसाद आदि तथा गाँधी के गैर सरकारी अनुयायी भी सम्मिलित हुए। आजादी मिले अभी कुछ ही महीने हुए थे। गहरे विचार मंथन के बाद उसमें सर्वोदय समाज और सर्वसेवा संघ नामक संस्था की स्थापना हुई। अब सर्वोदय आन्दोलन का नेतृत्व विनोबा के हाथों में आ गया। स्वतंत्र रूप से सर्व सेवा संघ की स्थापना करके विनोबा ने सर्वोदय आन्दोलन का कार्य गाँधी के उत्तराधिकारी के रूप में अपने हाथों में लिये।

भारत के विभिन्न राज्यों में हर साल लोक सेवकों का वार्षिक सर्वोदय समाज सम्मेलन सम्पन्न होने लगा। इसी प्रकार के एक सर्वोदय सम्मेलन को जाते समय विनोबा तेलंगाना पहुंचे। वहां आये दिन जमीदारों

की हिंसाओं के समाचार मिलते थे। भूमिहीन किसानों के सशस्त्र समूह संगठित होकर हत्याएं करते थे। विनोबा ने इन हत्यायों के पीछे जो भूमि समस्या थी, उसका अध्ययन किया। भूमिहीनों की भूमि की आवश्यकता यदि पूरी न की गयी तो ऐसी हत्याएं सारे भारतवर्ष में फैलने की संभावनाए थी। इस भूमि समस्या पर गाँधी विचार से नया उपाय निकल सकता है, इस दिशा में विनोबा का चिन्तन चला। उन्होंने विचार किया कि ब्रिटिश साम्रज्यशाही का उन्नमूलन यदि गाँधी नीति द्वारा हो सकता है तो आर्थिक क्षेत्र की समस्याओं के लिये भी गाँधी मार्ग का प्रयोग किया जा सकता है।

9-1 Hkwnku vkUnksyu dk mís';

भूदान आन्दोलन के उद्देश्य निम्नलिखित थे –

9-1-1 0;fäxr LokfeRo dk fujkd.k

विनोबा के अनुसार भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर कुछ लोगों को भूमिहीन रखना एक प्रकार का अन्याय है जो हिंसक समाज व्यवस्था के आधार को मजबूती प्रदान करता है। भूदान ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रायश्चित के सुअवसर प्रस्तुत करता है।

9-1-2 izse vkj vfgalk dh 'kfä dk fuekZ.k

विनोबा मानते थे कि व्यक्ति के आपसी प्रेम से व्यक्ति, परिवार और समाज की शक्ति के साथ–साथ देश की भी शक्ति बढ़ती है। समाज की बुराई को दूर करने हेतु अहिंसा के प्रेम पर आधारित सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता है तथा इस कार्य को भूदान यज्ञ कुशलतापूर्वक सम्पन्न करता है।

9-1-3 tkrqa oky dh tehu

विनोबा ने भूदान आन्दोलन को इसलिये भी आवश्यक समझा कि जमीन खेती करने वाले मेहनतकश किसानों के पास ही रहनी चाहिये। वेदों में उल्लेख आया है कि पृथ्वी माता है और हम उसके पुत्र है। पुत्र होने के नाते हमें पृथ्वी की सेवा का ही अधिकार है, उस पर आदेश करने का नहीं।

9-1-4 ân; ifjorZu }kjk 'kklu eqä rFkk 'kks"k.k eqä vfgald lekt jpuk

भूदान यज्ञ का मुख्य उद्देश्य केवल भूमि वितरण नहीं है। भूमि वितरण तो आन्दोलन का पहला कदम है। आन्दोलन से शासन मुक्त समाज स्थापित करने का ध्येय था और शासन मुक्त समाज तभी होगा, जब समाज में शासन की आवश्यकता ही न रहे। शासन की आवश्यकता ही नहीं पड़े, इसके लिये शोषणमुक्त समाज चाहिये और शोषण मुक्त समाज की रचना तभी हो सकती है जब समाज रचना का आधार प्रेम व अहिंसा जैसे नैतिक मूल्य हो।

9-1-5 lekt ifjorZu gsrq

कृषि प्रधान देश में समाज परिवर्तन का आरंभ भूमि व्यवस्था के परिवर्तन से होता है। अतः विनोबा को भी सामाजिक आर्थिक परिवर्तन कर सर्वोदय समाज स्थापित करना था। इसलिये उन्होंने पहले भूमि में अहिंसक साधनों के द्वारा क्रांति लाने का प्रयास किया।

9-1-6 vFkZ jpuk esa Økafr gsrq

अर्थ रचना में परिवर्तन करने के लिये प्रारम्भ भूमि से ही करना होगा। मात्र भारत ही नही, अन्य औद्योगिक देशों की रचना का आधार कृषि से अलग नहीं है।

9-1-7 thou dk vk/kkj Hkfe

जमीन केवल उत्पादन का ही साधन नहीं है। जमीन वसुंधरा भी है। मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ती पृथ्वी से ही होती है। इस दृष्टि से पृथ्वी के अलावा अन्य क्षेत्रों में समानता लाने का उद्देश्य भूदान में नीहित है।

9-2 Hknku ;K dk ikjHk

भूदान यज्ञ की शुरूआत अर्थात उत्पत्ति अनायास ही 18 सितम्बर 1951 को हुई, स्थान था भारत के दक्षिण भाग में अवस्थित राज्य आंध्र प्रदेश का पोचम्पल्ली गांव, जो कि तेलंगाना क्षेत्र में अवस्थित है। प्रतिदिन की भांति विनोबा व उनके सहयोगी शाम के समय पंचायत में विचार विर्मश कर रहे थे कि विनोबा बोले ''यदि कोई व्यक्ति मुझे भूमि दान में दे दे तो मैं उस भूमि को भूमिहीनों में बाटंकर इस क्षेत्र की हिंसा की समस्या का समाधान करने का प्रयास करूंगा।'' जिस पर श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 100 एकड़ भूमि दान में देकर भूदान का सूत्रपात किया। 18 अप्रैल की इस चमत्कारिक घटना से विनोबा के इस विचार को बहुत बल मिला कि व्यक्ति का ह्रदय परिवर्तन कर दान में भूमि मांगकर, भूमिहीनों को भूमि उपलब्ध कराकर शांतिपूर्ण तरीके से भूमि का समान वितरण किया जा सकता है जिससे सर्वोदय समाज की रचना का स्वप्न भी साकार हो सकता हैं। साम्यवादियों के गढ़ आंध्र प्रदेश के तेलगांना क्षेत्र में भूदान आंदोलन की शुरूआत के साथ ही विनोबा ने 51 दिनों मे 12202 एकड भूमि प्राप्त की और इस प्रकार उनके नेतृत्व में सारे देश में लगभग 42 लाख एकड भूमि दान में ली गई और भूमिहीनों के बीच वितरित की गई।

उत्तर से दक्षिण व पूर्व से पश्चिम तक पूरे भारत में विनोबा ने भूदान के लिए पदयात्रा की। जिस भारत में सुई के अग्रभाग पर रहने वाली भूमि भी देने से इनकार करने पर महाभारत हुआ था व जिस भारत से आज भी जमीन जायदाद के लिये भाई–भाई परस्पर में लड़ते हैं उस आधुनिक भारत में खून की एक बूंद भी बहाये बिना लाखों एकड भूमि का दान भूमिहीनों के लिये प्राप्त हुआ। एक अभूतपूर्व रक्तहीन क्रांति सारे भारत में होने लगी। सारी दुनिया गाँधी के भारत में होने वाले इस प्रयोग की ओर आशा से देखने लगी। भूदान की परिणिती ग्रामदान में हुई और गांव के गांव दान में मिलने लगे। ग्रामदान, तहसीलदान जिलादान तथा राज्यदान तक इस आन्दोलन के विचार पहुंचे। विनोबा के इन दान के आन्दोलन में से श्रमदान, सम्पतिदान, जीवनदान का विचार तो समाने आया ही, साथ ही खादी, शांतिसेना, सर्वोदय पात्र, आचार्यकुल आदि अनेक कार्यक्रम सामने आये। ग्राम स्वराज्य का एक सर्वांगीण कार्यकम बना। अहिंसक सामाज रचना का एक रेखाचित्र उभरा। गाँधी ने हिन्दस्वराज्य का जो स्वप्न देखा था, उसी का विनियोग विभिन्न क्षेत्रों में विनोबा के द्वारा हुआ। सर्वोदय समाज रचना की कल्पना, जो गाँधी ने की थी, उनका विस्तृत वर्णन ग्राम स्वराज्य आन्दोलन में हुआ। इस सन्दर्भ में जयप्रकाश ने कहा ''विनोबा के आन्दोलन के कारण गाँधी की अहिंसक क्रांति और समाज परिवर्तन का विचार उन्नत रहा, शायद विनोबा के ऐसे आन्दोलन के बिना सर्वोदय की आत्मप्रतीती संभव नहीं होती।

भूदान यज्ञ की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि यह अमीरों के साथ–साथ गरीबों में भी समर्पण सेवा एवं त्याग की भावना पैदा करता है। दादा धर्माधिकारी के अनुसार ''आज तक क्रांति का उद्देश्य यह रहा है कि

जिनके पास है उनसे ले लो और यह किसी भी साधन से लिया जा सकता है, किन्तु इसके विपरीत भूदान की यह कोशिश है कि स्वामित्व के विसर्जन के भावना यदि अमीर के हृदय में पैदा करनी है, तो आगे चलकर गरीबों को भी स्वामित्व की भावना के विसर्जन के लिये तैयार होना पड़ेगा।

विनोबा का भूदान यज्ञ गरीबी और अमीरी के निराकरण के लिये तथा पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की समत्ति के लिये अहिंसा और सत्याग्रह की नीति पर आधारित है। यह एक वैज्ञानिक तरीका है। विनोबा ने भूदान यज्ञ द्वारा देश की भूमि की समस्या की ओर लोगों का ध्यान खीचा। उन्होंन देश के कोने–कोने में गांव–गावं में इस बात के चेतना जगा दी कि हमारी समस्याओं का समाधान हमारे हाथ में है। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में, जहाँ लगभग आधी से अधिक जनसंख्या आज भी गांवों में रहती है, कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। यह जीविकोपार्जन का साधन ही नहीं, अपितु अर्थव्यवस्था की रीढ है। देश के उद्योग धंधे, विदेशी व्यापार, विदेशी मुद्रा अर्जन, विभिन्न योजनाओं की सफलता व राजनीतिक दायित्व भी कृषि पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में कृषि के विकास के लिये ग्रामीण क्षेत्र में व्याप्त निर्धनता को दूर करने, बेरोजगारी व अर्धबेरोजगारी से मुक्ति दिलाने हेतु आज भी भूदान पूर्ण रूप से प्रासंगिक है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भूदान आन्दोलन विभिन्न समस्याओं को अहिसांत्मक और शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने की दिशा में एक प्रयास है। गाँधी पश्चात सर्वोदय प्राप्ति के लिये शांति आन्दोलनों की श्रृंखला में भूदान आन्दोलन उल्लेखनीय स्थान रखता है।

10- xkenku

ग्रामदान का अर्थ है 'किसी गांव के सभी भूस्वामी अपने पूरे ग्राम, समाज को अर्पित करे तथा पूरा गांव सहकारिता के आधार पर उस भूमि पर उत्पादन करे और उपज आपस में बांट ले।'' ग्रामदान हो जाने पर भूमि पर किसी का स्वामित्व न होकर पूरे ग्रामीण समुदाय का भूमि के उपयोग करने का आवश्यकतानुसार अधिकार रहता है। गाँधीवादी विचारक चारूचंद्र भंडारी धार्मिक दृष्टि से ग्रामदान का अर्थ लगाते हुए ग्रामदान को करूणा सेवा और सहयोग का विचार मानते हैं। उनके अनुसार ''ग्रामदान में वे सारे तत्व हैं जिससे व्यक्ति के टूटे हुए हृदय को जोड़ा जा सकता है।'' श्री मन्नारायण के अनुसार आर्थिक दृष्टिकोण से ग्रामदान स्वावलंबी व ग्रामीण कुटीर उद्योग तथा खादी का कार्यक्रम है।'' वे ग्रामदान में राजनीतिक विचार भी पाते हैं। अतः वे पुनः कहते हैं ''ग्रामदान शासन मुक्त समाज, वास्तविक लोकशक्ति और लोकनीति का भी विचार है।'' वे इसमें शांति सेना और नई तालीम का दर्शन करते हुए इसे हृदयपरिवर्तन तथा विचार परिवर्तन के आधार पर क्रांतिमयी क्रांति का सूचक मानते हैं। डॉ. दशरथ सिंह के अनुसार ग्रामदान धर्म की दृष्टि से करूणा और सेवा का, विज्ञान की दृष्टि से सहयोग का, समाज की दृष्टि से टूटे हुए हृदय को जोड़ने का, आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण कुटीर उद्योग तथा खादी का, राजनैतिक दृष्टि से शासन मुक्त समाज तथा वास्तविक लोकशक्ति और लोकनीति का, प्रतिरक्षा की दृष्टि से शांति सेना का और अहिंसक क्रांति के मार्ग के रूप में ये नई तालीम हृदय परिवर्तन तथा विचार परिवर्तन के आधार पर शांतिमय क्रांति का सूचक है।

ग्रामदान आन्दोलन का सूत्रपात भूदान आन्दोलन के दौरान ही 1952 में उत्तरप्रदेश के मंगरोठ गांव में हुआ। इस आन्दोलन को उड़ीसा में गौरव मिला, जब महात्मा गाँधी के बलिदान दिवस 30 जनवरी 1952 को उड़ीसा के कटक जिले में मानपुर गांव को पहला ग्रामदान बनने का गौरव प्राप्त हुआ। मानपुर गांव के दान होते ही ग्रामदान आन्दोलन भूदान आन्दोलन के मार्ग पर पूरे उत्साह साथ आगे बढ़ चला।

10-1 xkenku dk mís';

ग्रामदान के निम्न उद्देश्य हैं–

10-1-1 lg;kx'khy ,oa lrfyr lekt dk fuekZ.k

ग्रामदान का दर्शन ही सहयोग पर आधारित है, इसलिए यह समाज रचना का आधार सहयोग को बनाना चाहता है। यह प्रतिस्पर्धा को नकारता है, उसे तिलांजली देता है, क्योंकि अब तक की समाज रचना प्रायः प्रतिस्पर्धा के दर्शन पर आधारित रही है। प्रतिस्पर्धा व्यक्ति से प्रारम्भ होकर समाज, राष्ट्र और अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्रों तक जाती है जो सामाजिक तनाव, हिंसा और अनेक राष्ट्र के बीच वैमनस्यपूर्ण युद्ध को निमंत्रण देता है। समाज के विभिन्न घटक संघर्षरत होकर समाज को अव्यस्थित और असंतुलित कर देते हैं। इसलिये विनोबा ने सहयोगशील और संतुलित समाज निर्माण के उद्देश्य से ग्रामदान आन्दोलन चलाया।

10-1-2 lkekftd eY;ksa vkj fopkjksa esa ifjorZu

ग्रामदान का मुख्य उद्देश्य समाज में मूल्य परिवर्तन के द्वारा क्रांति लाना है। यह समाज परिवर्तन के अपने उद्देश्यों को पूरा करने में व्यक्ति के तात्कालिक सुखों की चिंता नहीं करता। इसका लक्ष्य है व्यक्तियों को शाश्वत सुख उपलब्ध कराना, जिसकी उपलब्धि सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन से ही हो सकती है। व्यक्ति के हृदय परिवर्तन से यह परिवर्तन होता है और इस प्रकार के परिवर्तन की शक्ति ग्राम में नीहित है।

10-1-3 lekt esa uSfrdrk dh LFkkiuk

विनोबा ग्रामदान के द्वारा समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। ये नैतिक मूल्य व्यक्ति का प्रेम, त्याग तथा सेवाभावना ही है। ग्रामदान व्यक्ति में त्याग की प्रेरणा जागता है तथा उसे सारे समाज से हृदय परिवर्तन के द्वारा प्रेममय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जागृत करता है जिसके फलस्वरूप उसमें दान की प्रवृति जगती है। ग्रामदान से व्यक्ति का हृदय सदा के लिये परिवर्तित हो जाता है। विनोबा तो नैतिक विचारों की उपस्थिति के लिये परिग्रह के त्याग को ही प्रमुखता देते हैं।

10-1-4 lkfjd vkj vk/;kfRed efä dk fopkj

ग्रामदान का उद्देश्य व्यक्ति को मुक्ति दिलाना तो अवश्य है लेकिन इसकी मुक्ति तथाकथित साधुओं सन्यासियों की मुक्ति से अलग है। ग्रामदान के द्वारा विनोबा का उद्देश्य जहाँ एक ओर व्यक्ति को आध्यात्मिक मुक्ति दिलाना था, वहीं दूसरी ओर संसारिक मुक्ति भी दिलाना था। ग्रामसभा गठित करके ग्राम से संबंधित सारे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, न्यायिक, शैक्षणिक आदि कार्यों का सम्पादन ग्रामवासी स्वतः करने लगते हैं तो उन्हें सरकार के दमन तंत्र, पूंजी के शोषण और बंदूक के दमन तीनों से मुक्ति मिल जाती है।

10-1-5 xke LojkT; dk |krd

ग्रामदान पर जब हम राजनैतिक दृष्टि से विचार करते हैं तो यह ग्राम स्वराज्य की स्थापना करता हुआ प्रतीत होता है। ग्राम स्वराज्य के बुनियादी सिद्धान्त हैं – मानव जीवन एवं मानवता की सर्वोच्चता, सर्वकल्याणकारी पद्धति, समानता, स्वावलम्बन एवं सहयोग, सत्याग्रह एवं न्याय निष्ठा तथा नई तालीम। ग्रमदान से ग्राम स्वराज्य के उक्त सारे तत्त्व मौजूद है। इसलिये विनोबा ने भूदान, ग्रामदान जैसे कार्यक्रमों के द्वारा गाँधी परिकल्पित ग्रामस्वराज्य के सपनो को साकार करना चाहा था।

10-1-6 fodsfUnzr vFkZ;oLFkk ,oa oxZ fujkdj.k dk |krd

विनोबा का विचार था कि अगर देश की बेकारी की समस्या तथा संघर्ष से मुक्ति पाना चाहते हैं तो वस्तुओं के केन्द्रित उत्पादन का बहिष्कार और ग्रामोद्योग की स्थापना का आन्दोलन चलाना होगा। सम्पति का विकेन्द्रित उत्पादन ग्रामदान की व्यवस्था के द्वारा ग्रामोद्योग के माध्यम से आसानी से सम्पन्न होता है। उनके अनुसार सम्पति और वर्ग निराकरण के लिये यह देखना अपेक्षित है कि सम्पति और वर्ग का आधार क्या है? और वे इसका आधार स्वामित्व की भावना को मानते हैं। ग्रामदान में हृदय परिवर्तन के द्वारा भूमि, श्रम और सम्पति तीनों के दान से सभी प्रकार के स्वामित्व का त्याग कर दिया जाता है जिससे वर्ग निराकरण स्वतः हो जाता है।

ग्रामदान आन्दोलन के दौरान अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय, अक्षोभ चिन्तन, पंच शक्ति सहयोग, गुणदर्शन, गण सेवकत्व, विश्वास शक्ति आदि कई मूल्यवान विचार विनोबा ने समाज के सामने रखे। मानव जाति के विकास के लिए और सर्वोदयी समाज की रचना के लिये यह सब अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रायः 20 वर्ष तक निरन्तर विनोबा ने इस देशव्यापी आन्दोलन का संचालन किया। ग्रामदान के तूफानी अभियान में सूक्ष्म–जन मनोविज्ञान का प्रयोग सूझबूझ के साथ किया गया था। विनोबा को सर्वोदय के लिये लोकसम्मति प्राप्त करनी थी और ग्रामदान के कार्यक्रम की क्रांतिकारी संभावना प्रकट करनी थी। व्यूह रचना यह अपनाई गई थी कि एक बार बहुत बड़े पैमाने पर ग्रामदान के संकल्प करवा लिये जाएं और फिर एक साथ बडे पैमाने पर उसे असली रूप दिया जाये। विनोबा के मन में ग्रामस्वराज्य के अपने प्रयोग को पूर्णता तक पहुंचाने की कल्पना थी। लेकिन दुर्भाग्य से सर्वोदय आन्दोलन का यह चरण क्रियान्वित नहीं हो सका और विनोबा का प्रयोग अधूरा ही रह गया। विनोबा स्वयं कहते रहे कि यदि भूदान व ग्रामदान हेतु किया गया कार्य कागजी साबित हुआ तो भगवान ही आपको बचाये। लेकिन हुआ वही और प्रयोग अधूरा ही छूट गया जिसका बहुत बुरा असर कार्यकर्त्ता और जनता के मानस पर पड़ा। ऐसा लगा कि अब तक जो किया था सब व्यर्थ चला गया। इससे श्रद्धा और शक्ति क्षीण हुई। ऐसे वातावरण में विनोबा और सर्व सेवा संघ के नेताओं के बीच सामुहिक विचार विमर्श होकर सारी स्थिति का तलर्स्पशी मूल्याँकन करके, सर्वोदय आन्दोलन की व्यूह रचना नये सिरे से तैयार करनी चाहिये थी, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। इस दृष्टि से आन्दोलन का नेतृत्व और संगठन विफल सिद्ध हुआ।

11- vH;kl i`'u

fucU/kkRed i`'u

1. गांधी के प्रमुख आर्थिक विचारों की संक्षेप में व्याख्या करें।

y?kwÙkjkRed i`'u

1. कुमारप्पा के आर्थिक विचारों को स्पश्ट कीजिए।

2. अहिंसात्मक आर्थिक चिन्तन के सम्बन्ध में शुमाकर के विचारों की व्याख्या कीजिए।

vfr y?kwÙkjkRed i`'u

1. निम्न में से पूंजीवाद का गुण है–

(a) स्वार्थ (b) त्याग

(c) सहयोग (d) नैतिकता।

2. शरीर श्रम की प्रेरणा गांधी को किससे मिली?

(a) थोरो (b) रस्किन

(c) मिल (d) राजचन्द्र जैन।

3. समाज परिवर्तन का आर्थिक आधार है–

(a) शरीर श्रम (b) स्वदेशी

(c) ट्रस्टीशिप (d) उपरोक्त सभी।

4. वर्ग संघर्श के प्रणेता कौन थे?

(a) महात्मा गांधी (b) कार्ल मार्क्स

(c) डार्विन (d) हक्सले।

5. गांधी ने पूर्ण ट्रस्टीशिप की तुलना किससे की थी?

(a) त्रिभुज का कोण (b) युक्लिड का बिन्दु

(c) पिरामिड (d) वृत्त की परिधि।

6. गांधी ने प्रतिदिन का यज्ञ किसे माना?

(a) खादी (b) सफाई

(c) चरखा (d) श्रम।

7. मानव के व्यक्तित्व के ..... पहलू हैं।

8. नैतिकता के निर्धारण में ..... का अपना मूल्य है।

9. ..... की भावना उच्च चरित्र की निशानी है।

10. महात्मा गांधी ..... आदर्शवादी विचारक थे।